



B.D. College, Patna

ज्योति शिखा

2026

Peer reviewed journal





ज्योति शिखा 2026



संरक्षक

प्रो. रत्ना अमृत

प्रधानाचार्या, बी.डी. कॉलेज, पटना



संपादक

डॉ. अमित कुमार

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

विद्वत परिषद्



प्रो. गीतांजलि चावला

अंग्रेजी विभाग
महाराजा अग्रसेन कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय



प्रो. एम.पी. त्रिवेदी

पूर्व अध्यक्ष
वनस्पति विज्ञान विभाग (अ.प्रा.)
पटना विश्वविद्यालय



प्रो. सुनीता शर्मा

इतिहास विभाग (अ.प्रा.)
बी.डी.कॉलेज, पटना



प्रो. कलानाथ मिश्र

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
ए.एन.कॉलेज, पटना



प्रो. अविनाश कुमार झा

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना



डॉ. मनोज कुमार

सह-प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग
दयाल सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय



डॉ. अशोक शर्मा

अतिथि अध्येता
न्यू साउथ वेल्स विश्वविद्यालय
ऑस्ट्रेलियाई रक्षा बल अकादमी
कैनबरा, ऑस्ट्रेलिया



प्रो. प्रीति सागर

अधिष्ठाता
भाषा विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

संपादक मंडल



डॉ. दिव्या कुमार

सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग



डॉ. अपराजिता

सहायक प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग



डॉ. दिवाकर कुमार पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक
दर्शनशास्त्र विभाग



आलोक कुमार

सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग



डॉ. अनिल कुमार

सहायक प्राध्यापक
भौतिकी विभाग



डॉ. विजय शंकर विक्रम

सहायक प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग



आरिफ मोहम्मद खां
Arif Mohammed Khan



सत्यमेव जयते

बिहार लोक भवन
पटना-800022

BIHAR LOK BHAWAN
PATNA - 800022

राज्यपाल, बिहार
GOVERNOR OF BIHAR

27 फरवरी, 2026



संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बी.डी. कॉलेज, पटना के स्थापना दिवस के अवसर पर महाविद्यालय की शोध पत्रिका 'ज्योति शिखा' के प्रथम अंक का प्रकाशन होने जा रहा है।

पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक मंगलकामनाएँ।

(आरिफ मोहम्मद खां)



मुख्य मंत्री
बिहार



पटना
दिनांक : 26.02.2026



संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि बी.डी. कॉलेज, पटना के द्वारा दिनांक 10 मार्च 2026 को महाविद्यालय के स्थापना दिवस के अवसर पर महाविद्यालय की शोध पत्रिका ज्योति शिखा के प्रथम अंक का लोकार्पण किया जा रहा है।

भुवनेश्वरी दयाल कॉलेज, पटना उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपनी स्थापना वर्ष 1970 से ही विद्यार्थियों के प्रति समर्पित रहा है। महाविद्यालय की पत्रिका महाविद्यालय की सृजनशीलता, रचनाशीलता, भाषा प्रेम एवं विश्लेषणात्मक विचारों को प्रतिबिम्बित करती है। स्थापना दिवस का आयोजन एवं पत्रिका का प्रकाशन एक सराहनीय कदम है। मुझे विश्वास है कि महाविद्यालय के स्थापना दिवस के अवसर पर प्रकाशित शोध पत्रिका ज्योति शिखा का प्रथम अंक ज्ञानवर्द्धक एवं विद्यार्थियों के बौद्धिक चेतना के संवर्द्धन में पूर्ण रूप से सफल होगा।

बी.डी.कॉलेज, पटना के स्थापना दिवस के अवसर पर मैं महाविद्यालय परिवार एवं विद्यार्थियों के उज्ज्वल भविष्य की मंगलकामना करते हुए सम्पादक मंडल को पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु बधाई एवं उसकी उपयोगिता हेतु अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(नीतीश कुमार)



सुनील कुमार

मंत्री

शिक्षा विभाग
बिहार सरकार



बिहार सरकार

कार्यालय : कमरा सं० - 43,
विकास भवन, पटना-15
दूरभाष सं० : 0612-2204904 (का०)
फैक्स : 0612-2215836
आवास : 26/A, हार्डिंग रोड, पटना
0612-2215771 (आवास)

पत्रांक : 27/189

दिनांक : 25.02.2026



शुभकामना-संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता है कि बी.डी. कॉलेज, पटना द्वारा महाविद्यालय के स्थापना दिवस के अवसर पर शोध पत्रिका "ज्योति शिखा" का प्रथम अंक लोकार्पित किया जा रहा है। यह शोध पत्रिका महाविद्यालय के शिक्षकों एवं शोधकर्ताओं के अकादमिक परिश्रम, बौद्धिक दृष्टि तथा शोधात्मक योगदान का सशक्त और सार्थक प्रतिबिंब है।

इस प्रकार की शोध पत्रिकाएँ उच्च शिक्षा में ज्ञान-सृजन को प्रोत्साहित करने, अनुसंधान संस्कृति को सुदृढ़ करने तथा शैक्षणिक गुणवत्ता को निरंतर उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। मुझे विश्वास है कि "ज्योति शिखा" शिक्षा एवं शोध के क्षेत्र के सार्थक विमर्श को आगे बढ़ाएगी और शिक्षकों एवं शोधार्थियों के लिए प्रेरणा का स्थायी स्रोत सिद्ध होगी।

मैं इस सराहनीय शैक्षणिक पहल के लिए महाविद्यालय की प्राचार्या, संपादक मंडल तथा समस्त शैक्षणिक समुदाय को हार्दिक बधाई देता हूँ और शोध पत्रिका के उज्ज्वल एवं सफल भविष्य की कामना करता हूँ।

(सुनील कुमार)



प्रत्यय अमृत, भा.प्र.से

मुख्य सचिव

PRATYAYA AMRIT, I.A.S

Chief Secretary



बिहार सरकार

बिहार सरकार

मुख्य सचिवालय, पटना-800 015

Government of Bihar

Main Secretariat, Patna - 800 015

Tel : 0612-2215804, 2217085

E-mail : cs-bihar@nic.in

दिनांक : 28.02.2026



संदेश

यह अपार हर्ष का विषय है कि बी.डी. कॉलेज के द्वारा दिनांक 10 मार्च 2026 को स्थापना दिवस के अवसर पर महाविद्यालय के द्वारा शोध पत्रिका 'ज्योति शिखा' के अंक का प्रकाशन किया जा रहा है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बी.डी. कॉलेज, पटना का योगदान हमेशा सराहनीय रहा है। अब इस महाविद्यालय के द्वारा शोध पत्रिका 'ज्योति शिखा' प्रकाशित किये जाने से छात्रों के क्षमतावर्द्धन के साथ-साथ नये-नये क्षेत्रों में कार्य करने की रुचि उत्पन्न होगी।

स्थापना दिवस के अवसर पर मैं पूरे महाविद्यालय परिवार को शुभकामना देता हूँ एवं इस अवसर पर शोध पत्रिका 'ज्योति शिखा' के प्रकाशन की सराहना करता हूँ।

(प्रत्यय अमृत)



PATLIPUTRA UNIVERSITY

PATNA-800 020

Prof. Upendra Pd. Singh
Vice-Chancellor



Website : www.ppup.ac.in
E-mail : vc@ppu.ac.in
Mob. : +91 9431094707



शुभकामना संदेश

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय पटना के लिए यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि अंगीभूत महाविद्यालय, बी.डी.कॉलेज, पटना के स्थापना दिवस के शुभ अवसर पर शोध पत्रिका "ज्योति शिखा" के प्रथम अंक का लोकार्पण किया जा रहा है।

मैं इस विशेष अवसर पर प्रकाशित हो रही शोध पत्रिका "ज्योति शिखा" के सफल प्रकाशन हेतु प्राचार्या, प्राध्यापकों, शिक्षकेत्तर कर्मचारियों एवं समस्त छात्र-छात्राओं को हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ एवं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

(उपेन्द्र प्रसाद सिंह)
कुलपति



Prof. S.P. Shahi
Vice-Chancellor
Mob : + 91 9431012332



MAGADH UNIVERSITY
NH 83, Bodhgaya - 824234 (Bihar) India
Tel : + 91 0631 2222714/2220387 (R)
Fax : + 91 0631 2221717 (R) 2200572 (O)
Ph : + 91 0631 2200495 (O)
Website : www.magadhuniversity.ac.in

Ref. No. :

Date : 25/02/2026



शुभकामना संदेश

अत्यंत हर्ष का विषय है कि बी.डी. कॉलेज, पटना की ओर से "ज्योति शिखा" नामक शोध पत्रिका का प्रथम अंक 10 मार्च 2026 को महाविद्यालय के स्थापना दिवस के शुभ अवसर पर प्रकाशित होने जा रहा है। यह पत्रिका हमारे शिक्षकों के शोध पत्रों, विद्वता और शैक्षणिक योगदान का एक उत्कृष्ट माध्यम बनेगी, जो न केवल महाविद्यालय की शैक्षणिक गरिमा को बढ़ाएगी, बल्कि बिहार राज्य की उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान की परंपरा को भी नई दिशा प्रदान करेगी।

मैं आशा करता हूँ कि यह पत्रिका नियमित रूप प्रकाशित होती रहेगी और शीघ्र ही एक प्रतिष्ठित, स्थायी एवं उच्च गुणवत्ता वाली शोध पत्रिका के रूप में स्थापित हो जाएगी। बी.डी. कॉलेज परिवार को इस शुभारंभ के लिए हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ।

प्रो. एस.पी.शाही
कुलपति
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया



PATLIPUTRA UNIVERSITY

PATNA-800 020

E-mail : patliputrauniversity2018@gmail.com
registrar@ppup.ac.in

Ref. No. :

Date :



शुभकामना संदेश

“ज्योति शिखा” शोध पत्रिका के प्रथम अंक के लोकार्पण पर हार्दिक शुभकामनाएँ। ज्ञान और शोध ही वह आधार है जिन पर समाज की प्रगति और राष्ट्र का भविष्य निर्मित होता है।

ज्योति शिखा शोध पत्रिका का प्रथम अंक प्रकाशित होना हमारे शैक्षणिक परिवार के लिए अत्यंत गौरव का विषय है। यह पत्रिका न केवल शोधार्थियों और विद्वानों को अपने विचारों और निष्कर्षों को अभिव्यक्त करने का मंच प्रदान करेगी, बल्कि यह उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण और गहन चिंतन को भी प्रोत्साहित करेगी।

मुझे विश्वास है कि “ज्योति शिखा” शोध की इस यात्रा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करते हुए विद्यार्थियों, अध्यापकों और शोधकर्ताओं को प्रेरित करती रहेगी।

ईश्वर से प्रार्थना है कि यह पत्रिका निरंतर उन्नति करे और शैक्षणिक जगत में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित करे।

इस महत्वपूर्ण प्रयास के लिए मैं महाविद्यालय की प्रधानाचार्या प्रो रत्ना अमृत, सभी शिक्षकों, सम्पादकीय मंडल और सभी योगदानकर्ताओं को हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ।

(प्रो. अबू बकर)

कुलसचिव



प्रधानाचार्या की कलम से

शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का साधन नहीं, बल्कि समाज को दिशा देने वाली शक्ति है।

बी. डी. कॉलेज, पटना ने सदैव इस आदर्श को अपनाया है और 'ज्योति शिखा' पत्रिका का प्रथम अंक इसी परंपरा का सजीव प्रमाण है। यह पत्रिका हमारे संकाय की बौद्धिक साधना और शिक्षकों की सृजनात्मक ऊर्जा का संगम है। इसमें प्रस्तुत शोध-पत्र विविध विषयों पर नई दृष्टि प्रदान करते हैं और शिक्षा को समाज से जोड़ने का कार्य करते हैं।

मुझे विश्वास है कि ज्योति शिखा आने वाले वर्षों में शिक्षा और शोध के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान देगी। यह पत्रिका संकाय के लिए प्रेरणा बनेगी और ज्ञान की ज्योति को समाज तक पहुँचाने का संकल्प निभाएगी।

यह प्रयास न केवल हमारे महाविद्यालय की शैक्षणिक परंपरा को सुदृढ़ करता है, बल्कि समाज में विचार और संस्कृति की नई धारा प्रवाहित करता है। शोध और लेखन की यह साधना हमारे शिक्षकों की प्रतिबद्धता और समर्पण का प्रमाण है। पत्रिका का प्रत्येक आलेख ज्ञान-विस्तार के साथ-साथ चिंतन और विमर्श की नई संभावनाएँ खोलता है। इसी से शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य-समाज को आलोकित करना साकार होता है।

'दीपक की लौ से दीपक जले, और आलोक दूर तक फैले'
इसी भावना के साथ मैं इस पत्रिका के प्रथम अंक का स्वागत करती हूँ।

10 मार्च 2026 को महाविद्यालय के स्थापना दिवस की पावन बेला में ज्योति शिखा का प्रस्तावित लोकार्पण हमारे लिए अत्यंत हर्ष और गौरव का विषय है। यह अवसर न केवल हमारे महाविद्यालय की उज्ज्वल परंपरा का स्मरण कराता है, बल्कि भविष्य की ओर बढ़ते हमारे संकल्प को भी आलोकित करता है। इस पत्रिका का प्रथम अंक ज्ञान, शोध और संस्कृति की उस

ज्योति का प्रतीक है, जो समाज में नई चेतना और प्रेरणा का संचार करेगी।

11 अगस्त 2025 को महाविद्यालय की प्रधानाचार्या के रूप में प्रभार संभालते ही मैंने यह संकल्प लिया कि 1970 में स्थापित और पटना शहर के हृदय में स्थित इस महाविद्यालय को शिक्षा, शोध और संस्कृति के क्षेत्र में पटना के श्रेष्ठ महाविद्यालयों में स्थान दिलाना है।

'ज्योति शिखा' का यह प्रथम अंक उसी दिशा में एक सार्थक कदम है। संकाय, छात्र और सांस्कृतिक-शैक्षणिक गतिविधियों से जुड़े सभी सहयोगियों का सामूहिक प्रयास इस महाविद्यालय को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाने का संकल्प दृढ़ करता है।

महाविद्यालय ने हाल ही में कई महत्वपूर्ण पहलें आरंभ की हैं : वर्मी कम्पोस्ट यूनिट की स्थापना, इको क्लब का गठन, ई-वेस्ट और प्लास्टिक वेस्ट के निपटान हेतु भारत सरकार के उपक्रम MSTC के साथ MoU, तथा आगामी सत्र से कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का पाठ्यक्रम प्रारंभ करने का संकल्प।

इसके साथ ही, भुवनेश्वरी दयाल स्मृति व्याख्यान भी प्रासंगिक विषयों पर आयोजित किए गए हैं, जो हमारे संस्थान की बौद्धिक परंपरा और समाजोपयोगी विमर्श को और सुदृढ़ करते हैं।

ये सभी उपलब्धियाँ हमारे महाविद्यालय को न केवल शैक्षणिक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करती हैं, बल्कि समाज में पर्यावरणीय चेतना, तकनीकी नवाचार और सांस्कृतिक समृद्धि की नई धारा प्रवाहित करती हैं।

'ज्योति शिखा' के माध्यम से हम ज्ञान, शोध और संस्कृति की इस ज्योति को दूर-दूर तक फैलाने का संकल्प लेते हैं।

प्रो. रत्ना अमृत

प्रधानाचार्या

बी. डी. कॉलेज, पटना



संपादकीय

ज्ञान की ज्योति ही वह अमर दीप है, जो युगों से मानवता को मार्गदर्शन देती आई है। शिक्षा संस्थान इस दीप के संरक्षक होते हैं, जो समाज के अंधकार को दूर कर उसे आलोकित करते हैं। बी. डी. कॉलेज, पटना ने अपनी शैक्षिक यात्रा में सदैव इस आदर्श को अपनाया है। आज जब हमारे संकाय की सामूहिक बौद्धिक साधना का परिणाम 'ज्योति शिखा' नामक शोध-पत्रिका के प्रथम अंक के रूप में हमारे सामने है, तो यह केवल एक प्रकाशन नहीं, बल्कि हमारी शैक्षणिक और सांस्कृतिक चेतना का उत्सव है। यह अंक उस दीपशिखा की भाँति है, जो ज्ञान की लौ को प्रज्वलित कर समाज को आलोकित करने का संकल्प लिए हुए है।

'ज्योति शिखा' नाम अपने आप में अत्यंत प्रतीकात्मक है। ज्योति का अर्थ है प्रकाश, जो अज्ञान के अंधकार को दूर करता है, और शिखा का अर्थ है वह लौ, जो निरंतर जलती रहती है और दूसरों को आलोकित करती है। यह पत्रिका हमारे संकाय और विद्यार्थियों की बौद्धिक साधना की शिखा है, जो समाज को आलोकित करने का संकल्प लिए हुए है। यह नाम हमें यह भी स्मरण कराता है कि शिक्षा और शोध का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत उन्नति नहीं है, बल्कि सामूहिक चेतना को जागृत करना और समाज को नई दिशा देना है।

भारतीय परंपरा में ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। उपनिषदों में कहा गया है : "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् विद्या ही मुक्ति का साधन है। इसी भाव को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक शिक्षा संस्थान समाज को नई दिशा देने का कार्य करते हैं। बी. डी. कॉलेज, पटना ने इस परंपरा को जीवित रखा है और अपने विद्यार्थियों को केवल परीक्षा की तैयारी तक सीमित नहीं किया, बल्कि उन्हें समाज और साहित्य के गहरे प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया।

इस पत्रिका का पहला अंक हमारी दिशा और दृष्टि को स्पष्ट करता है। इसमें संकाय सदस्यों के शोध-पत्र विविध विषयों पर प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक शोध-पत्र अपने आप में एक नई दृष्टि प्रस्तुत करता है। यह विविधता ही पत्रिका की शक्ति है। महात्मा गांधी ने कहा था : "शिक्षा का अर्थ केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण और समाज सेवा है।" इसी दृष्टि से यह पत्रिका समाज और शिक्षा के बीच सेतु का कार्य करेगी।

यह पत्रिका विद्यार्थियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत है। वे देखेंगे कि उनके शिक्षक केवल अध्यापन नहीं करते, बल्कि शोध और लेखन में भी सक्रिय हैं। इससे उनमें भी अकादमिक लेखन की रुचि जागृत होगी और आने वाले अंकों में विद्यार्थियों को भी अपने लेख प्रस्तुत करने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार यह पत्रिका न केवल संकाय की बौद्धिक साधना का परिणाम है, बल्कि विद्यार्थियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत है।

बी. डी. कॉलेज की उपलब्धियाँ भी इस पत्रिका की भूमिका को सशक्त बनाती हैं। यह संस्थान वर्षों से स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पहचान बना चुका है। यहाँ के संकाय ने अनेक शोध-पत्र राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित किए हैं। विद्यार्थियों ने भी विभिन्न प्रतियोगिताओं और संगोष्ठियों में भाग लेकर संस्थान का गौरव बढ़ाया है। कॉलेज ने साहित्यिक गोष्ठियों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और शैक्षिक संगोष्ठियों का आयोजन कर स्थानीय समाज को भी बौद्धिक रूप से समृद्ध किया है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था : "शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार नहीं, बल्कि जीवन को पूर्णता देना है।" इसी भाव को ध्यान में रखते हुए यह पत्रिका शिक्षा और जीवन के बीच सेतु का कार्य करेगी। ज्योति शिखा का प्रथम अंक हमारे संकाय की सामूहिक बौद्धिक साधना का परिणाम है। यह पत्रिका ज्ञान की ज्योति को समाज तक पहुँचाने का संकल्प है। हमें विश्वास है कि यह पत्रिका आने वाले वर्षों में शिक्षा और शोध के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान देगी।

इस अवसर पर हम विशेष रूप से अपनी प्राचार्या प्रो. रत्ना अमृत के दूरदर्शी नेतृत्व और सतत प्रेरणा को नमन करते हैं। उनके मार्गदर्शन ने ही इस पत्रिका को आकार दिया और संकाय की सामूहिक साधना को एक सशक्त मंच प्रदान किया। उनके नेतृत्व में बी. डी. कॉलेज ने न केवल शैक्षणिक उपलब्धियों को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, बल्कि संस्थान की सांस्कृतिक और बौद्धिक चेतना को भी समृद्ध किया है।

डॉ. अमित कुमार
संपादक



अनुक्रमिका

1.	Idea of Resistance In Writing of History of Modern India	: Prof. Ratna Amrit	01
2.	Socio-political Significance of The Matrimonial Relations of The Guptas	: Prof. S.N. Arya (Retd.)	08
3.	The Ideas of Gandhi and Nehru on Gender Equality During the Freedom Struggle and The Early Post Colonial Period	: Prof. Sunita Sharma (Retd.)	13
4.	A Critical Reappraisal of Feminine Status in Vedic Texts	: Dr. Nabyendu Roy Choudhury	27
5.	Bird Migration In Bihar and The Eastern Indo-gangetic Plains Patterns, Drivers And Conservation Perspectives	: Gitanjali	34
6.	Digital Governance And Constitutional Accountability In India	: Dr. Aparajita	39
7.	Detailed Adsorption Study of Zn (ii), Pb (ii), Cd (ii) Cu (ii)and Cr (iii) Ions From Aqueous Solutions By Calcium Silicate Precipitation Tube (caspt)	: Dr. Kavita Parmar	46
8.	Redefining Performance Reviews In The Telecom Sector Using Multimodal Ai A Conceptual Framework	: Priya Nath	61
9.	Folk Consciousness In The Dhammapada In The Light of The Classical Pāli Tradition	: Dr. Rahul Amritraj	69
10.	Social Exclusion : A Multi-dimensional Concept	: Dr. Sarita Kumari	74
11.	Analyticity, Necessity & Natural Kinds Revisiting The Kant-kripke Debate	: Dr. Sikander Jamil	77
12.	Hormonal Regulation of Litchi Fruit Development Roles, Interactions & Molecular Perspectives	: Dr. Garima Pathak	83
13.	From Surface Modification To Performance Hydrophobic Jute Fabrics & Their Applications	: Dr. Anil Kumar & Dr. Sujan Dutta	107



14. Assessing The Pivotal Role of History In Inter-civilizational Dialogue And Universal Responsible Citizenship	: Dr. Divya Kumar	116
15. Secularism Nehru And Patel	: Alok Kumar	123
16. भारतीय दर्शन में विकास की अवधारणा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	: डॉ० दिवाकर कुमार पाण्डेय	129
17. नवपाषाणिक पुरास्थल चिरांद : संरक्षण एवं विकास की संभावनाएं	: नीतू तिवारी	133
18. प्राचीन पालि वाङ्मय में प्रजातांत्रिक परंपराएँ : एक अवलोकन	: डॉ० हनुमदीश्वर कुमार सिंह	140
19. लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	: डॉ राजीव कुमार	145
20. भारत के स्वाधीनता आंदोलन में हिन्दी संस्मरण की भूमिका	: आरती वत्स	152
21. उत्तर-आधुनिक समाज की छवियाँ : दीवार में एक खिड़की रहती थी का समाजशास्त्रीय अध्ययन	: डॉ. अमित कुमार	156
22. बिहार में बहुआयामी गरीबी ऐतिहासिक अभाव से संरचनात्मक रूपांतरण तक का सफर : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	: डॉ. अशोक कुमार साव	170
23. पर्यावरण संरक्षण में फणीश्वरनाथ रेणु के साहित्य की भूमिका एवं वर्तमान प्रासंगिकता	: डॉ मनीषा प्रियम्बदा	180
24. “निर्गुण काव्यधारा के सिरमौर कवि कबीरदास और रविदास की विचारों की प्रासंगिकता”	: डॉ रवि कुमार	184
25. स्वामी सहजानन्द सरस्वती के संदर्भ में किसान और बिहार की राजनीति (1903-47)	: डॉ बिनोद कुमार	187
26. बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था में आचार्य-शिष्य संबंध	: डॉ बिरेन्द्र मंडल	191
27. जनजातीय विद्रोहों के इतिहास के हाशिये पर महिलाएँ : एक दृष्टि	: डॉ मनीता कुमारी यादव	195
28. एक राष्ट्र एक चुनाव : वर्तमान समय में आवश्यकता एवं चुनौतियाँ	: डॉ विजय शंकर विक्रम	199
29. मैत्रेयी पुष्पा और कही ईसुरीफाग एक अध्ययन	: डॉ मीना कुमारी बरियार (अ.प्रा)	206





IDEA OF RESISTANCE IN WRITING OF HISTORY OF MODERN INDIA

Introducing the Idea

While exclusion is relatively a new term for the historians, resistance is of slightly older origin. In the political history of modern India it has been used variously in earlier history writing. Generally the term is employed for contestation or struggles of tenacious nature against political domination of one group by the other. Tarachand had used the term resistance with insurrections in the context of numerous civil rebellions against the British during the early period of their rule¹. To borrow a phrase from Hobsbawm these were 'pre-political struggles. More recently Hardiman gave the title 'Peasant Resistance in India' to the book on peasant struggles he edited in 1992.² The book is part of a new historiographic trend that arose from mid sixties and graduated in the eighties. Peasant was a legitimate and interesting subject of study for the historians for the first time.

Resistance is one of the many terms that are employed to label a struggle against authority or domination. There are several kindred words used with similar meaning, but with different nuances. Revolt or rebellion is a fight against authority or the government, and is likely to be a more overt act. Insurrection is used ordinarily when an element of violence is noticeable, whereas insurgency has a similar meaning with possibly a broader denotation. Revolution of course is a qualitatively different term referring to a far-reaching change, change in the ruling class or sometimes merely an overthrow of government. Starting from Aristotle coming down to Marx and more recent social scientists and political philosophers, the term has been examined in great detail, and it has been used in a variety of contexts, even beyond politics. If one has exhaustively read about the French or Russian revolution, one would not have missed the study of Industrial or Technical revolution either. In each case it points to a fundamental change, a change of large magnitude. As Raymond Williams has reported till late 17th century the word rebellion was preferable to revolution for a greater event, but French revolution changed the use of the term. Williams writes, "Rebellion is still ordinarily used by a dominant power and its friends, until (or even after) it has to admit that what has been taking place with its own independent cause and loyalties is a revolution, though also with an added sense of scale: 'Sire...it is not a revolt, it is a revolution' (Carlyle, French Revolution, V vii; 1837)".³

Gramsci has used another variant of revolution that he described as 'passive revolution', apparently in the sense of war of position' as against war of movement'. According to Gramsci



Prof. Ratna Amrit
Principal
B.D.College
Patliputra University, Patna



no revolution can succeed until time is ripe for it, and hence strategically, in the phase of war of position ideological efforts could be made for altering the balance of forces, presumably relying on ideological inputs and other kind of preparations. He has referred to Gandhi and Tolstoy also in this context, who are credited with the concept of 'passive resistance'. It is pertinent to note, however, that even as Gandhi took a leaf out of the philosophy of passive resistance put forward by Tolstoy, he seems to extend the idea further in his concept of '*satyagraha*'. He was at pains to explain that *satyagraha* was an active concept, rather than passive, and his stress on the moral aspect was unmistakable and essential. Literally too it means 'adherence to truth'. *Satyagraha* was deployed in the Indian freedom struggle in a big way, and sometimes on a mass scale, in various forms, with varying degree of success. It was both an ideological weapon of movement and a strategic decision. Gandhi's claim of *satyagraha* being an active and effective mode of resistance is hard to dispute, given its nature and many successes in the struggle.

Movement is yet another term which is commonly used for a protracted struggle. Often the struggle for Indian independence is referred to freedom movement. The word has also been used for left movement or lower class or backward class movement. Movement is not a one shot affair and can have ups and down, and thus an ideological underpinning of some kind is a necessary ingredient for a movement. M.S.A. Rao defined a social movement 'as an organized attempt on the part of a section of society to bring about either partial or complete social change in society through collective mobilization based on ideology'. Resistance is a common substratum of opposition to a form of authority or domination in all the forms of struggle, rebellion or movement. In a book on labour conditions and the disabilities of dalits, edited by Peter Robb⁴, two main definitions are given to the term 'movement', which is instructive. These meanings are migration and protest, which can be seen in many instances as the response to exploitative conditions of work. Many articles in the book however places premium on the cultural factors in explaining the conditions of labour of various categories and many situations between late 18th century to mid twentieth century India.

Protest is one more term which becomes relevant when one delves into history of social movements. It means a statement or an action expressing disapproval or objection. Social or religious movement, especially lower caste movement, in most cases are in the mode of protest. Drawing attention to the traditions of protest in four civilizations that arose in the Eurasian landmass, Kenneth Jones identifies some patterns in the context of 'Hindu-Buddhist civilization' of India.⁵ He observes that repeatedly socio-religious movements have arisen in India over the ages which called for the creation of an egalitarian society, rejected rituals and priests and also attempted to redefine the role of women advocating greater freedom and equality. Protest movements are also ipso facto resistance movements, sometimes for the creation of a more inclusive society.

If inclusion is generally a decision from above, resistance is a response from below. Inclusion may possibly deny an agency to the excluded or oppressed groups, resistance is built



up by such groups autonomously despite the odds loaded against them. Resistance seems to be more refined and subtle concept compared to rebellion or revolution, and the realm of ideas and practices come into sharper focus when we are using the terminology of resistance. Of course resistance is a term with a broad range starting from a retreat and withdrawal going up to a full-fledged revolt against the privileged 'exclusive' groups. In a traditional society if it may be expressed in folklores, in a democratic polity it may be spearheaded by a political party and ideology. Suffice it to say that it can take a variety of forms, which needs to be examined at some length.

IDEOLOGY AND EXCLUSION

Most situations of exclusion are derived from some ideology, social or otherwise, explicit or implicit. Ideology could be a camouflage for protecting the privileges of a few, against the claims of many. Notion of pollution and purity is such an ideology prevalent for ages in the Hindu society. This concept may be extended to the minorities as perceived by members of Hindu society- *mlechchas* is a generic description for such groups. Patriarchy is again a kind of ideology, which debar women in a number of ways.

Ever since Napoleon used the term ideology in a pejorative sense to attack the principles of Enlightenment, a negative connotation has remained more popular than a neutral meaning. Marx and Engels generally used it as 'illusion, false consciousness, unreality, upside-down reality', though at places they have also given it a neutral meaning.⁶ Either way it is a mental construct that helps form community identity and sometimes even motivates collective action.

Gramsci has postulated the concept of hegemony based on ideological control, along with other means of control through force, that is domination, to ensure subjugation of groups or even nations.⁷ Political determinates of ideology, consequential perception of exclusion and politics of identity have become a widespread phenomenon in recent times. A resistance movement can sustain only when it is based on an ideology.

RESISTANCE WITHIN RESISTANCE

Ashis Nandy⁸ brings out in a sophisticated psychological analysis of Indian nationalism (which he has described as a psychological biography of the modern nation-state in India), the strand of resistance and dissent that emerged within the nationalists, represented by two stalwarts, Gandhi and Tagore. Both doubted the typical western version of nationalism. Nandy thinks that 'for Tagore, nationalism itself became gradually illegitimate; for Gandhi, nationalism began to include a critique of nationalism'. For both, over time, the Indian freedom movement ceased to be an expression of only national consolidation; it became a symbol of the universal struggle for political justice and cultural dignity. As for their respective styles of negotiating the contradiction between tradition and modernity, to Tagore, the oppositions could best be handled within the format of India's 'high' culture, within her classical Sanskrit tradition, leavened on the one hand by elements of European classicism, including aspects of European renaissance, and on the other by India's own diverse folk or little traditions. In his world



modernity had a place. To Gandhi, on the other hand, resolution of contradictions was possible primarily within the little traditions of India and the west, with occasional inputs from Indian and western classicism, but entirely outside modernity. In either of the two great thinkers there were layers of resistance to different types of hegemonic ideologies from colonial or imperialist to nationalist to modernist. In their lives both resisted the dominant ideas in their own ways and spheres of activities. Tagore's resistance was primarily cultural, while Gandhi's agenda was rather comprehensive both in terms of ideology and work. If freedom struggle was a large resistance movement theirs was resistance within resistance. In deed in the history of freedom struggle there were many stories of resistance within resistance of important groups like peasants, tribals, dalits and many more. If Gandhi reformulated the theory of passive resistance in terms of satyagraha, he extended the discourse of resistance in different groups and at different levels deriving largely from the indigenous traditions.

A CURSORY LOOK AT SOME HISTORIES OF RESISTANCE IN MODERN INDIA

There was a paradigm shift in history writing in India commencing from the late sixties which explored new areas and defined new approaches. The explorations continue and ever new subjects are receiving the attention of historians particularly in the history writing of modern India. Sumit Sarkar⁹ has distinguished the new corpus of literature for their new approaches as against the older approaches of imperialist, nationalist and Marxist histories. Even the older schools, say for example the Marxist or the imperialist appear in altogether new avatars. Many types of histories started being written but two of them, namely, Cambridge and Subaltern schools, have been most influential and talked about. At least among the historians of subaltern school resistance has remained an abiding theme, while Cambridge scholars cannot be said to have overlooked it. History of resistance, though yet to be emerge as a well-defined theme in history-writing, is so far best articulated in the subaltern studies. If one thinks in terms of ideological approaches, then Marxism as well as post-modernism in its many hues, have taken up the subject in earnest. While reviewing the existing literature one cannot help being impressed by the subtlety, theoretical rigour and sophistication of analysis. In its search for historical materials many researchers have displayed remarkable innovativeness, while analytical frames are sometimes brilliantly creative and bold going beyond the generally restrained styles of historians of yesteryears.

Resistance seems to be a more pervasive phenomenon than many other kindred terms being used in histories, and the meanings ascribed to the term are also varied. It is used as noted before for purely political struggles against authority at one end to subtle psychological protest in small domains. It could be articulate and tempestuous (refer to Guha's peasant insurgencies) or silent and sustained (think of women's assertion of autonomy within the cultural traditions and practices like festivals or folklores). Yet one thing is obvious - the term is used more often for the 'actions' of excluded or discriminated or subordinated groups. Across the groups like peasants or tribals or women or minorities resistance can take different forms and characters; indeed even within a single such category forms of resistance are varied. Among the interesting



variants occasionally examined by historians and anthropologists one can cite issues like migration or conversion. If migration, again with different motives and sometimes as a form of protest, is fairly common among agricultural labour, conversions have been a practice often reported for the lower caste people at the fringe of Hindu society.

If the ideas of community, culture and consciousness are important while we think of resistance, an unease with a sense of injustice or deprivation or a desire of change are the other common ingredients that bring about the situation of resistance, which can be dramatic as well as 'everyday' happenings (Gyan Prakash analyses the 'everydayness' of resistance and domination in the lives of Bhuinya labourers¹⁰). There is considerable literature now available on the idea of 'community', in many contexts indeed. If Anderson¹¹ makes use of the term to define the larger entity of 'nation', for Guha¹² it is the key concept in peasant insurgency. If Sudipto Kaviraj¹³ provides an analysis of term in certain ways, again Partha Chatterjee¹⁴ has amply used the concept in his formulations. In the histories of resistance being written today we have peasants, women, lower castes, tribals, workers etc as the protagonists or subjects of historical enquiries. That is why there would be more and several histories of such groups, making it difficult to present a simple and systematic portrayal. However at least for one category, serious and impressive attempts have been made at classification and systematization, which is briefly outlined below. The category is peasantry.

PEASANT RESISTANCE

Gough¹⁵ has classified peasant resistance of modern India into five categories, namely, i. restorative rebellions to drive out the British and restore earlier rulers and social relations; ii. religious movements for the liberation of a region or an ethnic group so as to establish a new form of government; iii. social banditry; iv. terrorist vengeance, with ideas of meting out collective justice, and v. mass insurrections for the redress of particular grievances. Guha approached the subject of peasant resistance in a sophisticated manner identifying certain underlying structures, and further arguing that peasant consciousness was revealed more clearly in revolt. He examines peasant consciousness assuming the domination and exploitation in their lives and work in a relation of power. If domination is one aspect of this relation of power, its opposed aspect must be resistance, a search for autonomous domains. The dialectical opposition of the two gives this relation its unity. This opposition also creates the possibility for a movement within that relation, and thus makes it possible for there to be a history of relation of dominance and subordination. Guha has identified six 'elementary aspects of insurgent peasant consciousness: negation, ambiguity, modality, solidarity, transmission and territoriality. Peasant consciousness was a negative consciousness in the sense its identity was expressed solely through an opposition, difference or antagonism to the dominator. An ambiguity was introduced as relation of domination was inverted in the moment of insurgency and it was likely to be misread by dominators as crime. While modalities may vary destruction of signs of authority is a common expression, for example, wrecking, burning, eating and looting, four forms noticed by Guha in colonial India. The self-definition of the insurgent peasant, his



awareness of belonging to a collectivity separating them from enemies, lay in aspect of solidarity, often but not always or precisely defined in terms of ethnicity, or kinship or some such affinal category. Within the solidarity thus defined the message of insurgency was transmitted with an ease and rapidity which the ruling class found bewildering, through many channels, rumour being one of these. Finally, the solidarity of an insurgent peasantry also occupied a specific geographical space.

An element of peasant resistance which was highlighted by Partha Chatterjee or Guha was community consciousness, which is different from class consciousness, and yet not entirely defined in terms of actual social groups like cast, or religion, or village.

Hardiman¹⁶ distinguished different types of peasant resistance during the 1858-1917 period by demarcating particular areas of resistance as follows: i. peasants against European planters (e.g. Blue mutiny or Indigo cultivators strike); ii. peasants against indigenous landlords (e.g., Pabna disturbances); iii. peasants against professional moneylenders (sahukars) (e.g.. Deccan uprising) iv. peasants against land-tax bureaucracy (in the form of mass migration or some form of agitation during this period at many places); and v. peasant against forest officials (related to forest laws and policies). All of these represent a broad pattern of community resistance, varying according to forms of oppression and time.

OTHER SOCIAL MOVEMENTS INCLUDING WOMEN'S EMANCIPATORY AGENDA

In the histories of women's resistance movement and lower castes protests need to be outlined separately for getting a better look of the history of resistance. The literature is already voluminous waiting for systematic analysis to be placed in a coherent frame. Time for such an attempt seems to have arrived.

CONCLUSION:

The idea of resistance in history in modern India is a complex and multifaceted narrative that means together various threads of struggle, resilience and defiance. By recognizing the diverse form of resistance, we gain a richer understanding of India's struggle for independence and its ongoing journey towards equality and empowerment.

References:

1. Tarachand, History of Freedom Movement in India, Publications Division, New Delhi 1967
2. Hardiman, David Peasant Resistance in India 1858-1914, Oxford University Press, Delhi 1992
3. Williams, Raymond Keywords, A vocabulary of culture and society, Fontana Press, 1988
4. Robb, Peter (ed) Dalit Movement and the Meaning of Labour in India Oxford University Press, Delhi 1993
5. Jones, Kenneth Socio-religious Reform Movements in British India, Cambridge University Press, in association with Orient Longman Ltd, Hyderabad, 1989
- 6 Williams, Raymond, ibid



- 7 Gramsci, Antonio Selections from the Prison Notebooks, International Publishers, New York 1971
8. Nandy, Ashis The Illegitimacy of Nationalism, Oxford University Press, New Delhi 1995
9. Sarkar, Sumit Modern India 1885-1947, Delhi 1983
10. Prakash, Gyan 'Becoming a Bhuinya: Oral Traditions and Contested Domains' in Contesting Power: Resistance and Everyday Social Relations in South Asia, ed, Douglas Haynes and Gyan Prakash, Delhi 1992
11. Anderson, Benedict Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism, London: Verso, 1983
12. Guha, Ranjit Elementary aspects of Peasant Insurgency, Oxford University Press New Delhi, 1983
13. Kaviraj, Sudipto The Imaginary Institutions of India in Partha Chatterjee and Gyan Pandey (eds) Subaltern Studies VII, Oxford University Press, Delhi 1992
14. Chatterjee, Partha, Nation and its Fragments Princeton University Press 1993
15. Gough, Kathleen India Peasant Uprising, Economic and Political Weekly, Special Number, August 1974
16. Hardiman, David (ed) Peasant Resistance in India 1858-1914, Oxford University Press, New Delhi 1992





Socio-Political Significance of the Matrimonial Relations of the Guptas



Prof. S.N. Arya (Retd.)
Former Head
Department of History
& Dean, Social Sciences
Patliputra University, Patna

The matrimonial relation appears to be the important hub of the imperialistic and foreign policies of the Guptas. The amalgamation of the dynasties of the Guptas and the exrays early in the fourth century led to the foundation of the imperial power of the former. The first ruler of the Gupta dynasty known to History as Srigupta (AD 275-300) and his son as well as successor Ghatotkaca (300-319) are described in available sources as Maharajas only. Noticeably, such titles were often borne by feudatory chiefs. It is proclaimed that the early Guptas were subordinate rulers under the Murundas. But Candragupta 1, grandson of Srigupta assumed the grandiloquent title of Maharajadhiraj and earned the credit to have founded the royal Gupta Empire. He was the first monarch who raised the power and prestige of the dynasty.

Candragupta 1's wedding with the Licchavi princess Kumaradevi in 308 AD who was evidently heiress to the Licchavi state was much historically significant from certain points of views. The Licchavis of Vaishali were among the most celebrated Kshatriya tribes. The legendary genealogy of the Licchavis of Nepal shows that they were born of the solar line of Ikshwaku, which was in order eighth generation after Dasharath and a pure one. The Licchavis continued to exist as a powerful independent state on the north of the Ganga. Raj Bali Pandey suggests that the Licchavis, though a republican tribe, had developed some monarchical tendencies and hereditary leadership. Kumaradevi's father had no male successor and the Licchavis too were unable to provide independent leadership because they were jealous and critical of one another. Thus, under the pressure and stress of imperial rivalry, the Licchavis voluntarily accepted their merger with the Guptas. This matrimonial alliance was established as one treaty of peace between the Guptas and the Licchavis.

John Allan remarks that Chandragupta 1, enjoying this peaceful situation came in a position to extend his small ancestral kingdom by winning over the adjoining kingdom of Vaishali. But, R.G. Basak differs from Allan on the point.

How Vaishali was annexed. He argues that as a crown prince Candragupta had helped his father Ghatotkaca in making conquest of northern state of Vaishali and finally compelled the Licchavi chief to go into an alliance. S.V. Sohoni argues in the same direction that the decision of the marriage was taken in the battle field. Scholars like A.S. Altekar vehemently remarks that the Licchavis were not the conquered subjects of the Guptas and any anti-remark to it was thoroughly baseless. Sudhakar Chattopadhyay suggests that Kumaradevi was taken in respect for her being a Licchavi by nationality than for anything else.

The matrimonial alliance, however, was absolutely important for the Guptas as it led to the amalgamation of Gupta and Licchavi principalities which not only expanded the boundaries of Gupta Kingdom, but also increased its power, prestige, glory and influence. It can safely be said that this matrimony marked the beginning of the rise of the Gupta dynasty to power



Kumaradevi, after the fall of the republican states became the queen of Licchavi region and all her royal possessions came after marriage in treasury of the Guptas. Having earned the possession of entire Licchavi state, Candragupta emerged as the first great monarch of the line and consequently became the lord paramount (Cakravarti) of north east India. Alliance with the Licchavis made him so strong as he established independent control on Magadh. He, thus, freed the country from the foreign rule of the Murundas.

Samudragupta in his Allahabad Pillar Inscription feels glorified when he says that he is the son of Licchavi princess Mahadevi Kumaradevi. Terms like Licchavidauhitrasya and Mahadevyam Kiimaradevyamutpannasya for Samudragupta obviously attest the marriage of his father with Kumaradevi. The marriage is also attested by some gold coins struck by Candragupta in joint names of himself and his queen of Licchavi. The coins bear on the obverse the standing figure of the king, offering a ring or bracelet to his spouse with the legends Candra or Candragupta on the right, and on the left Kumaradevi or Srikumaradevi and on the reverse follow the legend Licchavya and the goddess perhaps Simhavahini Durga, seated on a lion. A number of Gupta coins found at Gajipur, Tanda, Mathura, Varanasi, Ayodhya, Sitapur, Lucknow and Bharatpur Bayana attest the closest relation between the Licchavis and the Guptas. It can, however, be said that the matrimonial relation with Licchavi prepared a safeguard to Candragupta I offering no tension and anxieties from the north of the Ganga. Sitting on the heels of mental peace, Candragupta I, though not a great warrior like his successors Samudragupta and Candragupta II not only established the Gupta Empire, but also gave it firmness, consolidation and long durable social prestige.

H.C. Raychaudhuri observes that following the path of Bimbisara of the Haryanka De dynasty who established first Magadhan Empire by marrying Licchavi prince Chalana, Candragupta established the second Magadhan Empire by marrying Licchavi princess Kumaradevi. This relation in subsequent days brought about great glory to him both socially and politically; hence, the Gupta Era follows the coronation of this founder of the Gupta Empire which took place in about 319 AD.

The noted example of the political benefit of the matrimonial alliance in the career of Ashoka Candragupta Maurya may have also shown the bright path to Candragupta I. As we know when Seleucus, king of Syria was defeated by Candragupta Maurya in 305 BC, he had to give his daughter/sister to the latter (Candragupta Maurya) in marriage along with the Satrapies of Arachosia (Kandhar), Paropanisdae (Kabul) and Gandhar together with portions of Ariana (Herat), and Godrosie, (Baluchistan). Candragupta Maurya too sent to Seleucus a valuable present of five hundred elephants which stood him in good stead. The possession of the vast northwest region by Candragupta Maurya is well credited to his marriage relation that Appian describes in good details.

The pride of Samudragupta being Licchavidauhitra may indicate that his selection for successor to Candragupta I was probably influenced by his maternal relatives. Though Samudragupta was a Vaishnava by faith, he had respect for other religions as well, especially Buddhism. S.R. Goyal holds the view that his religious inclination towards Buddhism may have been caused by the inspiration of above relations. The Licchavis were staunch followers of Buddhism. Samudragupta permitted the king of Ceylon to build a Buddhist monastery and rest house for the Ceylonese pilgrims at Bodhi Gaya. He also patronised the famous Buddhist scholar



Vasubandhu. He is said to have made marital relation with the Shakas, Kushanas, Murundas, and royal families of Simhala and other islands, for the term kanyopayanadana in Allahabad Prasasti obviously means that he had accepted virgins from them. Weaker states situated outside the limits of the mighty Empire maintained diplomatic relation with Samudragupta through the offer of several gifts including daughters and in this way they sought to win his favour and earn a sense of royal pride and position of equality. These rulers accepted the suzerainty of Samudragupta who regarded such offers as a normal feature of his feudatories' relationship. But the chief queen this emperor was Dattadevi who is said to have been won in an open contest. Probably she was the daughter of Nagadatta one of the kings of Aryavartta who is said to have tried to please Samudragupta by offer santana sandhi or offer of daughter for marriage. As there is no definite information regarding her lineage it is also assumed that she was the daughter of Kadamba king Kakusthavarman. She, however, was a virtuous and faithful wife and source of inspiration to Samudragupta in discharging the work of consolidation of his Empire.

Candragupta ii Vikramaditya (AD 380-414), son of Samudragupta had married two princely ladies which proved to be important steps towards the success of his foreign policy. Dhruvadevi, princess of Licchavi and described as Mahadevi Dhruvaswamini on the coins of Vaishali was the earlier wife of his elder brother Ramagupta who is said to have made ignoble peace with a Saka ruler named Pira the Kidara, ruler of Punjab. He had agreed to surrender his queen in order to save himself. Thoroughly knowing the fact, Candragupta II disguised himself as queen and attacked upon the Saka ruler and did away with him. Then he married her who later became mother of Kumaragupta and Govindagupta, both kings in succession. It is important to note that Dhruvadevi or Dhruvaswamini are identical and is the name of the chief queen of Candragupta II. The Devicandraguptam by Vishakhadatta informs us that Dhruvaswami was the wife of Ramagupta who agreed to surrender her to the Saka king. Candragupta II rescued her from the Saka ruler, killed his own elder brother, married her and ascended the throne. This episode also finds mention in the Harsacaritam of the seventh century written by Banabhatta. Further, the Copper Plates of Rashtrakuta rulers, relating Sanjan, Cambay and Sangali bear the same evidence. The seal found from Basarh with her name mentioned on it indicates that she acted as a provincial ruler. S.K. Aiyanger states that she may have assisted Candragupta II in administration directly.

The next matrimonial relation of Candragupta II was with Kiibernaga of the Naga, royal dynasty. It is clear from the Allahabad Pillar Inscription that Samudragupta went in conflict with Nagadatta, Gar.apatinaga, Nagasen, Acyuta and Nandi, all belonging to Naga dynasty and defeated them. Of course, these rulers were subjugated, but not entirely uprooted off. Candragupta II adopted a wise policy to keep good relation with the Naga dynasty. Hence he married its princess Kuberanaga. The Poona Copper Plate confirms that Prabhavati Gupta was born to Candragupta II and Kuberanaga.

The Nagas were a powerful ruling clan and a marriage alliance with them might have of great use to Candragupta II in consolidating the newly established imperial position of the Guptas. Particularly in his campaign against the Sakas Candragupta received socio-moral support of the Nagas. The Nagas of Eran, Vidisa and Padmavati were completely reconciled. Eran and Vidisa in Eastern Malva served as cantonments of Candragupta's army to mount an assault on the Sakas of Western Malva, Gujrat and Kathiawad. Thus it can be said that marital relations with the Nagas



raised the power, prestige and political influence of Candragupta II in his contemporary politics of his time.

Farsighted in conducting the foreign policy of his time Candragupta II married his daughter Prabhavati Gupta with Rudrasena II, son of Prithvisena I of the Vakataka dynasty. The kingdom of Vakatakas, one of the greatest powers of the Deccan lay on the way to Malva, Gujrat and Saurashtra of west India which had been ruled for centuries by the Sakas. In order to win over them and possess these regions it was considered extremely essential to go into friendship with the Vakatakas, hence this marital alliance. The Vakatakas assisted the Guptas to a great extent against conflicts with the Sakas. Finally the ball was in the hand of Candragupta II when he earned chief military achievements by the conquest of Malva, Gujrat and Saurashtra or Kathiawar. The geographical situation of the state of Vakataka kings was so suitable as they could not avoid helping Candragupta against Saka Kshatrapa of Ujjain too.

After the pre-mature death of Rudrasena II, Prabhavati was simply a defacto ruler of Vakataka state, as her sons were minors. Gradually, Candragupta II made his sway over the Vakataka regions, as is evinced from the Poona Copper Plate engraved in east Gupta script, bearing Gupta geneology on the place of the Vakataka. The Vakataka inscriptions refer to Candragupta II as a subjugator of all kings (sarvarajocchettd) and great warrior of the earth (prithvyampratratthah)

Candragupta ips marital relations with the Kadambas of Vaijayanti or Banavasi in Kuntal, or the Kanarese country served his political purposes. It appears from the Talgunda- pillar inscription that the Kadamba king got his daughters' married with Candragupta II and other kings. Chandragupta maintained diplomatic relation with the Kadambas by sending Sanskrit scholar Kalidasa to their country. The Aucitya Vicara Carca by Kshemendra calls Kalidasa Kunteshvara Dautya. Later on, again a marriage was arranged between these two royal families. Kumaragupta I (414-455), son of Candragupta II and Anantadevi, daughter of Kakutsthavarmana, a powerful ruler of the Kadamba dynasty tied in knot. She is said to be Mahadevi or chief queen of Kumaragupta. Purugupta, a ruler in succession, was born to them. Significantly, two royal houses of southern India, the Vakatakas and the Kadambas successfully came within the orbit of Gupta political influence. Noticeably, a number of feudal lords of the Kuntala region, modern Kanara district, feel pride in calling themselves the descendants of Chandragupta Vikramaditya.

The foregoing would say that the matrimonial alliance with powerful royal Houses formed a historic part of the imperial policy of the Guptas. Through and through this policy was all meaningful in successful extension, expansion, and consolidation of the Empire.

Notes and References:

1. J. Allan in his work Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties and of Sasanka, King of Gauda (in British Museum), London, 1914, Introduction, p. 15 views that the king is called Sri Gupta in inscriptions. But 'Sri' is not an integral part of the name and is used here as an honorific term. See R.S.Tripathi, History of Ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi, 1967(third ed), p.238.
2. R.B Pandey, Chandragupta II Vikramaditya, Varanasi, 1982, p.48.
3. J.Allan, opp.cit, p. 18.
4. R. G. Basak, History of North Eastern India, Calcutta, 1967, p. 148.
5. S.V. Sohoni in Journal of the Numismatic Society of India, Benares, no.19,p.148.
6. A.S.Altekar in Journal of the Numismatic Society of India, no.II, p. 145.
7. S.Chattopadhyay, Early History of North Bihar, Second ed., Calcutta, 1958, pp. 143-44.



8. K.A.Nilakanta Sastri & G. Srinivasachari, Advanced History of India, Allied Publishers, Delhi, 1989 (reprinted) p. 184.
9. Uday Narayan Ray, Gupta Samrat aur Unaka Kal, Allahabad, 1986, Fourth ed, p.82
10. R.D.Banerji, The Age of Imperial Guptas, Banaras, 1933, pp. 1-5
11. S.Chattopadhyay, opp.cit, pp. 141-45.
12. Prayag Prasasti, 1. 29, see in details, Vasudev Upadhyay, Gupta Abhilekh, Bihar Hindi Grantha Academy, Patna, 1974, p. 124.
13. A.S. Altekar, Guptakalin Mudtraen, Bihar Rashtra Bhasha Parishad, Patna, 1972, pp.22
14. H.C. Raychaudhuri, Political History of Ancient India, Calcutta, 1972 (seventh edition),
15. N.K. Sastri & Srinivasachari, cit, p. 184.
16. Appian's Roman History Vol. 2, Book XI, 9-55, p 204, (tr. by White)
17. SR Goyal, A History of Imperial Guptas, Allahabad, 1967, pp 124-25
18. Ibid, p 125
19. Allahabad Pillar Inscription (or Prayag Prasasti), 1.24.
20. R.C. Majumdar & A.S. Altekar, The Vakataka Gupta Age, Lahore, 1946,p.138.
21. Raj Bali Pandey, Chandragupta II Vih'amaditya, Varanasi, 1982, p.62.
22. PL Gupta, Gupta Samrajya (in Hindi), Varanasi, 1970, p. 276.
23. D. C. Sircar, Select Inscriptions Bearing on Indian History and Civilisation, Calcutta,1965, pp. 269,286
24. Harsacaritam, tr by Cowell & Thomas, Nirnay Sagar Press Edition, p. 194
25. El Vol XVII, p.248
26. Ibid. Vol. III, p. 125
27. IA XII, p.247.
28. S.K. Aiyangar, Ancient India and South indian History and Culture, I, Poona, 1941, p. 283.
29. D.C. Sircar opp.cit. pp 436-37
30. V.Smith in Journal of Royal Asiatic Society,1914, p 324.
31. V.V. Mirashi, Vakataka Rajavamsa aur Usake Abhilekha, Varanasi, 1964, pp. 203-06
32. El, Vol. VIII, no.5, p. 33 ff, Talgunda Pillar Inscription of Kakusthavarman, early sixth century
33. R.C.Majumdar& A.D.Pusalker (ed.), History and Culture of Indian People, p.155.
34. Needless to say that two royal Houses of Southern India, Vakatakas and Kadambas successfully came within the orbit of Gupta's political influence.
35. D.C.Sircar, opp.cit, p.286.
36. H.C.Raychaudhuri, opp.cit, p.498.





The Ideas of Gandhi and Nehru on Gender Equality during the Freedom Struggle and the Early Post Colonial Period



Prof. Sunita Sharma (Retd.)
Dept. of History
B. D. College
Patliputra University, Patna

The personal and political beliefs of Mahatma Gandhi and Jawaharlal Nehru on women's role during the freedom struggle were generally common but at the same time significantly divergent.

The common beliefs of Gandhi and Nehru were in the essential equality of women with men and their faith in the esoteric ideals of the fundamental oneness of all life. Therefore, their main concern was to enable women to contribute to human welfare with their innate ability to self-restraint and self-sacrifice.

They envisioned women's role in this protracted struggle as important and carved distinct negotiable spaces for women's political contribution at first from their own families thus setting a precedent for other women in the surcharged political atmosphere to come forward. Both leaders recognized the importance of social acceptability of women's public activities undertaken for the nationalist cause.

However, while upholding the ideal of equality they drastically differed in the application of the subtleties of their views on the socio-economic and politico legal status of women. Gandhian ideology can be perceived within the traditional values of Indian womanhood whereas Nehru took a non-conformist stance for emancipation of women. It should also be noted that if it was Gandhi's clarion call to women to step outside the threshold of house for national cause. For Nehru it was only the beginning of a larger process whereby women could find their identity in social milieu and eventually enjoy equal rights with men.

Gandhi's views on women emanates not only from his power of reasoning but from his steadfast faith in certain basic values such as women's essential dignity, potential and equality as spiritual beings. Gandhi tried to use traditional values to extend their traditional roles into political sphere.

In many ways Gandhi worked against a predominantly Brahmanical patriarchal order, his protest touched the 'sphere of domesticity' women's domain which deprived them from taking power of positions. In emphasizing the virtues of female perseverance and non-violence Gandhi gave the protest a moral tone and emphasised much on women's moral strength. Since the Gandhian ideology portrayed the struggle against the British as a moral battle for which the moral and spiritual strength of Indian women was supreme. Thus, Gandhi tried to assimilate the innate power for national cause. Thus it has also been argued that the 'feminine' nature of his protest was a unique stance as to him a woman symbolised the virtues of non-violence. Gandhi, thus constructed a moral stance which cut across class, communitarian, and rural-urban differences to create an anti-imperialist front. While it has been regarded as the fundamental



and unrivalled form of anti-colonial resistance.

To Gandhi, self sacrifice and non-violence were many virtues, but his non-violent satyagrah has often been looked upon by others as the hegemony of the feminised Gandhian Congress movement and also acknowledged as the only legitimate movement for the liberation of the country. While the passive resistance has been regarded as the fundamental and unrivalled form of anti-colonial resistance, but his firm resolve and conviction in passive resistance has been a subject of criticism.

The critique of his ahimsavadi policy associated it primarily as a feminist approach. The concept of Gandhian feminism has been perceived by the nationalist advocates as idealistic and progressive but by the critique as weak and meek. Among the upholders of the first viewpoint, it has been argued that Gandhi's greatest contribution lay in his revolutionary approach to women in society.

He respected their personal dignity as individuals without belittling their roles as mothers and wives. Few others perceived that Gandhi was 'methodologically' a feminist because for him the means were as important as the ends. He propagated self-reliance while encouraging the discipline of the mind and body thus providing a positive and progressive ideal to the nationalist cause.

Another interpretation that by introducing the spinning wheel as a political symbol. Gandhi enabled women in the domestic sphere to participate from within the home. While some analysed that Gandhi's incorporation of domestic imagery in his political discourse enabled women in the domestic sphere to participate from within the home.

Gandhi's understanding of the importance of family dynamics encouraged women's involvement in public activities. His dual stress on women fulfilling their duties as mothers within their homes as well as serving the nation was important because it enabled women to participate in the public sphere without dismantling the existing family structure and without disturbing the domestic ideology.

The domestic ideology of Gandhi can be identified with the concept of 'desh puja' and the invocation of 'shakti' which had made women's entry into politics smooth by early nationalist philosophers as Rabindra Nath and Abanindra Nath Tagore who represented India as (Bharat Mata) Mother Goddess India. The concept appealed to later nationalist leaders as the spirit of nationalism could be sustained from India's glorious past, which was under threat by the political and cultural intrusion of the west. of womanhood. Gandhi only carried forward this image without conjuring it with the western concept of womanhood.

First Gandhi further asserted that women were morally better suited than men for the non-violent struggle which helped remove the stigma of their inferiority vis-à-vis men. This feminist perspective infused self-confidence into women and secondly it politicized women with leadership abilities.

This concept of Indian motherhood became a subject of British criticism as British hegemonic masculinity sustained itself through assigning the colonised a more 'subordinate form of masculinity. Such constructions as 'subject peoples as passive, in need of guidance,



incapable of self-government' were used as reasons for India's unfitness for self-rule by the colonial officials. As Nandy affirms that the history of colonisation is also a history of feminisation. The feminisation of the nation was accompanied by masculine 'counter types' which incorporated not only sexual identification but more of racial identification. Whereas Margaret Cousins accorded unique honour to Asian womanhood and considered Bharat Mata as the foster mother of Asia's culture, a factor which allowed Indians to provide spiritual leadership to other Afro-Asian colonies during the 1940's.

To Gandhi goes the credit of having drawn out Indian women from the cloistered protected environment to join the national movement for freedom. But Gandhi's role in the women's movement has veered from one extreme position to the other. One view is that he used the essential non-violent nature of women for the limited purpose of making the political strategy of non-violent, non-co-operation viable. The second view is that Gandhi revolutionised the Indian Social Scene by drawing out women out of their protective shell. The truth, however, lies in between. It is a fact that as never before, Gandhi's call to women to participate in the movement had a dramatic impact. The physical presence of women engaged in picketing, boycott and other non-co-operative activities added a new dimension to the movement. For Gandhi, picketing was more a matter of moral persuasion than coercion. His arguments provided women with a sense of moral and political power that inspired and prompted them to adopt a method of action which did not exclude their efforts and abilities but allowed for their development within a distinct political programme. But it is equally true to say that Gandhi had thought of women's participation in a limited sense. He was aware of the innate qualities of silent suffering, stoic resistance and non-violence in a woman and would give credence to the underlying non-violent philosophy of his movement. But he was very wary of allowing women to take on roles other than what he prescribed. And so if he encouraged women in non-cooperative activities as picketing and boycott and believed in their vigil and protest, he was equally reluctant to allow women activists to protest in salt marches lest they became victims of violence. In general, Gandhi sought to hold the women's discontent within the overall nationalist cause and direct it in such a way that it remained targeted at imperialism. Thus women's participation in the national struggle remained within the parameters of what Geraldine Forbes calls "the politics of respectability."

The 1920's was a watershed for women's participation in the Gandhi led nationalist movement in India. Gandhi through his constructive programme expected women to contribute to the political cause primarily from within the domestic sphere, aligning it with the concept of swadeshi (indigenous) for India's liberation. Spinning Khadi on the charkha was a powerful nationalist sentiment which showed that not only could domestic value be associated with nationalist activities in the public sphere, such as the picketing of foreign cloths shops but also that nationalist activities could be taken into and performed within the domestic sphere. When women stepped out into the streets, they brought the values of the domestic sphere with them. They were expected to adopt to changes in the public domain without compromising their feminine qualities within the domestic sphere. Gandhi's political language brought about a steady reconciliation of domestic and public values. Once women were on the streets, they were expected to maintain the non-violent, self-sacrificing benevolent image of the



domesticated wife and mother. Second, women's participation in the public domain was intricately tied with familial symbols, household dynamics and nationalist symbolism. The symbolic representations of women constructed by the nationalist project enabled women to play a political role through the avenue they opened, in both the public and domestic domains. Third, household items like salt, liquor and foreign cloth were given a symbolic and nationalist significance. The spirit of sacrifice was stretched across the negotiable boundaries of the domestic and public spheres as in the public space women faced the atrocities of the police bore 'the hardships encountered while picketing or demonstrating courted arrest and served prison sentences.

'Swaraj, swadeshi and swabalambh' were linked together in Gandhi's opinion and it became Gandhi's platform to link this political volition with individual freedom. Besides, as Guha argued that Gandhi felt that colonial rule could be contested from both the political and economic platforms. By spinning, weaving and selling Khadi, women could help in their own liberation by gaining a modicum of economic independence. New avenues were opened for them in public and domestic domains. Gandhi brought forth his holistic views on gaining independence which was not confined to political subordination, but to salvage social and cultural freedom in an equal manner.

However, the contradiction in Gandhi's thoughts lay in the fact that while emphasising equality and dignity for women in the household and seeking their participation in the movement, he argued that it would be difficult for women to participate in politics if this came in conflict with their family responsibilities. During the Civil Disobedience Movement Gandhi clearly instructed the leaders Kamaladevi Chattopadhyay and Khurshedbehn (Dadabhai Naoroji's grand daughter) that while recruiting female volunteers women should have the permission of their guardians. Despite such restrictive measure one of the most significant features of the year 1930 to 1934 was the participation of women on an unprecedented scale in the nationalist movement. The procession taken out by women, their untiring picketing of cloth and liquor shops, their persuasive appeals for swadeshi added further momentum. Due to limited statistics on the number of women participants in government records it is difficult to give the exact number but the records of conviction of women do provide a fair idea of their wide participation. Women's participation and convictions during this period was significant. The number of women who had gone to jail for participating in freedom movement was maximum in Bengal. The frontline women agitators were mostly Brahmos. The arrest and conviction of Savitri Devi who was sentenced to three months imprisonment was sensational, the first women political participant to be seriously punished. Basanti Devi (wife of C. R. Das) was arrested with her associates on 7th December 1921. Although they were released after few hours but their arrest had set an example to the rest of the women and had produced the desired effect, and allowed women to step into the public sphere.

During the Civil Disobedience Movement only respectable women were encouraged to participate as the street demonstrations were projected in terms of its high morality and sacrifice Gandhi refused to accept the prostitutes as congress members unless they gave up their unworthy profession. This issue of respectability was important to Gandhi for two reasons. First, since women activities were projected to be for the freedom of the country,



therefore, it had to be perceived as patriotic and respectable. Second, even if women stepped out of the house, since, they were looked upon as 'embodiment of respectability' so their movement was not to be doubted or scrutinised. Such constructions of respectability was required to support nationalist needs.

In the context of Indian nationalist history the management of female sexuality has been important since 'unruly' female sexuality could discredit the nation. Nationalism, gender and sexuality played an important role in constructing one another. Gandhi held the belief that married life and associated domestic and sexual concerns were a hindrance to social service. Therefore, these views of Gandhi were based on the ethos of sexual Puritanism which in a way encouraged and assured young women from respectable families to leave home and join his ashrams and campaigns. It was even implied in all nationalist messages that women courting arrest and serving imprisonment were performing their religious and national duties. This was supported by the Hindu religious canon, which suggests that Lord Krishna was born in prison.

His ideas were taken up by women in large numbers. The charismatic presence of women leaders like Vijaylakshmi Pandit, Aruna Asaf Ali, Uma Nehru, Kamla Nehru legitimised the activities like hoisting the national flag or breaking the salt law.

The initial act of salt making in the homes was a visible sign of the revolt which had entered every home, despite Gandhi's reluctance to allow women to accompany him on the march. His first apprehension was that among large numbers of men the presence of few women would make them more vulnerable to violence. Secondly, he did not want to be accused by the British Government of hiding behind the protection of women. Gandhi had remarked that just as Hindus do not harm a cow, the British do not attack women as far as possible, therefore, it would be looked upon as an act of cowardice. A cynical comment of one of the Police Commissioner of Bengal was that 'men in Bengal were taking shelter behind the skirts of women' and that the civil Disobedience Campaign as it exists in Calcutta is being conducted by women.

However, women pushed themselves into the salt satyagrah. Women like Mridula Sarabhai and Khurshed Behn demanded that no-conference or commission dealing with the welfare of India should be held without the presence of women. Similarly no marches, no imprisonment, no demonstrations organised for the welfare of India should prohibit women from a share in them. Mridula Sarabhai established the Jyoti Sangh in 1934, a women's organisation. It encouraged women's empowerment, economic self sufficiency through education and vocational training. It also raised women's awareness on social justice issues such as the violation of the Sarda Act (marriage of girls under prescribed age) domestic violence and issues related to social inequalities. In 1942 when the Quit India Movement was launched, Sarabhai established contact with the "underground movement" led by Jay Prakash Narayan, Aruna Asaf Ali, Ram Manohar Lohia and others, and helped them financially.

Margret Cousins on behalf of the Women's Indian Association pointed out that if women were not allowed to participate it would indicate division of work by sex which was not an adequate explanation to participate. Feminising of public politics facilitated women's participation on a broader spectrum. The 1940's witnessed an increase not only in the number of women activists but their indulgence in violent activities as compared to the non-violent



activities of the 1920's and 1930's. Some activists said that they had been prevented from participating in the Civil Disobedience Movement, but were allowed by their guardians to participate during the Quit India Movement. It is an ironical fact that because of the Gandhi's emphasis on 'morality and respectability' women were no more prevented from public participation but at the same time the 'passivity' inability to yield result soon disillusioned people with the 'feminised' ideology. Thus the anti-colonial resistance under the hegemony of 'feminised' Gandhian Congress movement was challenged in 1942 as the only legitimate movement for national freedom. There was a growing sense of resentment with Gandhian strategy of passive non-violence, whereas few were sceptical as being both 'Gandhiwadi and Krantikari (like Biplavis). Their dilemma that through satyagraha alone independence could not be achieved was supported by socialist ideology which entailed participation in violent activities, coupled with organising the workers, peasants and youth and spreading socialist ideas. In 1942, the bulletin 'Ran Bher' was taken over by women comrades in arms.

The women whose work is commendable during the Quit India Movement are Aruna Asaf Ali and Sucheta Majumdar Kirpalani. Aruna Asaf Ali, a congress satyagrahi, decided that organised resistance and systematic dislocation rather than satyagraha was required to liberate the country. These two stalwarts held to ethical principles of Gandhi and Azad and gave tough resistance to the colonial might through their forceful writing and principle and propagated the views of Gandhi.

They used to relay news, speeches, instructions and appeals to different classes of women. The news bulletin was supplied by Sucheta Kirpalani and Aruna Asaf Ali who were in-charge of the banned Congress. Sucheta Kirpalani questioned the exclusivity of women from public domain. She held that in India there were very few paschgami. (backward) men who would stop women from participation in national struggle as women had achieved an appropriate position in this struggle which was based on the tenets of truth and Ahimsa. Women had fulfilled their duty in this struggle and as a result had achieved not only their rights but also self-respect. Her thoughts clearly reflect the Gandhian ideology of 'Ahimsavad'.

Gandhi believed that resistance in satyagraha could be offered through self-suffering for which women were particularly suited and which could be practised from the domestic front, therefore, he apprehended public movement of women and at times tried to restrain it. It was Kasturba, his wife, who first defied his view, when need arose. She stepped out and took over the leadership of the national movement when Gandhi was in prison, and despite her uneasy relationship with her husband, she appealed on his behalf.

She spread the idea of spinning and wearing Khadi through small public speeches and her writing.

**Move the charkha my sisters,
Whenever you have spare time from domestic chores,
Spend the day on the charkha
Do not wear makhmal (silk)
Instead stitch chadar made from khaddar.
The nation has become poor from its own carelessness,**



However, you can increase India's wealth by spinning on the Charkha. In the ancient manuals of work, it is directed that the charkha should be worshipped.

Do not forget your old rites (values)

Do Desh seva (serve your nation)

This is the best opportunity

Do not waste time

After you have heard this message from me,

Spread the message around to the other sisters,

And all sisters should spin on the charkha.

In her appeal through her rare poetic effusion Kasturba tried to generate awareness about the use of Charkha.

A concern to raise consciousness at the grass root level for involvement in national movement was taken up by Kasturba. She gave priority to Gandhi's economic doctrines of reviving the village economy and cottage industries which would restore women some of their lost strength. Her counter part Basanti Devi in Bengal too tried to rejuvenate rural India.

Such appeals brought nationalist activity within the domestic sphere, thus facilitating Gandhi constructive programmes. More importantly, women were given charge of the economic status of their country as well as themselves. Khadi served as a means of generating economic fluidity primarily for the lower classes, but through this activity Gandhi also challenged the dominant norms of the upper caste, as well as the middle class values that associated high status with women's non-involvement in productive work.

Kasturba was addressed by the peoples as Rashtramata or mother of the nation. Gandhi too accorded Kasturba the position of both his wife and the mother of the nation. Gandhi believed that it was essential for women to possess the warmth of motherhood and sustain the spirit of seva. or service. Family was thus seen as an integral part of national life, thus concretising the views of Bankim Chandra who popularised the worship of mother, as well as female duties and power thus laying the foundation for women's 33 active participation in the nationalist movement in years to come Motherhood emerged as the domain which the colonised could claim as their own.

Gandhi's involvement of women has been analysed as a carefully planned strategy.that could fulfil a specific purpose in the nationalist movement.His use of household objects such as Charkha is also seen as an essential 'tool' to involve women in the national struggle, but without shifting any gender inequalities within or outside the household. Moreover, the symbolic repertoire used by Gandhi has also been looked upon as a patriarchal extension of the nationalist project. Although Gandhi emphasised on women's important role in the home precincts and considered them to be gifted with equal mental capacities. Gandhi was an intrinsic believer in sex equality and was uncompromising in the matter of women's rights. But at the same time he envisioned separate roles for men and women in society. As he put it, man and women are equal in states but are not identical, only supplementary to each other. Accepting the role differentiation between man and woman, Gandhi declared that their vocations must be different, for equality of sexes does not mean equality of occupation. While



drawing women into the vortex of the national movement, Gandhi did not spell out any definite programme for women to achieve socio-economic equality.

Thus, if Gandhi emphasised the moral and traditional qualities of women, Nehru emphasised the economic content of women's rights and obligations. His approach was based on more 'realistic and practical considerations. Nehru's earliest political awareness came out of the influence of the socialist philosophy of the Fabians in England. This early contact encouraged Nehru to take a critical view of Indian society rather than on any moral exhortation. His speeches reiterated faith that for women without mental and economic freedom through education other aspects of gender equality would prove superficial. To Jawaharlal, family responsibilities were much less important than the economic independence of women. On the other hand, for Gandhi - to be dependent, e.g. one thing, to feel dependent is quite another. If there is love in marriage, the feeling of being inferior does not arise, and conversely, if both are earners, but do not have love for each other, conflicts will arise easily. A measure of economic hardship is any day preferable to lack of maternal attention at home and to relieve the pressure of a modest income, women may undertake to do quite a few household chores themselves. Women should not have to earn her living.

Unlike Gandhi Nehru believed that advancement and accessing opportunities in the social and economic fields was important. The discourse of modernity and modern nation in Nehru's writing, ignored other and competing discourses such as religion, caste and gender, which were embedded in the traditions of Indian society. He stated that 'the relationship between man and woman should be based on full freedom and co-operation in which nobody is dependent on the other. However, Nehru's approach was not widely shared, and was alleged as being to confused because of his westernised outlook. His Fabian socialism was also brought under criticism as not being in touch with ground reality.

However, to Jawaharlal himself, the participation of women in the national movement was only the beginning of a larger process initiated by Gandhi, whereby woman would struggle to find their proper identity in the Indian social milieu and enjoy equal rights with men. For Nehru women's participation in large numbers in the national struggle in response to Gandhi's call was a social revolution. It broke barriers of social restraint and gave women a new cause and sense of commitment. As he wrote in his 'Discovery of India...a remarkable thing happened' our women came to the front and took charge of the struggle.

When Nehru recognised Gandhi's leadership, women in his family accepted Gandhian ideology and turned as his followers. They set an example for the general populace by taking bold initiatives which inspired other women to step over the thresholds of their homes. A gender specific non-violent programme, segregation and respectability in public sphere were some values carried by him.

The Nehru family dynamics encouraged women's involvement in public activities. Three generations of women from Nehru family participated in the national political life during the independence struggle.

In the early phase of the movement, the female family members such as Swaroop Rani Nehru, Uma Nehru, Kamla Nehru, Krishna Nehru, Rameshwari Nehru and Vijaylakshmi Pandit



provided the context within which other Indian women could participate. They were the first to step out onto the streets, thus setting a precedent for other women.

Three main features can be seen in their participation. First, they came from a family that had a tradition of political participation and had exposure to public politics. Second, they were encouraged and supported by their families to participate in the movement. Third, their lives were not circumscribed by social practices and members of their families did not object on their public participation

However, they did not take to nationalist activities without conflict. Vijaylakshmi Pandit in her memoirs says that her mother Swaroop Rani Nehru found it difficult to adjust to the changed life style and the constant infringement on their private family life. It was difficult for her to understand this new 'Mahatma' who should have been to look after people's morals instead of meddling in family matters. Swaroop Rani found it difficult to sacrifice family life interest for supporting the national cause, though eventually she came to terms with the activities of her husband and son. Her encouragement to them can be seen as a significant dimension of her contribution towards the national movement.

So says the mother of Jawahar, 'Give up your life for the nation my son. Then only will I be a proud mother, when one has to take the vow, then give your life to the nation, Never worry about your happening, Nor worry about your old mother.'

Swaroop Rani and Vijaylakshmi Pandit shared the same household but perceived the change in their private lives differently. This difference in perception can be attributed partly to the generational difference between the two men. Since Swaroop Rani belonged to an earlier generation, therefore, her horizon did not extend beyond the family and she found it difficult to comprehend the changing political reality and new ideas For Vijaylakshmi Pandit, the consequence of political developments were felt in her personal life. For Swaroop Rani it was the changing political reality while for Vijaylakshmi Pandit it was a challenge.

For Kamla Nehru, who turned to be a total convert to Gandhian philosophy of non-violent non-co-operation and threw herself into the fray with a zeal that took even Jawaharlal Nehru by surprise. In fact, it was her total commitment that made it simpler for Jawaharlal to take plunge into a full time involvement in national politics. She wanted to play her own part in the national struggle and not be a shadow of her husband. She wanted to justify herself to her own self as well as to the world.

Gandhi's ideas were taken by Kamala Nehru, who tried to sensitize people by her appeal to women folk that it was the duty of our sisters to take to swadeshi things. The leading journal Chand too supported her views.

The women of the Nehru family had taken the initiative in the task to mobilize the masses which would enable the middle class women to transcend the domestic boundaries. Just as they had set a precedent in public activities, a precedent was set in literary activities too. Some important journals on women's issues were being published with their co-operation. Stree Darpan, 'Women's Mirror' was one of the important journal which was financed and published by Kamala Nehru, who was also the president of the Allahabad District Congress Committee Articles in stree Darpan emphasized not only nationalist issues but also women's rights, and



argued for reform in gender relations. These journals formed the forum to establish link between self-emancipation and national emancipation.

Another active member of Nehru family was Uma Nehru. She had long been an advocate for women's right through her articles in *Stree Darpan* edited by her sister-in-law Rameshwari Nehru. The articles highlighted the need to bridge the gap between men's emphasis on national rights and their concern for women's rights. It had well researched articles on women's role in the nationalist movement. Uma Nehru wrote about 'the role of Women in Marriage' Vijaylakshmi Pandit wrote on 'Present Day Women's Education'.

Uma Nehru was an uncompromising critic of certain patriarchal assumptions in male nationalist discourse. Her response to Katherine Mayo's book 'Mother India' has been seen as a feeble critique of Mother India. She took a supposedly neutral or non-gendered position of the Indian nationalist. It could not become the site for elaboration of the gendered subject position of the Indian women as she herself was critical of male nationalist discourse towards women. Her response to 'Mother India' reflected the power of the nationalist discourse to contain even those voices that were critical of its particular nationalist resolution of the women's question as she had long been a powerful advocate for women's rights. Thus Uma Nehru tried to avoid a detailed discussion on Mayo's thought as she too perceived the same views as Mayo's to a certain extent, but on grounds of national cause, she tried to give a nationalist perspective but since her conviction did not lie therefore her response was considered as feeble. The coming forward of such women protagonists gave further thrust to the ethical mass movement, and their complementary role in awakening national consciousness among masses cannot be overlooked.

The leadership to women in nationalist movement in Uttar Pradesh was generally provided by female members of the Nehru family. In 1909 the Prayag Mahila Samiti was formed by Rameshwari Nehru in Allahabad. It articulated issues which were concerned with women's enlightenment, social reforms, women's education and their political participation though the participations of these meetings remained confined to elite women. Later Rameshwari Nehru became the editor of *Stree Darpan*. She was one of the members of the delegation for "Age of Consent Committee." appointed by the Government on 25th June 1928 as she was one of the strongest advocates for the abolition of child marriage which later ensured the passage of the Sarda Child Marriage Bill.

The charismatic presence of these women like Uma Nehru, Krishna and Kamla Nehru, Vijaylakshmi Pandit, Aruna Asaf Ali, Sucheta Kripalani both personalized and legitimized activities like hoisting the national flag or breaking the salt laws. Homely salt suddenly became a tool of power. Uma Nehru led the march, Kamla Nehru picked up the fuel, Swaroop Ran, presided over the meeting and said "If you are true to your Motherland then you should start manufacturing salt in every household. After appealing to women to enlist as volunteers, since without their co-operation the attainment of Swaraj (self-rule) would be impossible. Uma Nehru auctioned a packet of the newly made salt. The elderly Swaroop Rani had a special impact on the masses. Sister of Jawaharlal, Krishna Nehru, describing the impression created by her mother said that one of the most extraordinary things happened was that a Hindu lady born to the luxury and seclusion of strict orthodoxy, suddenly became a revolutionary orator."



The memoirs of the Vijaylakshmi Pandit and Krishna Nehru give important insight into the experience of 'elite women' in jails; which was looked upon as a centre of resistance. For the colonial authorities the revolutionaries were a more serious threat than these Congress Satyagrahis and for the Congress nationalists female protagonists the goals and aspirations of the revolutionaries or 'krantikaris' were antithetical to the Gandhian non-violent movement. During the Quit India Movement Gandhi's views faced a severe challenge but the sheer conviction of Gandhi, Nehru and Azad retrieved the situation and brought people back to the Gandhian fold to fight on the basis of the conviction of truth and non-violence to pursue constitutional rights.

Towards the end of the long drawn protracted battle against the imperial rule Nehru realized that he had to carry forward a battle from within the nationalist front or even from the Congress front.

Nehru was forthright in condemning the male dominated society of India, where its civilization, its customs, its lands were made by men who had taken care to keep themselves in a superior position, to treat women as chattel and to be exploited for their own advantage. Hence, he was equally aware that the move to break the socio-legal restraints on women had to be taken cautiously.

However, it took Nehru several more years to realize to provide further equal rights on a constitutional basis. In the immediate post-colonial period Nehru had to face opposition from within which till then had been in a veiled form. Even well meaning leaders did not agree with Nehru as they were conservative in their views and Nehru's non-conformist views were not acceptable to them. It had taken long for Nehru to finally realise the volume of orthodox opinion arrayed against him in his bid to carry forward progressive legislation affecting personal laws.

He visualised that ultimately by galvanising public awareness he could gain support for measures of socio-legal equality between man and woman. Congress at the behest of Jawaharlal Nehru decided to enshrine the principle of equal rights for men and women in the fundamental Rights of the people at the Karachi Congress of 1931. In spelling out the economic content of the equal rights for women, Nehru was doubtless inspired by Leninist thought, who stood for an egalitarian legislation between the sexes. Firstly, the Fundamental Rights Resolution in 1931 was adopted without any great opposition as many of the Congress members thought that it would not be implemented in near future. Secondly, it was also considered to be a Gandhian concession to Jawaharlal Nehru. Thirdly, the political elite gave their support because thereby, they could show that they were more socially advanced than the British and could counter claims that they were too backward for self-rule. Also women's suffrage was bound to help the national cause, as any increase in India's political representation would be unfavourable to the British presence. Nehru had anticipated that no objection would be raised because first, the rights were on paper and second it could not have been realised in near future. Nehru said, many of them who silently voted for the Karachi resolution might not have meant what the resolution laid down. Nehru's fears came true when he tried to introduce reforms in Hindu Personal Law. Due to the rigid British policy of non-intervention in indigenous personal law the evolutionary growth of Hindu law had virtually



stopped. Besides, the underlying principle of Hindu law in pre-independence era was inequality, the inferior position of women in all matters governing personal law like marriage, maintenance, inheritance and guardianship.

It was the passing of the Hindu Women's Right to Property Act, known as Deshmukh Act in 1937 that brought out the legitimacy of this demand for codification. Actin

A Hindu Code Committee was set up in 1941 but could only he introduced in the legislative Assembly in 1947.

However, in the early post colonial period Nehru asserted his views as he was eager to grant equal rights to women on a constitutional basis. In 1948, under Nehru's prime minister-ship, the Draft Code was referred to a select committee under the chairmanship of the Law Minister, Dr. B. R. Ambedkar. Ultimately in May 1955, the Hindu Marriage Act was passed followed by Hindu Succession Act in May 1956 and the Hindu Adoption and Maintenance Act in December 1956 and the Dowry Prohibition Act in July 1961.

The debate on Hindu Code brought a broad spectrum of ideas on social issues. An analysis of these divergent viewpoint is crucial to understand Nehru's effort amidst strong opposition and how it paid in resulting in a set of legislation which though could not be made very substantial but was symbolic of providing a status of equality on the constitutional and legal basis.

Rajendra Prasad, Vallabh Bhai Patel, Shyama Prasad Mukherji, Naziruddin Ahmad were opposed to the Nehruvian view. Perhaps the most vocal protests were articulated against the clause of granting equal property rights to women, for it threatened the well entrenched economic rights of the male in society. The opposition was on grant of 'absolutely equal right' as it was feared that it would create family tensions within her paternal family. There was a deep seated fear that 'Mitakshara' concept of joint family would be affected which in turn would break the basic fabric of Hindu Society.

To Nehru, the passage of this legislation marked an epoch in India for it had pulled out Hindu Law from the roots in which it had got stuck and given it a new dynamism In the ultimate analysis it can be said that Nehru's victory was largely symbolic which he claimed to be the 'outstanding achievement of his time. He linked this legal advance in the social domain. By recognizing and accepting in principle the concept of woman's equality, Nehru was able to enunciate an emancipated and liberal spirit of views which was not only unique in the time when he lived but also has relevance for posterity.

Both aimed at the same goal which was equality between man and woman. However, their approach was different. Gandhi's perception of equality was qualified and quantified. He believed in woman being confined to household as otherwise the family was bound to suffer. Whereas Nehru on the other hand was not restrictive and stood for "absolute equal rights" and in this he was breaking all social norms or impediments.

References :

1. Shriman Narayan (ed.), The Selected Works of Mahatama Gandhi, Nav Jivan Trust, 1997, vol.VI, p.106.
2. Pushpa Joshi, Gandhi on Women, Centre for Women's Development Studies, New Delhi and Navjivan Trust, Ahmedabad, 1988, p.67.



3. Veena Majumdar (ed.) Symbols of Power: Studies on the Political Status of Women in India, New Delhi, Allied Publishers, 1979.
4. Devaki Jain, Gandhian Contributions Towards a Feminist Ethic, Oxford University Press, New Delhi, 1986.
5. S. Patil, Construction and Reconstruction of Women in Gandhi, Economic and Political Weekly, xx 40.
6. Madhu Kishwar, Gandhi on Women, Economic and Political Weekly, xx 40.
7. Devaki Jain, Indian Women, 1978, p.49.
8. Rabindra Nath Tagore in a song written during this period portrayed Bengal as Goddess Durga who had appeared from within the heart of the land Abanindranath Tagore represented India as Bharatamata, Bharti Ray, p.183.
9. Robert Commell, Gender and Power Society, the Person and sexual Politics, Stanford, C.A. Stanford University Press, 1987, p.187.
10. Ashish Nandy, The Intimate Enemy: Loss and Recovery of Self under Colonialism, Oxford University Press, New Delhi, 1983.
11. Ashish Nandy, At the Edge of Psychology, Essays in Politics and Culture, Oxford University Press, New Delhi, 1980, p.56.
12. Young India, 26 February 1918, M. K. Gandhi, Women and Social Justice, Ahmedabad, 1958.
13. Geraldine Forbes, The Politics of Responsibility, Indian Women and the Indian National Congress in the Indian National Congress Centenary Hindsight, edited by D. A. Law, 1988.
14. Uma Rao, Women in the Frontline: The Case of U.P., Leela Kasturi and Vina Majumdar (eds.) Women and Indian Nationalism, New Delhi, 1994, p.38.
15. Brown, J. H., Gandhi and Civil Disobedience: The Mahatma in Indian Politics, 1928- 1934, Cambridge University Press, 1977, p.292.
16. Dainik Basumati, 3 Feb., 1922, Swatantrata, 8 Dec., 1922, RNNB. Collected Works of Mahatma Gandhi, vol.XLIII: 190.
17. Pat Caplan, Celibacy as a Solution? Mahatma Gandhi and Brahmacharya, ed. The Cultural Construction of Sexuality, London, Routledge, 1989, p.284.
18. Collected Works of Mahatma Gandhi, vol.XLIII: 190.
19. Ibid., vol. XLIII: 12
20. R. Clarks, Note on Feminine Agitators, Govt. of Bengal, Home Political File No.48, serial Nos.1-8
21. Tapan Basu, P. Datta, Sumit Sarkar, Tanika Sarkar and S. Sen, Khaki Shorts and Saffron Flags: A Critique of the Hindu Right, Orient Longman, New Delhi, 1995, p.7.
22. Dutta, K. K., Freedom Movement in Bihar, vol.II, Government of Bihar, India, 1957, p.93.
23. Veena Majumdar (ed.) Symbols of Power: Studies on the Political Status of Women in India, Allied Publishers, New Delhi, 1979, p.93.
24. Magazine Ran Bheri, Benaras.
25. Suruchi Thapar, Women in the Indian National Movement Unseen faces and Unheard Voices, 1930-42, Sage Publications, 2006, p.247.
26. Gandhi, M. K., An Autobiography or the story of My Experiments with Truth, Ahmedabad, Navjivan, 1927, pp.9-10.
27. Gandhi, To the Women in India, Young India, 11 August, 1921, Collected Works of Mahatma Gandhi, vol.xx, p.496.
28. Leela Kasturi and Vina Majumdar (eds.) Women and Indian Nationalism, Vikas Publication House, New Delhi, 1994, p.42.
29. Devidutt Shukla, Striyon ka Karyachetra aur Jawaharlal Nehru, Saraswati, February 1938, p.212.
30. Ibid., p.212.
31. Dagmar Engels, The Limits of Gender Ideology, Bengali Women, the Colonial State and the Private Sphere, 1890-1930, Women's Studies International Forum, 12(4), 1989, p.430.
32. Jasodhara Bagchi, Representing Nationalism: Ideology of Motherhood in Colonial Bengal, Economic and Political Weekly, xxv (42-43): 20-27.
33. Agnew, V., Elite Women in Indian Politics, Vikas Publishing House, New Delhi, 1979.
34. Patil, S., Construction and Reconstruction of Women in Gandhi, Economic and Political Weekly, xx 40.
35. Jasodhara Bagchi, Representing Nationalism: Ideology of Motherhood in Colonial Bengal, Economic and Political Weekly, xxv (42-43): 20-27.
36. Suruchi, Thapar Bjorkert, Women in the Indian National Movement, Sage Publications, 2006, p.79.
37. Gandhi, M. K., The Role of Women, Hingorani (ed.), 1964.
38. Ibid.



39. Bimla Luthra, *Nehru and the Place of Women in Indian Society*, B. R. Nanda (ed.), *Indian Women: From Purdah to Modernity*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1976, p.5.
40. Pushpa Joshi, *Gandhi on Women*, Navjivan Trust, Ahmedabad, 1988, p.5. 4
41. Jawaharlal Nehru, *The Discovery of India*, New York, p.533.
42. Devidutt Shukla, *Striyon ka Karyachetra aur Jawaharlal Nehru*, Saraswati, Feb., 1934, p.229.
43. Jawaharlal Nehru, *Discovery of Indian*, 1982, p.41.
44. Aparna Basu, *The Role of Women in the Indian Struggle for Freedom*, B. R. Nanda (ed.) *Indian Women: From Purdah to Modernity*, Radian Publishers, New Delhi, 1976, p.37.
45. Geraldine Forbes, *Women in Modern India*, Cambridge University Press, 1998, p.146.
46. Vijaylakshmi Pandit, *The Scope of Happiness, A Personal Memoir* London, Widenfold and Nicolson, 1979, p.60.
47. *Printed Source in India Office Library, Jawaharlal ki Mata ka Paigham*, Prescribed Publication, Hin B 146, 1931a.
48. Suruchi Thapar, *The Nehru Women: Conflicts and Stresses during the Freedom Movement*, Manushi, 1993, p. 13.
49. Suruchi Thapar Bjorkert, *Women in the National Movement*, Sage Publication, 2006, p.183.
50. Uma Rao, *Women in the Frontline: The Case of UP*, Leela Kasturi and Vina Majumdar (eds.), *Women and Indian Nationalism*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1994, p.29.
51. Rameshwari Nehru and Roop Kumari Vanchu, *Sampadhakiya*, Stree Darpan, December 1921, p.329.
52. Suruchi Thapar Bjorkert, *Women in the National Movement*, Sage Publication, 2006, p.220.
53. Sumit Sarkar and Tanika Sarkar (eds.), *Women and Social Reform in Modern India*, Permanent Black, 2007, p.223-24.
54. Uma Rao, *Women in the Frontline: The Case of UP*, Leela Kasturi and Vina Majumdar (eds.), *Women and Indian Nationalism*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1994, p.32.
55. Sumit Sarkar and Tanika Sarkar (eds.), *Women and Social Reform in Modern India*, Permanent Black, 2007, p.232.
56. Suruchi Thapar Bjorkert, *Women in the National Movement*, Sage Publication, 2006, p.101.
57. *The Leader*, 12 April 1930, p.10.
58. *The Leader*, 20 April 1930, p.10.
59. *Amrit Bazar Patrika*, 3 April 1931. It was plain that Pandit Jawaharlal wanted it and that Mahatma Gandhi wanted to give
60. *Select Works of Jawaharlal Nehru*, S. Gopal (ed.), New Delhi, 1972, vol.III, 191.
61. Kamala Devi Chattopadhyay, *Indian Women's Battle for Freedom*, 1983.
62. Dhananjay Keer, *Dr. Ambedkar, Life and Mission*, 1962, p.423.
63. *Lok Sabha Debates*, 1955, vol.IV, pt.II.
64. *Constituent Assembly Debates*, pt.II. CAD 1949, pt.II.
65. Jawaharlal Nehru, *Letters to Chief Ministers 1947-64*, vol.II, 1986, 4 Oct., 1951.





A Critical Reappraisal of Feminine Status in Vedic Texts



Key words : Arayan, India, *samaskara*, Maiden, Post-puberty, Hymn.

Abstract : *The present paper deals with the role and position of women as depicted in Vedic texts. Male and females both are primary components of a society. Their satisfactory egalitarian efforts and assiduousness can establish a progressive and systemic society. Consequently, to understand a civilization of any country, at first is essential to know the subject of the role, position, and action of women in that society. Because, if we discuss any social phenomenon, when is automatically coming to relevant of women into this deliberation. We know 'Veda' is the core scripture of the Hindu religion.*

Dr. Nabyendu Roy Choudhury
Assistant Professor
Department of Bangla
B. D. College
Patliputra University, Patna

We know Veda's the essential scripture of Hindu religion, as well as emblem of the practice of divine knowledge and flourishing mentality of Aryan. Indeed, this spiritual treaty had been written for worship of god and goddess, denotation of diets, sacrificial rites. Not only spiritual field but also Vedic literature has a particular historical value. Generally we know, when history had not been written in India, that time some Vedic hymns or verses prescribed several matters as to polices, society, economy, ancient education system, role and prostitution of women, i.e. of ancient India. In spite of paternalistic society, Aryan women was highly respected and got well accommodation from family and society. No doubt, there had no discrimination between man and women in that society. If we do as a scholarly study of the Vedic literature, then it seems that house and society were centralized around women. Due to scholarship, austerities i.e. few of women's achieved equal status with sages. Therefore they could easily participate in all sphere of society because of own freedom, freedom of speech, various divine knowledge's and scholarship.

Aryan household system was unimaginable without women. Many times relevance of lifestyle was illustrated simplification to understand domestic life and matrimonial relation. After completing education maiden naturally got marriage in post-puberty stage. But we don't found a single evidential hymn into Vedic literature. In the case of marriage maiden had fully freedom to select appropriate soul-mate like a young. A customs of polygamy, polyandry widow remarriage, divorce and levirate were being accepted at that time. Due to have religious freedom, women could effortlessly participate any of religious ceremonies and discussions. Nowadays modern women can independently visit anywhere and it seems that they got fearless freedom from predecessors women. This paper has been designed for illustration of role, action and position of Indo-Aryan women, as well as how were being stimulated modern women in every sphere of Indian society.



Introduction : Veda is the most and foremost oldest prominent writing evidence to know ancient India as well as primary scripture of Hindu religion. Even this literature was also emblematically pasteurized the progressive mentality and creative power of Indo-Aryan society. As far it has been composed by Vedic sage around 1000 B.C to 1500 B.C and transmitted orally. Primarily Vedism originated and developed ground on polytheism and divinities endowed with anthropomorphism.

The word 'Veda' drives from the root of 'vid', which means 'to known' or 'to think'. Hence, the wide meaning of 'Veda' is an extension of divine knowledge. Customarily Veda is divided into two parts such as *Samhita* (collections of hymns) and *Brahmana* (interpretation of the ritual texts of *Samhita*). *Brahmana* has divided into parts of *Aranyaka* (composition of hermits) and *Upanishadas* (composition of religious philosophy of Vedism). As again branch of *samhita* have four branches, like as *Rig-samhita* (a collection of chants), *Yajur-samhita* (a collection of prayers and formulas for sacrificial rites), *Sama-samhita* (a collection of chanting songs), and *Atharva-samhita* (a collection of incantations formulas of magic).

After deeply studying each of the parts of Vedic literature, it seems that indeed Vedic literature has been written for denotation of god and goddess, worship of ditties, sacrificial ceremonies, and religious philosophy of divine life. But some Vedic verses or hymns displayed several phenomena such as policies, education system, society, religion, economy, domestic life, women's position i.e. of that time. Despite a paternalistic society, Vedic women were inhabited to the highest dais of respect and emancipation, as well as had animated carefulness of own value. A seed of popular feminist movement in modern India has considered to role, action and position Vedic women. That's why role and position of ancient Indian civilized women are relevant and considerable to study the status of modern Indian women.

The Objective of the Study : The primary objective of this manuscript is to investigate to role, action and status of women in every sphere of Indo-Aryan society. Side by side also examined how so is stimulating the status of females in modern India regarding domestic life, matrimonial life, gender equality, education, society, politics, religion, etc. this framework answered and discussed on problems and rights of women. This research article will give a brief illustration of the role and activities of women in the sector of education, domestic life, society, religion, matrimonial life of Vedic era.

Methodology : Every research paper explores some new findings or thoughts. As a methodology, this paper would be exactly written based on analytical and descriptive methods. By nature this is a qualitative research article. To make a corpus of this paper data was collected from primary sources like *Rig-Veda*, *Sama-veda*, *Yajur-veda*, *Atharva-veda*, *Upanishada*, *Manusmriti*, and *Harit-smriti*. Side by side some of the ideas and information gathered from secondary source such as various journals, Indian religion and history related books. Commentary books, etc.

Theme : Family system is small but important unite of a society. A long-lasting and strong family



system can form a resilient and powerful society. It seems that Vedic society established on the home and family. Women played three types of role in family life where she is Daughter, Wife and mother. In Indo-Aryan society male child was to be desirable but daughter was not neglected by parents. In family life there was no discrimination between son and daughter. In domestic life there were no discrimination between son and daughter. Therefore, *samaskara* must all be performed for daughter like son. Before marriage, maiden lived happily with her parents. Even daughter had rights to funeral rituals of father. In absent of sonless father, daughter could occupied the position of house-owner. Apart from parents, brother could control his sister. Brother and sister were best acquainted with each other in household life.

Generally maiden got marriage in post-puberty stage. Before marriage they were occupied with domestic works and activities. But it is considerable to this context that daughter had imitated rights on paternal property. Generally a widow expected as ascetic life. Side by side she had no share in husband's property. Wife in household life have a vital role from ancient to modern period in Hindu civilization. Wife, another form of women played a respectable in matrimonial life. Regarding this matter, sage Manu in his *smriti* says "if, in a house wife lives with dignity there god are pleasant. Where are not respected there every sacrificial rites are vain."¹ (Manu-smriti 3/56; pp 215) In a place of Rig-Veda likewise declared that- "o lord Indra.

The wife is the house she is resting place of husband"² (*Rigveda- 3/53/4*). Actually this hymns established how domestic life and family concept round the women in society. In another verse of *Rigveda* expressed mutual relation between supreme soul and human soul by metaphor of relation between wife and husband- "two birds of beautiful wings, the individual human soul and the supreme soul of the universe, both friends and companions, together nest on the same one tree of existence. Of the two, one, the individual human soul, eats the fruit with relish and enjoys as well as suffers the consequence, the other, the supreme soul, simply watches comprehensively all round without eating anything"³ (R.V.- 1/164/20; Pp-727) Motherhood is a spiritual transformation of wifehood. In another way it can be spoken that motherhood is the gloried stage of women. She is the first and foremost teacher of a child in domestic life. Therefore, in Vedic society every man looked upon all women as a divine mother. After written Hindu scripture also clearly declared a place of mother is equal as god and goddess.

Marriage is a significant method of breaking up a group of life and forming family system. According to Hindu mythological legend there was a sage named *Dirghatama* during the reign of king Bharat and he was starting marriage system in society. Indeed, marriage in Indo-Aryan society was sacred and flourishing custom. It was also regarding as social and religious duty of Aryan. Naturally maiden got marriage in post-puberty stage. Before get marriage, till she lived with her portents. But we don't any single record to child marriage into whole Vedic literature. Though, a picture of this system is not rear in modern Indian society.

Side by side it is considerable that there has a child marriage act to stop this custom in



modern India. In the case of marriage young and maiden had freedom selected perfect bride and groom in that era. Specially, *svayamvara* marriage system was organizing for princesses. *Svayamvara* meeting is self-choice system of husband by the bride. This type of marriage system was particularly picturized in a place of *Rigveda*, "then she who come for friendship, maid of noble, elected you as husband, you as her lords."⁴ (R.V 1/119/5) Side by side it is notable that the custom of polygamy, polyandry, widow's remarriage, and levirate (*niyoga*) and divorce system were vogueing into society. As for instance, 'due to divorce, *Brihaspati*, teacher of ditties was punished by the society of god and goddess.'⁵ (R.V- 10/109/6-7)

Education is most precious method to develop the society and mentality as well as a helping way to change human behaviors. Indeed, main goals of education in society are to mental development and settling in life. In Indo-Aryan society, Aryan education systems were simple like living. It is truth that religion and spiritualism particularly influenced education system. Wherefore, we can speak it that one of the important role of education in Vedic India were to realizing the ultimate knowledge. In education sector women had equal rights like a man. If we deeply study the Vedic literature then it seems that perhaps manner education and spiritual knowledge were mandatory condition for marriage of a maiden. In a verse of *Atharva-veda* expressed that 'a maiden can succeed in her marriage only if she has been properly trained during the period of studentship (*Brahmacharya*).'⁶ (AV- 9/5/18) *Brahmacharya*, first stage of *ashrama* system is actually student life. A student in Vedic society is called *Brahmachari*. Indeed, Vedic maidens were to spiritual and various subjects. Despite of being a patriarchal society, intelligent maiden was as ideal daughter of her parents.

Rig-veda proclaimed that *Ghosa* and *Badhrimali* were as ideal for scholarly mentality. After completing initiation ceremony maiden used to go house of teacher (*gurukula*) for learning like male students. Generally Brahmin maiden, upper cast of hindu cast system used to learn used to learn spiritual education and spiritual philosophy; side by side *Kshatriyo* daughter, second state of four types of cast system in Hindu religion would like to practice arch-education. In vedic literature Maitreyi, Gargi, Sulabha i.e. women were acquainted as *brahmayajna*. They were properly scholar and contributing own knowledge for advance education. In *Harit-smriti* sage Harit divided the Vedic women into two parts such as '*Brahmavadinis*' and '*Sadyodvahas*'⁷. At the age of eight or nine, naturally maiden would go to *gurukula* and used to learn y heart the Vedic hymns. 'They prescribe for the daily and periodical prayers and for those rituals and sacraments in which they had to take an action part after their marriag.'⁸ After completing the study, they would get marriage around sixteen or seventeen years old and entered into household life. By heart, *sadyodvahas* were attached with materialistic world. But, *brahmavadinis* would conquer the wordlist world and used to invest integral life trying to know the supreme knowledge, which is called '*Brahmayajna*'. Mostly they were attaching with Vedic and philosophical studies. '*Brhadaranyaka Upanishada*' also extensively discussed about them. We found a picture in this *Upanishada*, where a popular sage, named *Yajnavalkya* was perplexed to see eloquence of *Gargi* in the assembly of king *Janaka*. A naming list of *brahmavadinis* women were founded in *Rig-*



veda who had famous for seer and author of Vedic verses and hymns.

They were, such as- Ghosa [she, wife of sage *Kaksivan* is seer two long verses (*mantra*) of 39 & 40 hymns (*sukta*) of 10th books (*mandala*) of *Rigveda*], *Dakshina* (she was auther all verses of 103 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*). *Sraddha* (she is auther in all verses of 151 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*), *Lopamudra* (she, wife of sage *Agastya* is seer in all verses of 179 hymns of 1st *mandala* of *Rigveda*), *Romasa* (she, another wife of sage *Kaksivan* was seer in all verses of 126 hymns of 1st *mandala* of *Rigveda*), *Surya* (she, daughter of *Savita* (sun) and wife of moon (*Soma*) was author seer in all marriage related verses of *Rigveda*), *Visvavara* (she is seer in all verses of 28 hymns of 1st *mandala* of *Rigveda*), *Juhu* (she, wife of *Brihaspati* was seer in all verses of 109 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*), *Urvasi* (she, an apsara (dancer) in heaven wedded to king *Pururava* and seer seer in 2, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 16, and 18 number verses of 95 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*), *Yami* (she, sister of *Yama* was author with her twin brother in all verses of 10 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*), *Saswati* (she, daudhter of sage *Angira* and wife of king *Asanga* was seer in all verses of 1st hymns of 8th *mandala* of *Rigveda*), *Sachi* (perhaps her actual name is *Paulami* and seer in all verses of 159 hymns of 10th *mandala* of *Rigveda*), *Indrani* (she, consort of king of heaven *Indra* was seer of verses 2, 4, 5, 6, 7, 9, 10, 15, 18, 22, and 23 of hymens 86 of 10th book in *Rigveda*), *Bagamvarini* (she was author of all verses of hymens 86 of 10th book in *Rigveda*), *Sharama* (she was author of all verses of hymens 108 of 10th book in *Rigveda*), *Godha* (she was seer of all verses of hymens 134 of 10th book in *Rigveda*) etc. Not only religious study, but also they were highly educated in the field of literature, fine arts, drama, musical instrument, music, dancing etc. Generally, *kshatriya* maiden like to learn art of war and admitted to army. They also participated to battle. A few of verses in *Rigveda* prescribed this system. For example we found two women's battler name in hymns 39 & 40 of book 10th of *Rigveda*, whose name was '*Badhrimati*' and '*Bisapal*'. *Badhrimati* lost hands and legs in battle-field. Other women *Bisapal*, wife of king *Rable* was a soldier of her husband's army. In according with *Rigveda*, 'gracious contribution of wife *Mudgal* associated with got victory of king *Mudgal*'. (R.V. - 10/102)

Religion was backbone of Indo-Aryan civilization and culture and it established on sacrificial rites (*yajna*). At that time women had sufficient religious freedom like male, side by side religious customs and ceremonies were jointly performed by husband and wife. Though, after studying the *samaskara* or customs, it seems that Aryan women were untouchable during her monthly period. Because, many of Hindu religious persons till now believe that a women at periodical time is impure. As well as, women have been impure during the time of confinement. Apart from during the time of period and confinement, they have rights for prayer and scarification of diets. Sacrificial rights of women were respected without hindrance.

That's why in a place of *Atharva-veda* clearly expressed that 'women have full rights in scarifications'¹⁰. (A.V. 11/1/27) A few of women, especially unmarriage once, were regularly offering vedic scarification. For example, in a place of *Rig Veda*, a Vedic female scholar, who's named '*Visvavara* regularly getting up early morning and used to individually organize and



perform scarification all herself.¹¹¹ (R.V.- 5/28/1) A similar picture visualized in another place of Rig-veda, where *Indrani*, spouse of *Indra* (king of heaven) proudly claimed that she had started some rites and rituals.¹¹² In domestic life Aryan husband and wife simultaneously regular performed sacred five types of fire scarification (*panchamahagni-yajna*) such as *Deva-yajna* (scarification of god), *Brahma-yajna*, *Pitri-yajna* (scarification of ancestor), *Bali-vaiswadeva yajna* and *Atithi-yajna* (guest reception). Even, women used to actively and individually participate in any religious discussion due to scholarship. Ascetic life is too significant stage of life in Hinduism. At that time women at end of life would go to forest conquered materialistic world and they prayed to god for emancipations. In a place of Rig-Veda hermits women denoted the term of '*Aranyani*'¹¹³. (R.V- 10/146/2) Consequently, it proved that there has not been obstacle for women to study or read any of scripture and performed any religious custom, rituals and scarification.

The study and status of women in economical world is a recent phenomenon. We didn't found a clear outline of economical status of women in early Vedic era. But it is remarkable subject that "the main occupation of the people of the Vedic age was agriculture and stock-raising."¹¹⁴ (A history of India, pp 36). Though, women had imitated rights to economical field. Perhaps, earning was not mandatory objective of learning the subject of fine arts and literature. But an emergency time they could earn money to help husband and family by utilization of own education. Basically women were actively joined with agriculture, preservation and protection cow, animal husbandry and woof of garments. Women associated with her husband agricultural work. In Vedic era one of most and foremost economical source was agriculture. In according with *Atharva-veda* man prayed to god Prthibi- "Prthibi you are mother and we are your sons."¹¹⁵ (A.V. 10/3/13). In another place of *Atharva-veda* also expressed that "o sun and wind, farmers and helpers, listen to the water which you create in the religions of light of knowledge, bring that down to irrigate his holy land of the fields."¹¹⁶ (A.V. - 3/17/8, pp 197). Production of cow invigorated the economy of Vedic society. Therefore, cow was not only accepted as domestic animal, but also it considered as a precious property. By heart Aryan beloved that profit of keeping of cow was as cause of long life of mankind, productive of land, and demonization of disease.

In a place of *Atharva-veda* also extensively discussed following the feeding of cow- "O cow, mother spirits of the nation's body, mind and soul, give health and vigor to weak, turn the ugly to beauty and grace. O people make the home overflow with peace, property and the bliss of good fortune. You command noble speech and your life and work is praised in the assemblies of the wise."¹¹⁷ (A.V. – 4/21/6 pp312). Women in Vedic period were always alert to protect property of cow. For example, in hymns 108 of book 10th of Rig-veda seen that a vedic women of Sarama was trying whereabouts have the losing like a spy. Side by side women actively played an admirable role in the case of woof of garments. Vedic literature clearly refers to that three types of garments were voguing for women in society, such as under garment (*vasahantaram*), upper garment (*paridhananam*), and lower garment. Basically, women weaved garments for children's



and husband in family. For example, in a place of Rig-veda visualized 'two companion women's weaved the warp and woof of cloth for wearing on the time of sacrificial rites (*yajna*).¹⁸ (R.V.- 2/3/6, Pp- 872.). It seems that clothes were woven by needle in Vedic era because of written above needle in *Rig-Veda*.

Conclusion: In conclusion, there had no complexity in Vedic Indian society. Aryan women's had a lot of rights to interfere in every field of society. As well as fertilized and glorified their society by their intellectuality and strong alterability. At that time women were benefactors of the country, nation, and society. From time to time they advised man on several matters. Welfare virtues were born among women as their high education, independent thoughts, infinite freedom and connection at several levels of society. It seems that women were like a seed and man were like fertile land. Aryan males and females both build up a systemic progressive society by their unselfish efforts and actions. Nowadays we can see the triumph of women in everywhere of the global world. In several fields of Health, politics, science education, research, economy i.e. women are playing a vital and responsible role like a man. Even, at present time we should that feminism and women empowerment has rooted into the Vedic civilization. Consequently, it can be mentioned that the discussion of modern women is incomplete apart from the knowledge following the role, action and status of women in Vedic India.

Reference:

1. Acharya, shivaraj. 'Manusmriti', Volume - 1, Varanasi: Chowkhamba Vidyabhawan, 2005. Pp- 215.
2. Ram, Tulsi '*Rigveda*', Volume - 1. Ajmer: Paropakarini Sabha, 2013. Pp 1273
3. Ibid. Pp. 727.
4. Ibid. Pp. 526.
5. Ram, Tulsi '*Rigveda*', Volume - 4. Ajmer: Paropakarini Sabha, 2003. Pp 985-986
6. Ram, Tulsi '*Atharva-veda*', Volume - 1. Ajmer: Paropakarini Sabha, 2013. Pp 1005.
7. Tarkaratna, Panchanan. '*Unabingsati Samhita*'. Calcutta: Bangabasi Electro Press, 1909. Pp 455.
8. Altekar, A.S. '*The position of Women in Hindu Civilization*', Benares: The Culture Publication House, 1938 pp-15.
9. Ram, Tulsi '*Rigveda*', Volume - 4. Ajmer: Paropakarini Sabha, 2013. Pp 949
10. Ram, Tulsi '*Atharva-veda*', Volume - 2. Ajmer: Paropakarini Sabha, 1st editon, 2013. Pp 14-15
11. Sharma, Ram. '*Rigveda samhita*', Volume – 2. Mathura: Yug Nirman yojna Bistar trust, 2015. Pp 42.
12. Sharma, Ram. '*Rigveda samhita*', Volume – 2. Mathura: Yug Nirman yojna Bistar trust, 2015. Pp 176.
13. Ibid. Pp. 251.
14. K. Antonova, G. Bongard-Levin & G. Kotovsky. '*A history of India*'. Book-1, Moscow: Progress publishers, 1st Printing, 1979. Pp 66.
15. Sharma, Ram. '*Atharvaveda samhita*', Volume – 2. Mathura: Yug Nirman yojna Bistar trust, 2015. Pp 11-12.
16. Ram, Tulsi '*Atharva-veda*', Volume - 2. Ajmer: Paropakarini Sabha, 1st editon, 2013. Pp 197
17. Ibid. Pp. 312.
18. Ram, Tulsi '*Rigveda*', Volume - 1. Ajmer: Paropakarini Sabha, 2013. Pp 872.





BIRD MIGRATION

in Bihar and the Eastern Indo-Gangetic Plains

Patterns, Drivers and Conservation Perspectives

Abstract : *Acts of flight have long fascinated humans; yet it is the remarkable journeys of birds, some weighing as little as three grams, that traverse thousands of kilometers by their own navigational choice that remain truly extraordinary. Migration stands out as one of the most captivating natural phenomena, representing a purposeful and highly regulated movement undertaken in search of food, suitable territories, nesting and breeding sites, and other essential resources essential for survival and reproductive success. Over the past decades, a substantial body of scientific literature has highlighted the ecological, physiological, and evolutionary significance of avian migration; however, much of this information remains geographically dispersed and often biased toward well-studied regions outside the tropics. India lies along major global migratory flyways and hosts diverse wetlands, grasslands, and riverine systems that serve as critical wintering and stopover habitats. Within this framework, the eastern Indo-Gangetic plains particularly the floodplain wetlands of Bihar support large assemblages of migratory waterbirds but remain under-represented in review literature. While sites such as the Ramsar-designated Kanwar Lake exemplify the regional importance of these habitats, numerous smaller wetlands collectively function as complementary wintering and refuelling sites. This review synthesizes global concepts of avian migration with region-specific evidence from India, emphasizing migratory drivers, flyways, habitat use, threats, and conservation priorities, and aims to provide a consolidated reference to inform future research and wetland conservation in under-studied landscapes.*

Keywords: Bird migration; Migratory waterbirds; Central Asian Flyway; Indo-Gangetic plains; Kanwar Lake (Kabartal); Bihar;

Introduction : The term migration is derived from the Latin word migrare, meaning “to move from one place to another,” “to change residence,” or “to depart.” Migration is a widespread biological phenomenon observed across diverse animal groups, including butterflies, crabs, frogs, newts, locusts, sea lions, sea turtles, fishes, and birds, with the distance travelled varying considerably among species [1]. Among these groups, birds exhibit some of the most



GITANJALI

Visiting Faculty,
Department of Zoology,
B D College
Patliputra University, Patna.



remarkable and regular long-distance migratory movements, largely owing to their advanced flight capabilities, physiological adaptations, and sophisticated navigational skills.

Human fascination with bird migration dates back to antiquity. Aristotle (384–322 BC) documented the seasonal disappearance of bird flocks, though he incorrectly proposed winter hibernation; nevertheless, early civilizations recognized avian homing abilities that later enabled the use of carrier pigeons for wartime communication. Their strategic value during the First and Second World Wars underscores long-standing human admiration for avian navigation [1].

Although migration is a defining avian trait, not all species migrate. Resident and partially migratory species often coexist with long-distance migrants, as observed in wetlands such as Keoladeo National Park. Migratory birds nevertheless undertake predictable seasonal journeys to exploit favorable food availability, habitat conditions, and breeding or wintering grounds.

India lies along major global migratory flyways and functions as an important wintering and stopover region for birds migrating from Central Asia and Siberia [2–4]. Large congregations of migratory waterbirds arrive during winter, transforming wetlands across western and southern India [5]. Sites such as Thane Creek, the Rann of Kutch, Sambhar Lake, and Chilika Lake exemplify this importance [4,6]. Extending eastward, Kanwar Lake Bird Sanctuary (Kabartal) in Bihar Asia's largest freshwater oxbow lake and a Ramsar site supports nearly a hundred species of migratory birds during winter [7–9]. Despite this, wetlands of the eastern Indo-Gangetic plains remain under-represented in migration literature. This review integrates global concepts with evidence from India, emphasizing migratory drivers, habitat use, and conservation challenges.

Types and Patterns of Bird Migration : Bird migration can be classified by direction, extent, and ecological drivers. Latitudinal migration involves north–south movements, typified by species such as the Arctic tern [2]. Longitudinal migration reflects east–west movements influenced by climatic gradients and habitat availability [10], while altitudinal migration involves seasonal vertical movements in mountainous regions [11].

Based on population involvement, complete migration includes the entire population, whereas partial migration involves only specific age or sex classes [2,10]. Differential migration describes variation in timing or destination among groups [11]. Additional patterns such as seasonal, irruptive, nomadic, loop, leapfrog, and vagrant migrations represent adaptive responses to fluctuating resources and climatic variability [2,10,11].

Bird Migration in India : India occupies a central position along the Central Asian Flyway and serves as a critical wintering and stopover region for birds from Central Asia, Siberia, Mongolia, and parts of Europe [3,4]. The country's diverse habitats from Himalayan ecosystems to coastal mudflats, inland wetlands, grasslands, and riverine floodplains provide extensive foraging and roosting opportunities [4,6]. Seasonal food abundance and widespread wetlands make India particularly attractive to migratory waterbirds during the non-breeding season [5].

Bird Migration in Bihar and the Eastern Indo-Gangetic Plains : The eastern Indo-Gangetic plains form a vast alluvial landscape shaped by rivers such as the Ganga, Gandak, Kosi, and Son,

characterized by floodplain wetlands, oxbow lakes, marshes, and seasonally inundated fields [12]. Despite high ecological productivity, this region has received limited focused attention in migration research [13].

Kanwar Lake Bird Sanctuary is the most prominent wetland in Bihar, designated a Ramsar site in 2020 and supporting large wintering assemblages of migratory waterbirds [7–9]. Beyond this flagship site, numerous smaller wetlands and riverine habitats across Bihar also contribute to migratory connectivity. The Ganga floodplains near Bhagalpur, including river islands and sandbars, support wintering ducks, geese, waders, and gulls, reflecting high ecosystem productivity near the Vikramshila Gangetic Dolphin Sanctuary.

Riverine habitats around Danapur Cantonment near Patna similarly support seasonal assemblages of migratory waterbirds using shallow channels, sandbars, and adjacent grasslands. In north Bihar, wetlands and chauris of Sitamarhi and neighboring districts provide winter habitats for ducks, herons, egrets, and shorebirds. Wetlands in Nalanda district, including Giddhi Lake and water bodies around Pawapuri and Rajgir, support both resident and migratory species, while the Jamui region at the Indo-Gangetic plain Chotanagpur Plateau interface offers additional transitional habitats.

Collectively, these largely unprotected sites function as secondary wintering and stopover habitats that complement Kanwar Lake and support diverse migratory guilds (Figure 1). Their scattered yet interconnected distribution highlights Bihar's role as a landscape-level migratory corridor. However, limited systematic surveys and long-term monitoring from districts such as Bhagalpur, Patna, Sitamarhi, Nalanda, and Jamui represent a significant knowledge gap [13,14].

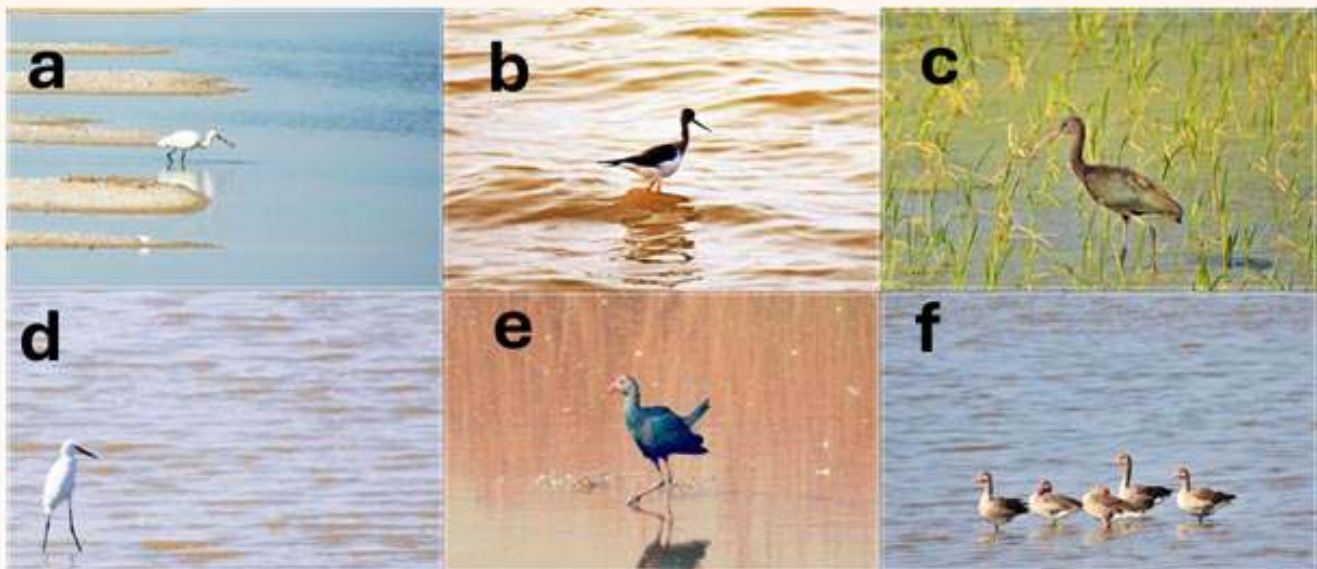


Figure 1. Representative migratory and winter-visiting waterbirds: Panels show (a) Eurasian Spoonbill, (b) Black-winged Stilt, (c) Glossy Ibis, (d) Little Egret, (e) Purple Swamphen, and (f) Greylag Geese, illustrating the diversity of migratory guilds utilizing riverine, floodplain, and wetland habitats during the winter season. These habitats function as critical foraging and stopover sites along the Central Asian Flyway. (Photo credit: Dr. Mrityunjy Halder, AIIMS Patna)

Drivers and Ecological Significance of Bird Migration : Migration is driven by seasonal food availability, climatic conditions, breeding requirements, and avoidance of competition or predation [2,11]. In Bihar, shallow wetlands, floodplain productivity, and relatively mild winters attract migratory birds from higher latitudes. Floodplain wetlands, oxbow lakes, river channels, sandbars, and seasonally inundated fields provide abundant food resources for diverse foraging guilds, including ducks, geese, waders, and piscivorous species.

Migratory birds also play important ecological roles by facilitating nutrient transport, enhancing nutrient cycling through guano deposition, and regulating aquatic food webs [15]. Their seasonal presence serves as a sensitive indicator of wetland health and environmental change.

Threats and Conservation Perspectives : Migratory birds in Bihar face multiple threats, including habitat loss, wetland degradation, agricultural expansion, urbanization, and pollution [6,16]. Climate change further alters hydrological regimes, migration timing, and habitat suitability along flyways [17]. Floodplain wetlands are particularly vulnerable to encroachment, eutrophication, invasive aquatic plants, unregulated fishing, and hunting [7,13]. Many smaller wetlands lack formal protection and effective monitoring.

Effective conservation requires a flyway-level approach integrating habitat protection, wetland management, and international cooperation [3]. While frameworks such as the Ramsar Convention and the Central Asian Flyway Action Plan provide guidance, their success depends on site-level implementation and community engagement [7,16]. In Bihar, conservation must extend beyond flagship wetlands to include smaller floodplain lakes, riverine sandbars, and peri-urban habitats. Strengthening baseline surveys, long-term monitoring, and district-level documentation is essential (Figure 2).



Figure 2. Conceptual overview of bird migration through Bihar, highlighting its role within the Central Asian Flyway, key drivers of migration, major movement patterns, critical wetland habitats such as Kanwar Lake, and the principal anthropogenic threats affecting migratory connectivity. (Image generated using Google NotebookLM)



Conclusion : Bird migration is a complex ecological phenomenon shaped by evolutionary, physiological, and environmental factors. Wetlands of the Indo-Gangetic plains, particularly in Bihar, play a crucial yet under-recognized role as wintering and stopover habitats. By integrating global migration concepts with region-specific evidence, this review highlights the importance of floodplain wetlands, riverine landscapes, and smaller district-level water bodies. Addressing knowledge gaps through focused research, long-term monitoring, and inclusive conservation strategies will be vital for sustaining migratory bird populations and safeguarding these dynamic ecosystems within the Central Asian Flyway.

References

1. Mathur R. (Animal behaviour) . 5th ed. Meerut (India): Rastogi Publications; 2005. ISBN: 81-7133-747-3, 152–157.
2. Newton I. The migration ecology of birds. London: Academic Press; 2008, 1–56.
3. Convention on Migratory Species. Central Asian Flyway Action Plan. Bonn: UNEP; 2015, 1–39.
4. Grimmett R, Inskipp C, Inskipp T. Birds of the Indian subcontinent. 2nd ed. Oxford: Oxford University Press; 2011, 34-41.
5. Alerstam T, Hedenström A, Åkesson S. Long-distance migration: evolution and determinants. *Oikos*. 2003;103: 247–260.
6. Kirby JS, Stattersfield AJ, Butchart SHM, Evans MI, Grimmett RFA, Jones VR, et al. Key conservation issues for migratory land- and waterbird species. *Conserv Biol*. 2008;22: 1–13.
7. Ramsar Convention Secretariat. Ramsar Sites Information Sheet: Kanwar Lake. Gland; 2020, 1-7.
8. Wetlands International. Waterbird population estimates. 5th ed. Wageningen; 2012, 15-38
9. Kumar A, Sinha A. Status of wetlands and migratory birds in the eastern Indo-Gangetic plains. *Indian Birds*. 2018;14:1–10.
10. Dingle H. Migration: the biology of life on the move. 2nd ed. Oxford: Oxford University Press; 2014, 1-28.
11. Berthold P. Bird migration: a general survey. Oxford: Oxford University Press; 2001, 3-45.
12. Gopal B. River floodplains of India: ecology and management. *Curr Sci*. 2005;88:1620–1626.
13. Rahmani AR, Islam MZ, Kasambe R. Important Bird and Biodiversity Areas of India. Mumbai: BNHS; 2016, 27-48.
14. Sundar KSG, Kittur S. Can protected areas conserve bird diversity in human-dominated landscapes? *Biol Conserv*. 2013;159:318–327.
15. Green AJ, Elmberg J. Ecosystem services provided by waterbirds. *Biol Rev*. 2014;89:105–122.
16. Davidson NC. How much wetland has the world lost? *Mar Freshw Res*. 2014;65: 934–941.
17. IPCC. Climate change 2022: impacts, adaptation and vulnerability. Cambridge: Cambridge University Press; 2022, 204-238.





Digital Governance and Constitutional Accountability in India



Dr. Aparajita
Assistant Professor
Department of Political Science
B. D. College
Patliputra University, Patna

ABSTRACT : *The era of digital age no doubt has transformed the process of communication, interaction and information among people to a large extent. However, such transformation has raised several concerns like cyber security, infringement of data privacy and misuse of information. Such challenge has become more prominent in a democratic and populated country like India. The Indian constitution through its several provisions of fundamental rights and directive principles have proved to be instrumental in explaining the domain of data privacy and security within its legal framework. The paper analyses the role of Indian Constitution in response to challenges posed due to enhancement of technological field in different areas concerning the daily lives of the people. Against these backdrops the paper has been divided into several sections. The first section discusses and examines several government initiatives for encouraging digital India. The second section analyses the constitutional challenges of digital age in India. The third section examines the case studies that demonstrates the conflicts between the constitutional provisions and digital society. The fourth section deals with several government's initiatives and policies to address cyber security concerns. The fifth section of the chapter analyses problems in the constitutional framework. The sixth section of the paper provides certain suggestions required for balancing the constitutional provisions with the era of digital advancement and unrestricted flow of information and data. The last section concludes with certain implications and recommendation concerning the digital age and the constitutional challenges in India.*

Key Words: *Indian Constitution, Fundamental Rights, Technology, Information Technology Act 2000, Personal Data Protection Bill Act*

INTRODUCTION

The contemporary digital landscape is characterised by e-communication, virtualisation, globalisation and extensive information sharing (Romansky, 2024). These developments have facilitated an unprecedented circulation of knowledge, services, and goods across multiple levels. However, they have also resulted in an increasingly unrestricted and unregulated flow of information and data, giving rise to significant concerns relating to privacy and security. From the perspective of the Constitution of India, this unrestrained data flow poses a range of complex challenges. Several issues such as the digital divide, the right to privacy, the right to equality, freedom of speech and expression, judicial oversight and law enforcement, as well as data security and privacy, have emerged as critical concerns in an increasingly interconnected digital society. Consequently, there is a pressing need to strike an appropriate balance between safeguarding individual privacy and fostering technological innovation in the digital age, particularly in order to address the challenges posed by cross-border cybercrimes.



At the same time, the Constitution of India embodies several fundamental rights, including the right to freedom of speech and expression, the right to information, and the right to privacy. While these constitutional guarantees are essential in a democratic framework, their application in the digital context has inadvertently contributed to emerging challenges such as cyber threats, cybercrime, and security vulnerabilities accompanying rapid digital advancement. Against these backdrops, the present chapter is structured into several sections. The first section examines various governmental initiatives aimed at promoting Digital India. The second section analyses the constitutional challenges arising in the digital age in India. The third section explores selected case studies that illustrate the tensions and conflicts between constitutional provisions and digital society. The fourth section discusses government initiatives and policy measures designed to address cybersecurity concerns. The fifth section critically analyses the limitations and challenges within the existing constitutional framework. Finally, the sixth section offers suggestions and recommendations for effectively balancing constitutional provisions with the demands of digital advancement and the unrestricted flow of information and data. The last section concludes with certain implications and recommendation concerning the digital age and the constitutional challenges in India.

Rationale and Scope of the Study

The study is an attempt to examine the relevance of the Indian Constitution having the provisions like Right to Freedom of Speech, Right to Privacy, and Right to Information etc. in the era of technological advancement and digital age. It assesses the challenges and hurdles that the constitution face during this age. An effort has also been made to understand and examine several initiatives by the Government of India in the field of technology and how these initiatives have helped people in adapting to technological era. The research would contribute for policy makers in examining the relevance of constitution in the digital age and making amendments according to the current time of digital age and it would also help people in being aware about negative impacts of technological age.

Objectives of the Study

The study has been undertaken keeping the following objectives in mind: 1) To analyse several initiatives by the government for encouraging digital awareness among people. 2) To focus and examine challenges and hurdles to the constitution of India in the digital age. 3) To discuss several case studies that creates a conflict between the constitutional provisions and the digital India. 4) To examine initiatives by the government in order to address cyber security concerns. 5) To suggest several steps that can be helpful in balancing the constitutional provisions concerning several citizens' rights and the era of technological advancement.

Research Methodology

The research methodology used in the research are descriptive, analytical, comparative, case study, correlational and qualitative and is based on data collected from primary and secondary sources. The primary sources include the documents and reports from the government website like Ministry of Telecommunication and Ministry of Electronics and Information Technology. The secondary sources include the data from relevant books, articles and journals from



different publications.

Government Digital India initiatives

There has been several initiatives by the Government of India to encourage digitisation. The identities and payments have been digitised through Aadhaar that provides unique identity to Indians and UPI payments through mobiles by using the BHIM app globally. If seen in the aspect of delivery of services and e-governance, the use of Digi Locker, UMANG, e-Marketplace, platform like MyGov.in and e-office are some of the steps to encourage the process of digital India (Mishra, Raghubar Dayal, 2023). The Bharat Net is a project to provide affordable and high speed broadband connectivity to all Gram panchayats for ensuring the reduction of gap between rural and urban divide. This has been encouraged to enable e-health, e-education and e-governance etc. The National Digital Literacy Mission was launched around 2014 as vision for 'Digital India'. The aim of this mission is educate at least one person from each household by providing training in the IT skills (GOI 2025). There has also been efforts for encouraging digital use in different sectors like DIKSHA for education, Co-WIN for COVID-19 vaccination, e-NAM for agriculture, e-Hospital for health and e-Sanjeevani for telemedicine (Ibid.). The introduction of Skill India Digital Hub (SIDH) for training and livelihoods, GENESIS for encouraging start up in technology in smaller countries and Centers of Excellence (CoEs) that would emphasise on modern technology like Artificial Intelligence. The PM Gramin Digital Saksharta Abhiyan was launched to educate the rural population especially minority groups in using internet, emails, digital devices and payments. The Information Technology Act (ITA) 2000 is a law for cybercrime, digital transactions and electronic signatures and records. The Section 43 of the ITA 2000 talks about penalties for any illegal or unauthorised access to computer system. The Section 66 of the ITA 2000 talks about penalties against cyber terrorism (Legislative Department, 2000). Under this act there are also strict provisions against hacking and child pornography. The section 353 and 294 of Bhartiya Nyaya Sanhita talks about laws against spreading misinformation that disrupts public order. The Digital Data Protection Act 2023, is one of the important step taken by the Government of India to overcome the personal data related challenges (Poornima 2019).

Constitutional Challenges of Digital age in India

There are certain constitutional challenges of the digital age in India. This section analyses few important provisions and its challenges in the era of digital advancement. There is high tendency of misuse of Privacy rights due to collecting, storing, processing and gathering of data. The Supreme Court of India in 2017 in the K.S. Puttaswamy v. Union of India case delivered the that Right to Privacy is a fundamental right mentioned under Article 21 (Right to Life and Personal Liberty) (Panigrahi and Mehta 2022). The Supreme Court agreed that having access to internet is human's basic right and also upheld the relevance of having digital education that has been enshrined in the Right to Education and Right to Privacy. The free flow of information in the digital area raising the concerns of cybersecurity that has a huge impact on e-governance and availability of data. Article 19(1)(a) talks about the right to information essential for



maintaining the system accountable and transparent (Nongdhar, 2024). There is a need for control and protection of data due to digitalization of records and services related to Government. This will be helpful for citizens to exercise their rights without negatively impacting the security and privacy. Article 14 of the Indian Constitution talks about Right to Equality which includes the rights to equal protection under the law and equality before the law. It becomes difficult to guarantee equal rights in terms of digital opportunities and resources that enlarges the gap between rural and urban population and between different classes (Addagarla 2022). There is a need to bridge the gap of resource discrimination and guarantee of inclusive growth for all sections of the society. The Freedom of Speech is guaranteed under Article 19(1)(a) of the Indian Constitution (Singh 2025). This freedom can be curtailed by internet shutdowns, censorship, and online content regulations. The negative use of social media and fake news makes it difficult to maintain a balance between the freedom of speech and preserving data security. The Constitution authorises Supreme Court under Article 32 and High Court under Article 226 to issue writs for the protection of Fundamental Rights (Ravi 2022). But the age of technology affects their working leading to ambiguities and implementation difficulties. The protection of IPR [Article 19(1) (g)] have become difficult and challenging in the era of technological revolution with unrestricted flow of information and data (Anam 2024).

Case Studies concerning Constitutional provisions in the Digital Age

In the Shreya Singh vs Union of India case, the Supreme Court ruled that the Information Technology Act of 2000 violated the Right to freedom of Speech and allowed for arrest of those posting offensive online content (Singhal and Alam 2015). Similarly, the Anuradha Bhasin vs Union of India dispute was concerned with the internet shutdown in the disputed area of Jammu and Kashmir. The court ruled that the indefinite internet shut down is against the Right to Freedom of Expression and violates the basic constitutional right (Martin 2020). The Rangarajan vs Jagjivan Ram verdict marked the relevance of digital platform in the form of cinema and provided judgement in favour of the freedom of speech of citizens in the digital age (Sakshi and Raj 2023).

Government's initiatives and policies to address cyber security concerns

This section examines several government initiatives in order to address cyber security concerns. The National Cyber Security Policy (NSCP) was established in 2013 to protect citizens from cyber threats through raising awareness, encouraging innovation in this field and promoting co-operation at the international level (MeitY 2024). The National Cyber coordination centre (NCCC): The NCCC acts as a control room for cybersecurity. It helps in monitoring cyberspace by detecting threats and also collaborates with several security agencies to overcome cyber threats. The Indian Cybercrime Coordination Centre (ICCC): The ICCC acts a nodal agency for handling cyber threats by providing portal (www.cybercrime.gov.in) for public and helpline number (1930) for reporting frauds related to cybercrime. The Computer Emergency Response Team (CERT): The CERT is a group working under Ministry of Electronics and IT by providing support and issuing alerts against cyber



threats (ICCC 2025).

Problems in the Constitutional Framework

Though there are provisions in constitution for overcoming the challenges of digital crime, there are certain problems associated with these constitutional frameworks that are examined in this section of the paper. There is a lack of Explicit Provision in the Constitution on Privacy rights. Though judiciary in several of its verdicts talked about safeguarding Right to Privacy, there is absence of any specific provision in the constitution regarding data protection and data privacy. There has been rapid technological development in different Sectors. The constitution framed in the 20th century could not foresee the vast development of technology and the threats arising from such unfiltered flow of information and data. Subsequently, the Constitution did not provide for clear provisions concerning technological development. It becomes challenging to balance rights to freedom of speech and the government regulations. It becomes difficult for the Government to balance Right to Freedom of Expression and their rules and regulation in the digital space. There is a need for clear guidelines to measure and regulate digital content without infringing on the rights to freedom of speech and expression. There is a lack of clarity in legal provisions: There is absence of clarity in legal provisions concerning data protection and cyber security which increases the risk of cybercrimes. There are also resource constraints in terms of capacity and expertise. The complex cyber-crimes lack expertise and training which acts as a hurdle for effective law enforcement measures. The problems of collaboration and co-ordination amongst different departments are another important hurdle and challenge. There is a need for effective team work amongst various stakeholders and with the government and other international organisations for dealing with the issues of cyber threats. Such coordination has been a challenge in the recent times.

Suggestions and Recommendations

This section proposes with several suggestions and recommendation that can be helpful in preventing the issues of cyber threats and cybercrimes in the era of technological advancement. There is a need for stakeholders engagement at different Levels. There is a need to involve all stakeholders including private sectors, technical and law firms, government agencies and civil society for dealing with the problems of cybersecurity and cyber threats. Maintaining Balance between Innovation and Regulation is another important requirement in the technological age. There is a need for innovations in the area of technology for encouraging foreign investment and entrepreneurship. Along with such innovation, it is essential to maintain effective regulations to prevent the negative impact of digital innovations. It becomes necessary to effectively implement acts related to digital protection. There are several acts like the Digital Data Protection Act of 2023 that needs to be implemented in full faith for welfare of the people. There should be explicit privacy clause for data protection in the constitution (MeitY 2024). Such clear and well-defined clause would be helpful in data protection and prevent the misuse of unfiltered data in the digital era. The technological friendly constitution and flexible legal frameworks are required for this age. The constitutional provisions should be adaptable to the technological change in the digital era as frequent amendments is time and resource



driven. There is also a need for periodic review of legal provisions. The legal provisions must be reviewed periodically as a result of technological development so that laws are effective and relevant at different times in different situations. Learning from different legislations of the world becomes one of the compulsory tasks for policy makers. There is a need to develop comparative legislation and learn from best practices effective globally concerning areas of cyber security, data protection and digital rights in order to fill the gap in existing laws (Cordell and Gualdi 2025). The collaboration with other international organisations and bodies would be helpful in dealing with the issues of cybercrimes collectively which would definitely fetch effective results. Training and capacity building need more investment and attention in this field. There is a need to invest in capacity building and training programmes for people dealing with the issues of cyber-crime and digital protection. There is a need to launch public awareness campaigns to educate citizens about their digital rights and responsibilities (Bose et.al 2025). Such education would be helpful in promoting digital literacy that would help individuals to protect their data and maintain digital privacy. The experts especially in field of digital advancement, cyber threats and cyber security should be consulted for the formulation and review of the laws related to digital rights and regulations.

Conclusion

The era of rapid technological advancement has profoundly transformed the everyday lives of people across the globe. However, the unregulated and expansive flow of information and data has simultaneously given rise to complex challenges relating to cyber threats, cybersecurity, and data privacy. In this context, it has become increasingly difficult to strike an appropriate balance between constitutional guarantees such as freedom of speech and expression and the free flow of data, which at times facilitates cybercrimes. As discussed, governments have undertaken multiple initiatives—on the one hand, to promote digital transformation through programmes such as Digital India, and on the other, to prevent and combat cybercrimes both within and beyond national borders. This underscores the pressing need to balance technological innovation with effective regulatory frameworks established through governmental provisions. Equally significant is the role of citizens, as public awareness of legal rights and adequate knowledge of mechanisms to prevent and respond to cybercrimes are essential. While technological innovations have undoubtedly contributed substantially to economic growth and advancements in education and healthcare, there remains an urgent need to ensure comprehensive safeguards and robust protective measures against emerging cyber threats and cybercrimes.

REFERENCES:

1. Addagarla, Aswini 2022, "Right to Equality", *International Journal of Novel Research and Development*, 7(12):640-643.
2. Anam, Khoirul 2024, "Legal Protection of Intellectual Property Rights in the Digital Industry: A Review of Legal Developments and Implementation Challenges", *West Science Law and Human Rights*, 2(4): 358-366.
3. Bose, et.al (2025), "Global Security, Cyber Risks and Firm Value: International Evidence", *The International Journal of Accounting*, 1-58.
4. Cordella, Antonio and Francesco Gualdi 2025, "Policymaking in the digital era: Exploring Techni-Legal Assemblages and their impact on Policy Formulation", *Government Information Quarterly*, 42(2):1-16.
5. Farooqui and Alam (2015), "Shreya Singhal V. Union of India: Case Analysis" *International Journal of Law*, 1(1): 54-58.



6. Government of India 2025, Ministry of Electronics and Information Technology, National Digital Literacy Mission, Accessed on December 21, 2026, : <https://www.nielit.gov.in/ajmer/content/national-digital-literacy-mission>.
7. M, Poornima 2019, "Digital Literacy Initiative to Empower Rural India : Impact Evaluation of Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA) : New Delhi: Council for Social Development.
8. Martin, Manual 2020, "Anuradha Bhasin v. Union of India & Ors.", Record of Law, Accessed on December 21, 2025, : <https://recordoflaw.in/anuradha-bhasin-v-union-of-india-ors-2020/>
9. Ministry of Electronics and Information Technology (2024), "The Digital Personal Data Protection Act, 2023" Accessed on November 11, 2025, : <https://www.meity.gov.in/static/uploads/2024/06/2bf1f0e9f04e6fb4f8fef35e82c42aa5.pdf>
10. Ministry of Electronics and Information Technology 2024, "National Cyber Security Policy 2013", Accessed on 11 November 2025 : https://www.meity.gov.in/static/uploads/2024/02/National_cyber_security_policy-2013_0.pdf
11. Ministry of Home Affairs 2026, Indian Cybercrime Coordination Centre, Accessed January 1, 2026, <https://i4c.mha.gov.in/>
12. Ministry of Law, Justice and Company Affairs (Legislative Department) 2000, "The Information Technology Act, 2000", Accessed December 21, 2025, <https://eprocure.gov.in/cppp/rulesandprocs/kbadqkdlcswfjdelrquehwuxcfmijmuixngudufgbuubgubfugbububjxcgfvvsbdihbgfGhdgFHtyhRtMjk4NzY=>
13. Mishra, Raghubar Dayal 2023, "India Stack in Cashless Economy", *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research*, 10(5):361-373.
14. Nongdhar, Raynold 2025, "Data Protection in the Digital Era: A Comparative Study of India's Legislative Framework with EU and US, Data Protection", *International Journal of Creative Research Thoughts*, 12(9):43-54.
15. Panigrahi, Pratyay & Eishan, Mehta (2022), "The Impact of the Puttaswamy Judgement on law Relating to Searches", *NUJS Law Review*, 15:1-26.
16. Ravi 2022, "Constitutional Remedies under Article 32 and 226: An Overview", *International Journal of Law, Policy and Social Review*, 4(4): 1-5.
17. Romansky, Radi 2004, Globalization and Informatization in the Digital Society and the Impact on Privacy, Preprints.org, Accessed on 12 December 2025, [Online Web]: <https://www.preprints.org/manuscript/202407.1350>
18. Sakshi and Aditya Raj 2023, "Case Study: S. Rangarajan v. P. Jagjivan Ram (1989)", *International Journal of Law Management and Humanities*, 6(2): 1170-1174.
19. Singh Dr. Pyar (2025), "An Analysis of the Article 19(1)(a) and Article 19(2) of the Indian Constitution and Distorting form of Freedom of Speech and Expression in the Era of Social Media in India", *Social Science Research Network*, 1-32.





Detailed adsorption study of Zn (II), Pb (II), Cd (II) Cu (II) and Cr (III) ions from aqueous solutions by calcium silicate precipitation tube (CaSPT)



Dr. Kavita Parmar

Assistant Professor

Dept. of Environmental Science

B.D.College

Patliputra University, Patna

Abstract : *Calcium silicate precipitation tubes (CaSPT) have the potential for removing cations due to their structural properties. The present study proposed the use of CaSPT in the removal of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) ions from synthetic aqueous solutions. Batch adsorption studies showed that CaSPT was able to adsorb Zn(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) ions from aqueous solutions in the concentration range 50-300 mg L⁻¹ and for Pb(II) concentration range was 100-600 mg L⁻¹. The effects of contact time, adsorbent dosage, initial metal ion concentration, pH and temperature have been reported. The isotherm data showed better fit to Freundlich when compared to Langmuir. The adsorption kinetics tested with Lagergren-first-order and pseudo-second-order models yielded high R² values from 0.87 to 0.99 and from 0.96 to 0.999, respectively. The adsorption process is endothermic and the activation energy indicates a physisorption process.*

Keywords : Toxic metals, Calcium silicate precipitation tubes, adsorption, kinetics

1.0 Introduction

Water pollution is a serious problem and heavy metals are common pollutants in water that threaten human health and environmental quality. The rapid growth of industrial activities during the last few decades is one of the major reasons for pollution of water, air and soil. Effluents from metallurgical, chemical, ceramics, electro-galvanization and textile industries are the main sources of water contamination. Most of the metals are known to be toxic and half of these, including cadmium, chromium, copper, lead, mercury, nickel, selenium, silver and zinc, are released into the environment in quantities that pose a risk to human health. The presence of toxic heavy metals in industrial effluents has become a matter of environmental concern. Mining, tannery, jewelry, chemical, metallurgical, electrical and electronics large scale industries in industrial nations, and also in developing countries are the main source for metal containing waste pollution [1].

Various treatment techniques including adsorption, precipitation, ion exchange and reverse osmosis have been employed to eliminate or reduce the toxic ion concentrations in wastewaters. Adsorption on solid surfaces is the most common one and efforts are being made continuously to develop new, low cost and efficient adsorbents for removal of heavy metals [2].

Calcium silicate has potential to be employed as an adsorbent material due to its a relatively



high surface area, and relatively low production cost. Calcium silicates form an important category of low cost adsorbents for removal of heavy metals & phosphates from waste water [3-5]. (Southam et.al 2004, Cairns et.al 2006, and Johnston et.al 2007). Calcium silicate precipitation tube possesses the capability of remove cations in its complex matrix. Hence, it can be used as an adsorbent.

Silicate tube prepared through silica garden route has potential for adsorbing cations.[6,7]. Calcium silicate precipitation tube possesses the capability of remove cations in its complex matrix. Hence, it can be used as an adsorbent.

In the present work Calcium silicate precipitation tube synthesized by silica garden route [8] has been used as an adsorbent for Pb(II), Cd(II), Cu(II), Zn(II), Cr(III) removal. The present investigations also address the feasibility of using CaSPT as an adsorbent for the single and binary removal of heavy metals.

2.0 Materials and Methods

2.1 Adsorbent

Details on synthesis and characterization of CaSPT may be found elsewhere [8]. These tubes were finely crushed before using as adsorbent.

2.2 Adsorbates

AR grade $ZnSO_4 \cdot 7H_2O$, $Pb(NO_3)_2$, $CdCl_2$, $CuSO_4 \cdot 5H_2O$, and $Cr(NO_3)_3 \cdot 9H_2O$ were used for making Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) solutions respectively. Solutions were prepared either directly from salt or from 1000 mg l^{-1} stock solutions through serial dilution as appropriate. 18 MΩ ASTM Grade 1 water was used for making the solutions.

2.3 Adsorption experiments

Metal ion adsorption by CaSPT was studied in batches separately with single and binary ion matrix. All adsorption experiments were carried out in stoppered conical flasks containing 50 ml of metal ion solution of desired strength (initial concentration, C_0), pH and a known weight (m) of the powdered CaSPT. A horizontal shaker was used for adsorbate-adsorbent contact.

For kinetic study contact time was varied from 5 -180 min. while for other experiments it was 60 min., which was experimentally found as optimum. After shaking, the mixture was allowed to settle for 30 min., filtered and analyzed for Cu(II) (final concentration C_e). Amount of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) trapped on the CaSPT surface was calculated by subtraction ($C_0 - C_e$).

Adsorption/desorption envelope of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) on CaSPT surface was developed in the pH range of 2-9. Dilute NaOH and HCl were used for making pH adjustments. For adsorption, process described above was followed in the pH range of 2-8. For desorption, Cu(II) was adsorbed over CaSPT without any pH adjustment for 60 min. This was followed by pH adjustment of the mixture in the range 2-8, another contact session of 60 min. in the horizontal shaker, settling for 30 min., filtration and analysis for final ion concentration (C_e). Amount of metal ion trapped on the CaSPT surface after desorption was calculated by subtraction ($C_0 - C_e$).

Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) adsorption isotherms on CaSPT surface were generated at different adsorbent weights. For each weight, Zn(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentration was varied from 50-300 mg l^{-1} in six steps except Pb(II). Pb(II) concentration was varied from 100-

600 mg l⁻¹ in six steps.

Effect of temperature on Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) adsorption over CaSPT surface was studied at 25°C, 30°C, 40°C and 50°C with 50 ml of fixed Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentration and varying CaSPT weights. Except this, all other experiments were carried out at room temperature.

3.0 RESULTS AND DISCUSSION

3.1 Characterization of CaSPT

Details on synthesis, characterization and surface property of CaSPT may be found elsewhere [8]. Figs. 1a, b and c show the synthesized CaSPT, scanning electron micrograph and Transmission electron micrograph of 'as grown' CaSPT. These tubes were finely crushed before using as adsorbent.

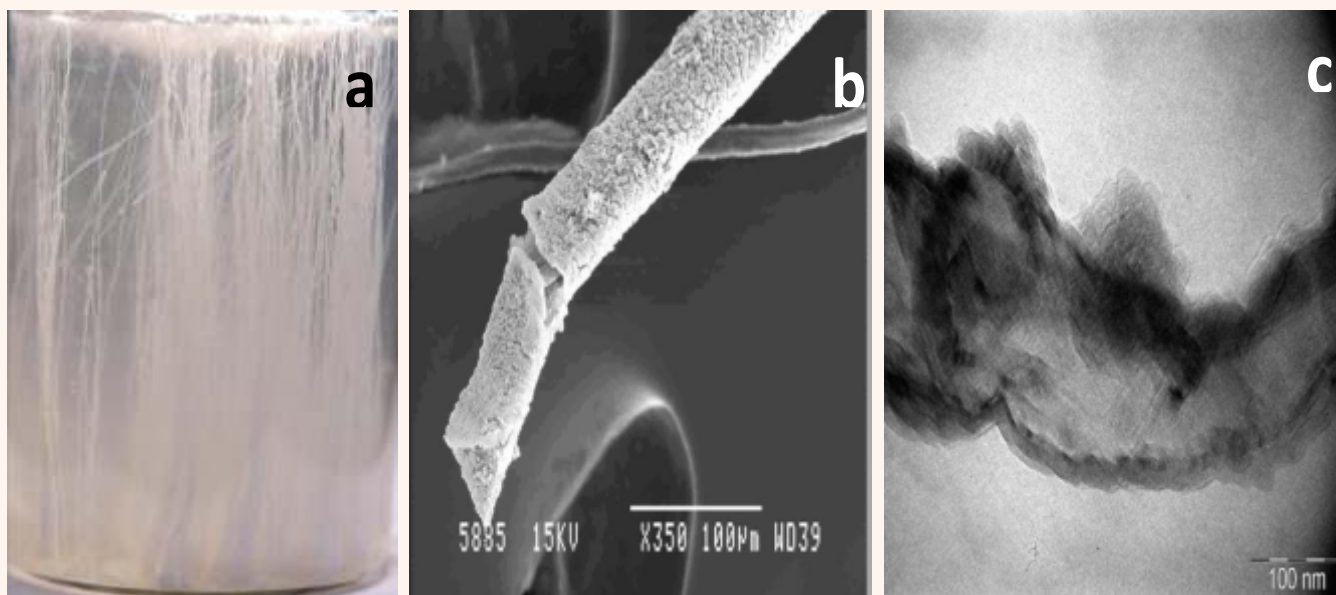


Fig.1. (a) CaSPT grown in the laboratory, (b) SEM image of 'as grown' CaSPT, (c) TEM image of crushed particle of CaSPT at higher magnification.

3.2 Effect of contact time

Preliminary kinetic experiments were conducted to assess the time taken for the equilibrium to be obtained and the results are presented in Fig.2 for Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) metal ions. It is readily apparent from the figure that significant removal of different metal ions occurred in 60 min and no appreciable changes in terms of removal were noticed after 180 min. except zinc and chromium it was 120 min. The adsorption plot reveals that the rate of percent adsorption of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) is initially high which is probably due to the availability of larger surface area of the CaSPT for the adsorption of these ions. In all subsequent experiments the equilibrium time was maintained at 180 min, which was considered sufficient for the removal of different metal ions by CaSPT.

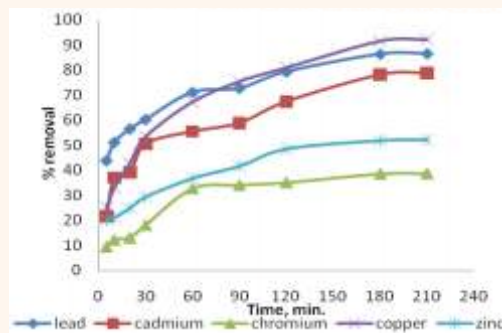


Figure 2: Effect of contact time on cation adsorption.

3.3 Effect of adsorbent dosage

The effect of adsorbent dosage on the uptake of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) ions onto CaSPT was studied and is shown in Fig.3. This figure reveals that the removal of metal ions increases with an increase in the adsorbent dosage. Maximum removal of metal ions at $C_0 = 100$ mg/l was found to be (100% for Pb(II) at 0.01 gm), (100% for Cu(II) at 0.035 gm), (100% for Cr(III) at 0.06 gm), (100% for Cd(II) at 0.08 gm), (100% for Zn(II) at 0.09 gm).

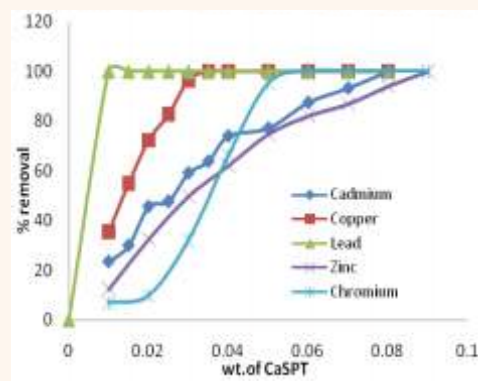


Figure 3. Effect of adsorbent dose on cation adsorption.

3.4 Effect of initial metal ion concentration

The effect of initial metal ion concentration on the uptake of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) ions onto CaSPT was studied and is shown in Fig.4. This figure reveals that the removal of metal ions decreases with an increase in the initial metal ion concentration.

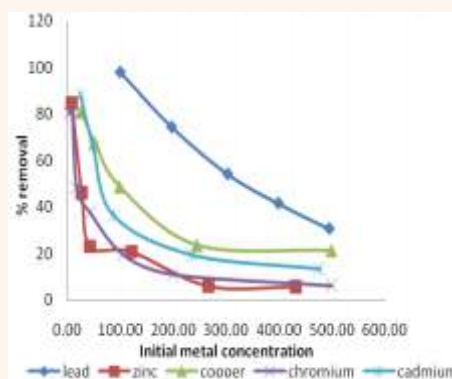


Figure 4. Effect of metal ion concentration on cation adsorption

3.5 Effect of pH on adsorption/desorption

Adsorption-desorption hysteresis of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) on CaSPT surface, has been shown in Fig.5(a-e) in the pH range of 2-9, experimental details for which have been described in section 2.3. pH range was different for each metal ion like 2-7 was for Cu(II) & Pb(II), 2-8 was for Cr(III) and 2-9 was for Cd(II) & Zn(II). One may observe in Fig.5 (b&d) that almost 100% adsorption of lead and copper could be achieved at pH 7 while at pH 2 there was no adsorption. In Fig. 5 (a&c) we can see that almost 100% adsorption of zinc & cadmium could be achieved at pH 9 while at pH 2 there was 6 % adsorption of zinc but there was no adsorption of cadmium at pH 2. In the case of chromium (Fig.5e) 100% adsorption could be achieved at pH 8 while at pH 2 there was no adsorption This hysteresis clearly identifies the pH region in which Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) desorption from CaSPT surface is likely to occur.

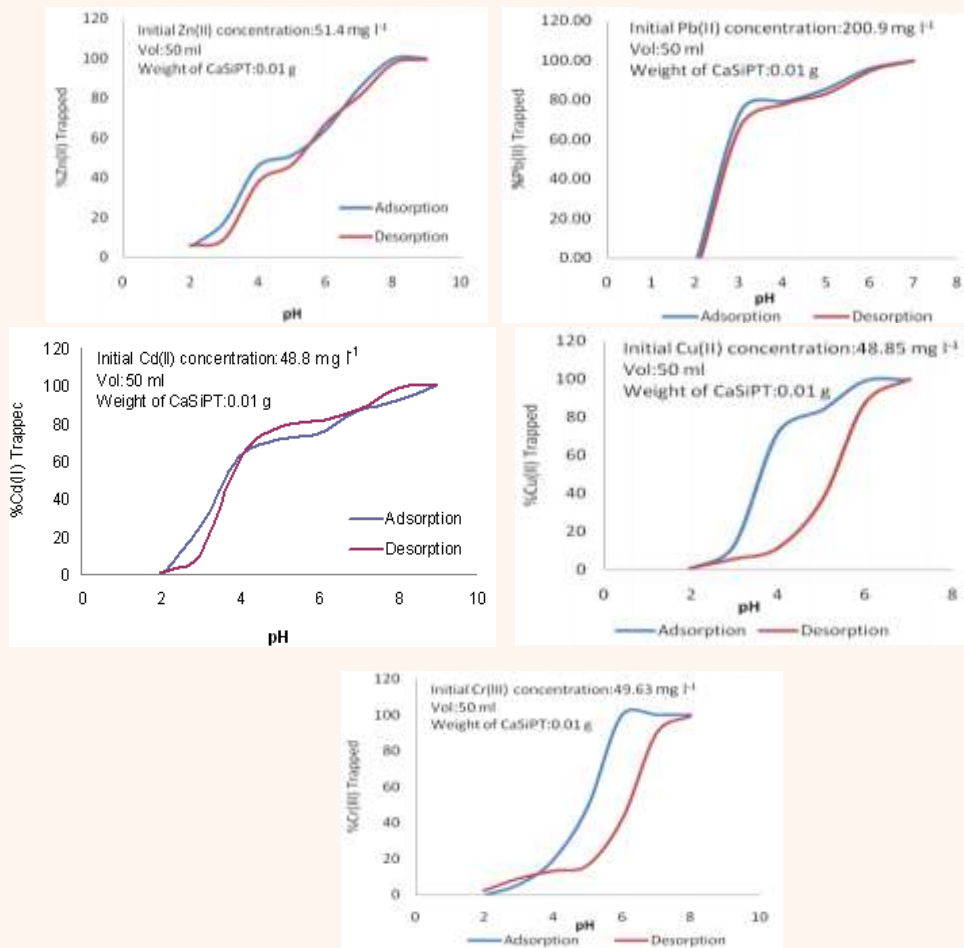


Fig.5. Adsorption–desorption hysteresis of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III)

3.6 Effect of temperature on Cu(II) adsorption

Fig. 6 shows the Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) % adsorption at 25°C 30°C, 40°C and 50°C with varying weights of the CaSPT. The % adsorption for all metal ion except Cr(III) increased with the increase in temperature indicating the process to be endothermic in nature [7]. (HO.,2006). However from figure 6, it is observed that the adsorption of Cr(III) decreased at higher temperature might be exothermic adsorption of this metal ion.

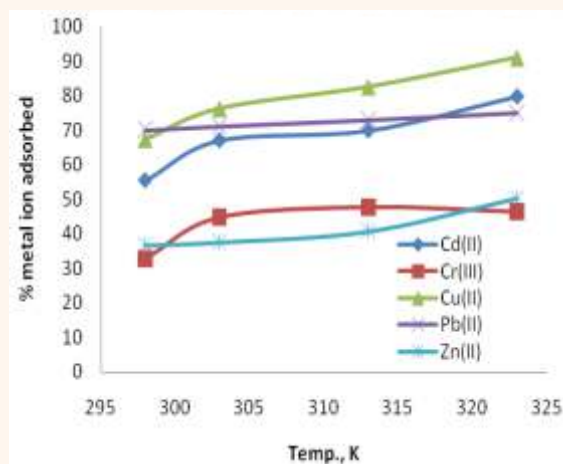


Figure 6. Effect of temperature on cation adsorption.

3.7 Loading capacity

Loading capacity of an adsorbent is defined as the amount of adsorbate adsorbed (X) per unit weight (m) of the adsorbent. Loading capacity (X/m) of the CaSPT was determined at different initial Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentrations by 0.2 g/L adsorbent dose in a solution of different pH of different cations. Fig.7(a-e) represents the plot of the loading capacity (X/m) versus initial Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentration, C_0 (mg L^{-1}). The maximum loading capacity was found to be 153.75 mg g^{-1} at 199.25 mg L^{-1} of initial Zn(II) concentration. For Pb(II) it was 830.05 mg g^{-1} at 399.05 mg L^{-1} , for Cd(II) 322 mg g^{-1} at 497.1 mg L^{-1} , for Cu(II) 533 mg g^{-1} at 499.9 mg L^{-1} and for Cr(III) it was 103.3 mg g^{-1} at 105.5 mg L^{-1} . Figure 7 show that the loading capacities were in the order $\text{Pb(II)} > \text{Cu(II)} > \text{Cd(II)} > \text{Zn(II)} > \text{Cr(III)}$.

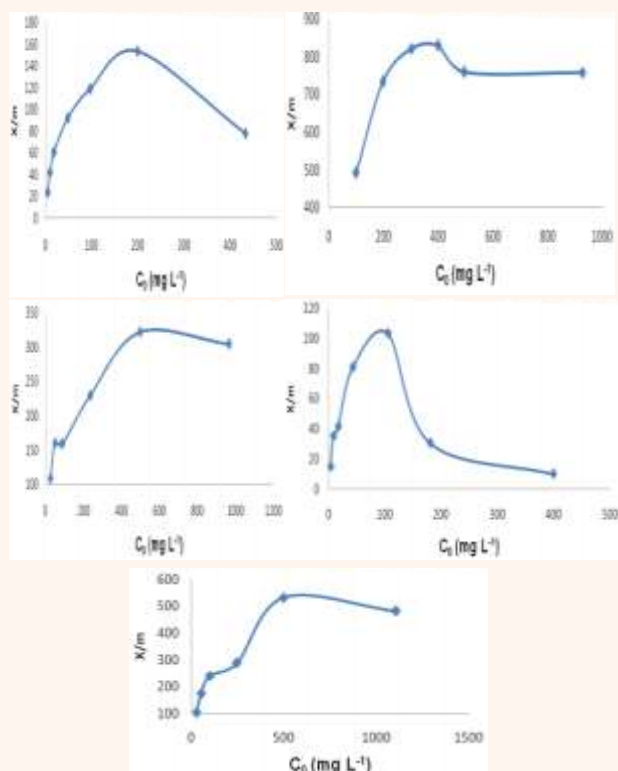


Figure 7. Plot of Loading capacity of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III)



Table 1[9-26] lists some of the high Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) loading capacities available in the literature along with the one obtained from the present study. Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) loading capacity of CaSPT fares reasonably well in that list.

Table1. Comparison of Cu(II), Pb(II), Zn(II), Cd(II) and Cr(III) loading capacity of CaSPT with some high loading adsorbents.

Adsorbent	Adsorption Loading capacity mg g ⁻¹					References
	Cu(II)	Pb(II)	Zn(II)	Cd(II)	Cr(III)	
Newspaper pulp	27.7					[8]
Resin	85					[9]
Slag	26-88.5					[9]
Litter of poplar forest	30-200					[10]
Fly ash	207.3					[11]
Chitosan	222					[12]
Potato peel charcoal	150-400					[10]
CAM soybean straw	1271					[10]
Sericitic Pyrophyllite(SP)		32.5				[13]
Red mud			14.5	13.03		[14]
Rice husk		11.0				[15]
Chromite mine overburden		27.54		22.47		[16]
Nickel laterite (low iron)		28.4		11.0		[16]
Nickel laterite (high iron)		44.4		13.2		[16]
Red bauxite		64.35	65.86	38.77		[17]
Iron ore slime		63.57	54.87	34.75		[18]
Nalco Plant Sand		21.78	51.28	58.13		[19]
Water washed clay			3.04	11.68		[20]
Chemically treated clay		48.07	15.22	12.6		[20]
Washed and treated clay		52.63	15.17	24.45		[20]
Low grade manganese ore		142.85	98.03	59.17		[21]
Meranti sawdust	32.05	34.25			37.88	[22]
Chabazite-phillipsite	0.37				0.25	[23]
Clinoptilolite	25.4	124			2.4	[22]
Blast furnace sludge	16.1	64.2			9.6	[24]
Peanut husk	10.15	29.14			7.67	[25]
CSPT	404					[7]
CaSPT	533	830.05	153.7	322	103.3	Present work

3.8 Adsorption isotherm

Adsorption isotherm were developed for Zn(II) at seven different weight, for Pb(II) five different weight, for Cd(II) seven different weight, for Cu(II) five different weight and for Cr(III) single weight with CaSPT. Experimental details for which have been described in Section 2.3.

Two models were used to describe the experimental sorption isotherm: Langmuir model and



Freundlich model. The linear form of Langmuir equation after rearrangement is

$$\frac{C_e}{q_e} = \frac{1}{bV_m} + \frac{C_e}{V_m} \text{ ----- (1)}$$

where C_e is the equilibrium concentration of remaining metal in the solution (mg L^{-1}), q_e is the amount of metal adsorbed per mass unit of adsorbent at equilibrium (mg g^{-1}), V_m is the amount of adsorbate at complete monolayer coverage (mg g^{-1}), and b (L mg^{-1}) is a constant that relates to the heat of adsorption.

Freundlich adsorption isotherm can be represented as

$$q_e = K_f C_e^{1/n} \text{ ----- (2)}$$

Or in the linear form

$$\log q_e = \log K_f + \frac{1}{n} \log C_e \text{ ----- (3)}$$

where K_f and n are Freundlich constants indicating adsorption capacity and intensity, respectively. K_f and n was determined from a linear plot of $\log q_e$ against $\log C_e$. The adsorption capacity (q_e) was calculated using the equation

$$q_e = \frac{(C_o - C_e)V}{w} \text{ ----- (4)}$$

where C_o is the initial Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentration, C_e is the final equilibrium concentration of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) , V is the volume of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) solution (ml), w is the weight of the CaSPT (g). Adsorption equilibrium studies for Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) adsorption on CaSPT were conducted at the optimum conditions using a contact time of 60 min. The calculated results of the Freundlich and Langmuir isotherm constants on CaSPT are given in Table 2.





Table 2. Constants of different isotherms for Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) at different wt. of CaSPT.

Isotherm	Constants/ goodness	Diff. Wt. of CaSPT with Zn(II)						
		0.02	0.03	0.04	0.05	0.06	0.07	0.08
Freundlich	n	2.80	3.35	3.83	2.42	3.17	3.60	4.55
	k	21.72	29.21	36.80	19.18	29.73	35.63	46.70
	r ²	0.95	0.94	0.99	0.97	0.989	0.92	0.96
Langmuir	b	0.022	0.071	0.338	0.020	0.040	0.059	0.144
	V _m	171.84	139.45	126.5	197.03	161.57	150.44	133.28
	r ²	0.86	0.78	0.97	0.89	0.988	0.99	0.96
Isotherm	Constants/ goodness	Diff. Wt. of CaSPT with Pb(II)						
		0.005	0.008	0.01	0.015	0.018		
Freundlich	n	4.47	8.47	13.37	12.11	22.07		
	k	260.25	399.65	478.22	448.42	511.99		
	r ²	0.96	0.96	0.94	0.98	0.93		
Langmuir	b	0.028	0.190	0.986	0.167	0.723		
	V _m	1053.41	785.05	723.34	720.18	654.93		
	r ²	0.90	0.73	0.97	0.97	0.99		
Isotherm	Constants/ goodness	Diff. Wt. of CaSPT with Cd(II)						
		0.01	0.02	0.03	0.04	0.05	0.06	0.07
Freundlich	n	2.005	3.52	2.22	3.26	3.35	3.31	5.44
	k	16.50	43.16	20.63	36.50	38.80	40.39	67.93
	r ²	0.96	0.98	0.98	0.95	0.96	0.95	0.97
Langmuir	b	0.008	0.031	0.014	0.048	0.041	0.062	0.44
	V _m	378.77	220.93	284.68	184.68	193.49	182.82	142.96
	r ²	0.93	0.89	0.93	0.85	0.98	0.98	0.99
Isotherm	Constants/ goodness	Diff. Wt. of CaSPT with Cu(II)						
		0.01	0.015	0.02	0.025	0.03		
Freundlich	n	4.04	3.56	4.48	4.33	6.32		
	k	77.18	66.84	81.69	81.74	114.31		
	r ²	0.89	0.98	0.91	0.97	0.95		
Langmuir	b	0.040	0.048	0.081	0.128	0.864		
	V _m	317.11	309.90	267.28	257.32	229.55		
	r ²	0.96	0.91	0.995	0.96	0.92		
Isotherm	Constants/ goodness	Wt. of CaSPT with Cr(III)						
		0.01						
Freundlich	n	2.97						
	k	23.69						
	r ²	0.95						
Langmuir	b	0.103						
	V _m	111.29						
	r ²	0.92						

Isotherm	Constants/ goodness	Wt. of CaSPT with Cr(III)				
		0.01				
Freundlich	n	2.97				
	k	23.69				
	r ²	0.95				
Langmuir	b	0.103				
	V _m	111.29				
	r ²	0.92				



The essential feature of the Langmuir isotherm can be expressed in terms of dimensionless constant separation factor, R_L that is used to predict whether an adsorption system is "favorable" or "unfavorable" [27]. The separation factor R_L is defined as

$$R_L = \frac{1}{1 + bC_e} \text{----- (5)}$$

where C_e (mg L^{-1}) is the equilibrium concentration of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) and b (mL mg^{-1}) is the Langmuir isotherm constant. The adsorption process as a function of R_L may be described as $R_L > 1$; unfavorable, $R_L = 1$; Linear, $0 < R_L < 1$; favorable and $R_L = 0$; irreversible. The values of R_L calculated from different initial Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentrations are given in Table 3 which indicates a highly favorable adsorption within the concentration range of 50-300 mg l^{-1} in six steps except Pb(II). Pb(II) concentration was varied from 100-600 mg l^{-1} in six steps.

R_L in the range of 0–1 at all initial Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) concentration confirms the favorable uptake of Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III) in the adsorption process [28].

Table 3. R_L values for adsorption of Cu(II), Pb(II), Cd(II), Zn(II) and Cr(III) onto CaSPT based on Langmuir model.

Copper(II)			Lead (II)			Cadmium(II)			Zinc(II)			Chromium(III)		
C_0	C_e	R_L	C_0	C_e	R_L	C_0	C_e	R_L	C_0	C_e	R_L	C_0	C_e	R_L
50.1	19.0	0.053	99.7	2.1	0.327	48.5	28.5	0.81	50.6	32.5	0.998	48.7	45.9	0.87
99.4	64.2	0.016	212.4	72.2	0.014	98.2	75.1	0.62	99.5	87.2	0.995	105.2	97.9	0.76
149.4	97.3	0.010	301.9	160.8	0.006	150.8	116.4	0.52	156.0	135.8	0.992	147.0	122.5	0.72
198.9	133.9	0.007	398.5	257.1	0.004	196.8	156.0	0.44	214.0	188.6	0.989	197.4	172.6	0.64
250.9	199.2	0.005	499.4	353.3	0.003	251.5	195.3	0.39	261.1	232.7	0.987	250.5	230.8	0.58
300.5	243.8	0.004	601.6	451.4	0.002	298.2	252.4	0.33	327.4	282.5	0.984			

3.9 Adsorption kinetics

Adsorption kinetics of Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) on CaSPT surface was studied in the temperature range of 298 - 323K, experimental details of which have been described in section 2.3. Lagergren's first order [29] and pseudo second order [30] rate equations as shown below, were employed for interpreting the kinetic data.

Lagergren's first order rate equation:

$$\log(q_\infty - q_t) = \log q_\infty - \frac{k_L}{2.303} t \text{----- (6)}$$

Pseudo second order rate equation:

$$\frac{t}{q_t} = \frac{1}{k_p q_\infty^2} + \frac{t}{q_\infty} \text{----- (7)}$$

Where,



q_{∞} = Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) adsorbed per unit weight of CaSPT at equilibrium ($t=\infty$),

q_t = Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) adsorbed per unit weight of CaSPT at time t,

k_L = First order Specific rate constant,

k_p = Pseudo second order Specific rate constant.

Specific rate constants k_L and k_p at 25°, 30°, 40° and 50° were calculated from experimental data and listed in Table 4 along with correlation coefficient. It is apparent that kinetic data fit better into pseudo second order model. Specific rate constants calculated at three different temperatures were further used to calculate activation energy (E_a) of the adsorption process from Arrhenius equation,

$$k = Ae^{-E_a/RT} \text{-----} (8)$$

Calculated E_a values for both first order and pseudo second order rate equations have also been listed in Table 4, which indicate that Cu(II) adsorption on CaSPT is essentially a physisorption process. Typical activation energy range of a physisorption process is 5-40 KJ mol⁻¹ while in the case of chemisorption it is 40–800KJmol⁻¹[31]

Table 4. Specific rate constants k_L , k_p , activation energy (E_a) of Cd(II), Cu (II), Pb(II)& Zn(II) adsorption on CaSPT at different temperatures.

Tem p. (K)	Lagergren first order			Pseudo second order		
	k_L min ⁻¹	R ²	E_a KJ mol ⁻¹	$k_p \times 10^3$ g mg ⁻¹ min ⁻¹	R ²	E_a KJ mol ⁻¹
Cadmium						
298	0.0145	0.92	28.12	0.22	0.98	9.18
303	0.0149	0.95		0.24	0.99	
313	0.0198	0.99		0.25	0.99	
323	0.0297	0.91		0.30	0.99	

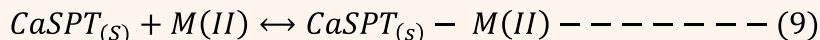
Copper						
298	0.0138	0.99	27.35	0.18	0.99	17.09
303	0.0161	0.94		0.19	0.99	
313	0.0230	0.99		0.23	0.99	
323	0.0322	0.92		0.31	0.99	



Lead						
298	0.0143	0.97	15.63	0.10	0.99	4.48
303	0.0145	0.99		0.09	0.99	
313	0.0151	0.96		0.12	0.99	
323	0.0240	0.94		0.11	0.99	
Zinc						
298	0.0161	0.95	22.47	0.15	0.98	20.1
303	0.0253	0.90		0.18	0.97	
313	0.0322	0.91		0.22	0.96	
323	0.0345	0.87		0.29	0.97	

3.10 Adsorption thermodynamics

Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) adsorption thermodynamics on CaSPT was studied following published methodology[32]. Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) adsorption on CaSPT is a surface phenomenon and may be expressed by the reaction followed by the following reaction. In equations we have mentioned M(II) as representatives of Zn(II), Pb(II), Cd(II) and Cu(II) metal ions.



In equation 9, under condition of equilibrium,

$$k_1 \cdot a_{M(II)} = k_2 \cdot a_s \text{ --- (10)}$$

Or,

$$\frac{k_1}{k_2} = \frac{a_s}{a_{M(II)}} \text{ --- (11)}$$

Where k_1 and k_2 are the forward and backward specific rate constants respectively, $a_{M(II)}$ is the activity of metal ions in the solution and a_s is the activity of metal ions in the $CaSPT_{(s)} - M(II)$ surface complex.

Equation 8 may be written as,

$$K_c = \frac{(f_s \cdot C_s)}{(f_{M(II)} \cdot C_{M(II)})} \text{ --- (12)}$$



Where,

f_s and $f_{M(II)}$ are the activity coefficients of respective metal ions in the surface complex and solution respectively. C_s is the concentration of M(II) in the complex ($mg\ g^{-1}$) and $C_{M(II)}$ is the equilibrium concentration of respective metal ions in solution ($mg\ l^{-1}$), and K_c is the equilibrium constant.

Assuming $f_{M(II)}$ close to unity in the experimental concentration range, thus equation 9 reduces to an expression for the equilibrium constant K_c for a given condition, as shown below.

$$\lim_{C_s \rightarrow 0} f_s \rightarrow 1, K_c = \frac{C_s}{C_{M(II)}} \text{----- (13)}$$

Thus extrapolating C_s to zero in the plot of $\log (C_s/C_{M(II)})$ with C_s intercept should provide an estimate of K_c .

K_c is related to standard heat of reaction (H°) and entropy (S°) by the following equation,

$$\ln K_c = -\left(\frac{\Delta H^\circ}{RT}\right) + \left(\frac{\Delta S^\circ}{R}\right) \text{----- (14)}$$

A linear plot of $\ln K_c$ with $1/T$ enabled calculation of H° and S° from the slope and intercept respectively which were further utilized for calculating G° at three temperatures using equation 15.

$$\Delta G^\circ = \Delta H^\circ - T\Delta S^\circ \text{----- (15)}$$

Table 5 lists different thermodynamic parameters calculated from different equations. Shifting of G° value further in the negative scale with increase in temperature confirms facilitation of the adsorption process except copper. Positive H° reconfirms endothermicity of the adsorption process.

Table 5. Calculated G° , H° and S° of Cd(II), Cu (II), Pb(II)& Zn(II) adsorption on CaSPT.

Metal ion	ΔH° KJ mol ⁻¹	ΔS° KJ mol ⁻¹	ΔG° KJ mol ⁻¹			
			298K	303 K	313 K	323 K
Cadmium	2.401	-0.0194	-8.186	-8.283	-8.477	-8.671
Copper	41.68	0.1139	-7.743	-7.174	-6.035	-4.896
Lead	7.628	0.0003	-7.718	-7.719	-7.722	-7.725
Zinc	3.250	-0.0382	-8.160	-8.352	-8.735	-9.118

Conclusion

The results obtained in this study shows that the calcium silicate precipitation tube (CaSPT) is an effective adsorbent for the removal of Pb(II), Cd(II), Cu(II), Zn(II) and Cr(III) metal ions from aqueous solution. The amount of Pb(II), Cd(II), Cu(II), Zn(II) and Cr(III) ions adsorbed into the



CaSPT increased with an increase in adsorbent dosage but decreased with an increase in concentration.

The experimentally obtained maximum loading capacities were found to be 153.8, 830.1, 322, 533 and 103.3 mg g⁻¹ of CaSPT at initial metal ion concentrations of 199.3, 399.1, 497.1, 499.9 and 105.5 mg L⁻¹ for Zn(II), Pb(II), Cd(II) Cu(II) and Cr(III), respectively.

The adsorption data showed better fit to Freundlich isotherms when compared to Langmuir isotherms.

Cd(II), Cu(II), Pb(II), Zn(II) – CaSPT adsorption kinetics follow pseudo second order rate equation and the activation energy (9.18, 17.09, 4.48, 20.1 KJ mol⁻¹) indicates a physisorption process. Cd(II), Cu(II), Pb(II), Zn(II) – CaSPT adsorption process is endothermic. Taking into consideration of the above results, it can be concluded that the CaSPT is a suitable adsorbent for the removal of Pb(II), Cd(II), Cu(II), Zn(II) and Cr(III).

Acknowledgement

The authors wish to thank Dr. Santanu Bhattacharjee for his guidance. .

References

- 1 M. Mohapatra, L. Mohapatra, P. Singh, S. Anand and B.K. Mishra, A comparative study on Pb(II), Cd(II), Cu(II), Co(II) adsorption from single and binary aqueous solutions on additive assisted nano-structured goethite, Intern J Eng Science and Technology 2 (2010), 89-103.
- 2 J.S. Kwon, S.T. Yun, J.H. Lee, S.O. Kim and H. Y. Jo, Removal of divalent heavy metals (Cd, Cu, Pb, and Zn) and arsenic(III) from aqueous solutions using scoria: Kinetics and equilibria of sorption, J. Hazard. Mat. 174 (2010), 307-313
- 3 D. C. Southam, T. W. Lewis, A. J. McFarlane, J.H. Johnston, Curr Appl Phys 4 (2004) 355-358.
- 4 M.J. Cairns, T Borrman, W H Holl, JH Johnston, Microporous Mesoporous Mater. 95 (2006) 126-134.
- 5 J. H. Johnson, T. Borrman, D. Rankin, M. Cairns, J. E. Grindrod, A. Mcfarlane, Curr Appl Phys 8 (2008) 504-507.
- 6 K. Parmar, A. K. Pramanik, N. R. Bandyopadhyaya and S. Bhattacharjee, Synthesis and characterization of Fe(III)-silicate precipitation tubes, Mater Res Bull 45 (2010) 1283-1287.
- 7 K. Parmar, D. Chongder, N.R. Bandyopadhyaya, S. Bhattacharjee, Investigation on Cu(II) adsorption on cobalt silicate precipitation tube (CSPT) in aqueous medium, J. Hazard. Mater, 185 (2011) 1326-1331.
- [8 K. Parmar, N. R. Bandyopadhyaya, D. Chongder, and S. Bhattacharjee, Detailed characterization of calcium silicate precipitation tube (CaSPT) as a multi- cation adsorbent in aqueous medium, Submitted in Mat.Res.Bull.
- 9 S. Chakravarty, S. Pimple, Hema.T. Chaturvedi, S. Singh, K.K.Gupta, Removal of copper from aqueous solution using newspaper pulp as an adsorbent, J. Hazard.Mater. 159 (2008) 396-403.
- 10 C. Quanyuan, H. D. Colin, Y. Menghong, L. Huanhuan, T. Mark, Characterization of carbonated tricalcium silicate and its sorption capacity for heavy metals: A micron-scale composite adsorbent of active silicate gel and calcite, J. Hazard. Mater. 153 (2008) 775-783.
- 11 M. A. Michael, P. Dhandapani, M. H. Kalavathy, L. R. Miranda., Chemically activated Ipomoea carnea as an adsorbent for the copper sorption from synthetic solutions, Adsorption 16 (2010) 75-84.
- 12 W. Shaobin, L. Lin, Z. H. Zhu , Solid-state conversion of fly ash to effective adsorbents for Cu removal from wastewater J. Hazard.Mater. B139 (2007) 254-259.
- 13 B. Sandhya, K. A. Tonni, Low-cost adsorbents for heavy metals uptake from contaminated water: a review, J. Hazard.Mater.B97 (2003) 219-243.
- 14 M. Prasad, S. Saxena, S.S. Amritphale, N. Chandra, Kinetics and isotherms for aqueous lead adsorption by natural minerals. Ind. Eng. Chem. Res. 39 (2000), 3034-3037.
- 15 V. Gupta, S. Sharma, Removal of cadmium and zinc from aqueous solutions using red mud. Environ. Sci. Technol. 36(2002), 3612-3617.
- 16 T. C. Chuah, , Rice husk as a potentially low cost bio sorbent for heavy metals and dye removal: an overview. Desalination, 175 (2005) 305-316.
- 17 M. Mohapatra, S. Anand, Studies on adsorption of Cd(II) on Tata chromite mine overburden. J. Hazard.Mater. 148 (2007),



- 553-559.
- 18 K. Rout, M. Mohapatra, S. Anand, Lead, Cadmium and Zinc Adsorption on low grade bauxite ore. *Indian J. Environ. Prot.* 29 (2009) 1, 30-35.
 - 19 M. Mohapatra, K. Rout, B.K. Mohapatra, S. Anand,. Sorption behavior of Pb(II) and Cd(II) on iron ore slime and characterization of metal ion loaded sorbent. *J. Hazard.Mater.* 166 (2009) 1506-1513.
 - 20 M. Mohapatra, , S. Khatun, S. Anand, Adsorption behaviour of Pb(II), Cd(II) and Zn(II) on NALCO Plant Sand. *Indian Journal of Chemical Technology.* 16 (2009a), 291-300.
 - 21 I. A. Samir, Removal of Zn, Cd, and Pb Ions from water by Sarooj clay. *Applied Clay Science* 42(2008), 201-205.
 - 22 K. Rout, M. Mohapatra, B. K. Mohapatra and S. Anand, Pb(II), Cd(II) and Zn(II) adsorption on low grade manganese ore, *International Journal of Engineering, Science and Technology* 1, No. 1, (2009) 106-122.
 - 23 M. Rafatullah, O. Sulaiman, R. Hashim, A. Ahmad, Adsorption of copper (II), chromium (III), nickel (II) and lead (II) ions from aqueous solutions by meranti sawdust, *J. Hazard.Mater.* 170 (2009) 969-977.
 - 24 K.M. Ibrahim, T. NasserEd-Deen and H. Khoury, Use of natural chabazite-phillipsite tuff in wastewater treatment from electroplating factories in Jordan, *Environ. Geol.* 41 (2002), pp. 547-551.
 - 25 A. Lopez-Delgado, C. Perez and F.A. Lopez, Sorption of heavy metals on blast furnace sludge, *Water Res.* 32 (1998) pp. 989-996.
 - 26 Q. Li, J. Zhai, W. Zhang, M. Wang and J. Zhou, Kinetic studies of adsorption of Pb(II), Cr(III) and Cu(II) from aqueous solution by sawdust and modified peanut husk, *J. Hazard. Mater.* 141 (2007), pp. 163-167.
 - 27 W.S.W.Ngah, A.A.Musa, Adsorption of humic acid onto chitin and chitosan, *J. Appl.Polym.Sci.* 69(1998) 2305-2310.
 - 28 M.M.Seed, Adsorption profile and thermodynamic parameters of the preconcentration of Eu(II) on the oyltrifluoroacetone loaded polyurethane (PUR) foam, *J.Radioanal.Nucl.Chem.* 256(2003) 73-80.
 - 29 S. Lagergren, About the theory of so-called adsorption of soluble substances, *K.Sven. Vetenskapsakad. Handl. Band* 24 (1898) 1-39.
 - 30 Y.S. Ho, G. McKay, The kinetics of sorption of divalent metal ions onto sphagnum moss peat, *Water Res.* 34 (2000) 735-742.
 - 31 H. Nollet, M. Roels, P. Lutgen, P.V. Meeren, P. Verstraete, Removal of PCBs from wastewater using fly ash, *Chemosphere* 53 (2003) 655-665.
 - 32 R. Qadeer, Kinetic study of Erbium Ion adsorption on Activated Charcoal from Aqueous Solutions, *Adsorption* 11(2005) 51-55.





Redefining Performance Reviews in the Telecom Sector using Multimodal AI

A CONCEPTUAL FRAMEWORK



Priya Nath
Visiting Faculty
Department of BCA
B. D. College
Patliputra University, Patna

Abstract

The telecom industry, with its tremendous growth, has expanded globally and has employed hybrid teams across cities, states, and even countries. With distributed teams becoming a norm, organizations are often criticised for having proximity bias for employees who sit physically closer to their managers. As discussed by the Leader-Member Exchange (LMX) Theory, the remote, off-site employees or gig-workers report inconsistent feedback style and unequal visibility during review cycles. This perception tends to have an adverse effect on the culture of organizations. This paper proposes a Multimodal AI Performance Appraisal Model that integrates KPIs, structured feedback, behavioral signals like facial expression, tone analysis, and sentiment analysis. The study aims to propose a fair, transparent, and credible evaluation framework. This framework draws on established organizational behaviour theories to interpret interaction patterns during performance reviews. It integrates Affective Events Theory with Affective Computing Theory to understand the emotional cues at the time of regular check-ins to have comprehensive information at the time of performance reviews, especially for distributed teams.

Keywords : Emotional AI, Multimodal AI, Leader-Member Exchange, Affective Events Theory, Performance Review

1. Introduction

The telecom industry is growing at a fast pace. The sector reported a total revenue of 1.98 billion USD in 2024. This number is projected to reach 2.88 billion USD by 2030, with a 6.5% CAGR from 2025-2030 (Telecom Services Market, 2025). The Indian Telecom Industry is further expected to grow at approximately 8% CAGR from 2025 to 2033. The expansion is also causing the tele-density to increase as well. This has resulted in the telecom sectors to employ dispersed teams in varied time zones and highly dynamic operational environments.

The dispersed and diverse nature of the team leads to challenges associated with communication and collaboration (Smith & Blanck, 2002; Hill & Bartol, 2016; Pal et al., 2024). Apart from collaboration among team members, understanding the dynamics with the manager is also essential for organizations. A special attention needs to be paid to the performance appraisal process (Sahay & Kaur, 2021; Mohan & Vasumathi, 2024). The employees located in central offices or who frequently meet with managers receive better visibility. This is known as proximity bias (Bol, 2011; Harvard Business Review, 2022). The telecom sector generally



employs hybrid and remote work. These employees only interact with the managers during scheduled meetings. This reduces the interpersonal cues with the managers. Further, this leads to uneven access to managerial access despite of equal or superior contribution.

The proximity bias phenomenon in current hybrid inclusive workplace environments calls for a change from the traditional performance appraisal frameworks (Sahar & Kaur, 2021). The integration of artificial intelligence in the performance review process can transform this process into a transparent and equitable system (Miller, 2003; Nyathani, 2023). Thus, this paper is conceptual in nature and proposes a theoretical and process-oriented framework to demonstrate how multimodal AI can support fairer performance appraisal in a distributed telecom team.

2. Literature Review

2.1 Leader-Member Exchange Theory

The extant literature explains why managers tend to have a closer interpersonal relationship with those they interact more frequently. This often unintentionally leads to favoring the in-office employees. The Leader-Member Exchange Theory was developed by George B Graen and Mary Uhl-Bien in the 1970s. It states that a two-way relationship is formed between leaders and employees. The leader categorizes the employees into in-group and out-group. The leaders develop high-quality relationships with the in-group, whereas a low-quality relationship is developed with out-group (Graen & Uhl-Bien, 1995; Gerstner & Day, 1997). As a result, employees in the in-group gain more trust from the leaders. They also benefit from the greater visibility and consequently receive more favorable evaluations. This creates inequity for field staff, remote workers, and employees from smaller regional offices. Thus, the paper proposes a framework that will check for the proximity bias to remove it from the appraisal process.

2.2 Affective Events Theory

The Affective Events Theory, developed by Howard M Weiss and Russell Cropanzano, explains how workplace events influence employees' emotions. This in turn affects their job performance and satisfaction. Any event in the workplace triggers emotional reactions and reshapes the employee's attitude and behavior. This theory highlights the importance of emotions in the workplace. The traditional appraisal process completely misses the emotional patterns of an employee. Thus, the paper proposes a framework to integrate an Emotional AI component to understand the emotions of the employees.

2.3 Affective Computing Theory

Finally, Artificial Intelligence, along with Affective Computing Theory, can help in integrating in such a way that can overcome all the challenges faced by the traditional performance appraisal methods (Dionne et al, 2010). Emotional AI is an AI based on the principles of Affective Computing (Picard, 1997) that can recognize human emotional signals like facial expression, tone, and sentiment through video, audio, and text content. It can improve an employee's overall experience and help them in being more engaged with the company (Malik et al, 2022).

While prior studies have examined proximity bias, emotional events at work, and AI-driven HR

systems independently, limited research has attempted to integrate these perspectives into a unified performance appraisal framework for distributed teams.

Based on the current status of the domain, the employees report a few prominent challenges:

- 1. Proximity Bias:** Employees who are working physically closer to the manager get more visibility, information chats, and recognition. In turn, they get better ratings in their performance appraisal.
- 2. Inconsistent Conversation:** Employees do not receive corrective guidance throughout the year. Also, there is a lack of structured feedback of their performance on a task-to-task basis.
- 3. Cultural Variations:** The traditional appraisal systems do not always accommodate the influence of culture on communication styles. Employees from certain cultures might avoid direct self-praise, whereas only a few employees voice their contributions more openly.

AI is being incorporated into the HR appraisal system. But the AI is mainly used to analyse feedback text, match KPIs, and detect rating outliers. The traditional AI focuses only on: text, numbers and ratings. They miss the real interactions that shape any employee's experience. With hybrid teams, their emotional and relational signals matter more than just the evaluation of numeric KPIs. Thus, designing a multi-modal AI system is important to create a more accurate and fairer picture of an employee's performance.

3. Multimodal AI for Performance Review

A multi-modal AI combines several types of communication signals such as, facial, audio, and, text, to detect interaction patterns along with cultural and bias detection system. The proposed system will use Explainable AI to make the whole process transparent.



Figure 1. Multimodal AI for Performance Review

As shown in Figure 1, the proposed framework will have the following modalities to create a single model:



- 1. KPI Data:** This layer will capture the traditional performance review measurable outputs like, OKRs, project delivery metrics, SLA compliance, manager notes, peer feedback, and customer reviews. Both quantitative and qualitative feedback will be taken by the manager, peers, and customers. This information will make the objective baseline for the model.
- 2. Text Analysis:** The AI system will use Natural Language Processing to perform sentiment analysis. In this step, AI will analyse manager's comments, peer feedback, and customer conversation transcripts for the following:
 - Sentiment
 - Positivity/Negativity Balance
 - Biased Adjectives
 - Criticism/Constructive Tone
 - Behavioral Themes
- 3. Audio Analysis:** The AI system will use Audio to understand the tone, pitch, pace and warmth in the employee's exchanges on telephone or video-conferences. The tone is generally a strong indicator to understand the relationship quality. The system will be able to detect:
 - Empathy
 - Harshness
 - Irritation
 - Dominance/Supportiveness
 - Rushed/Patient Tone
 - Difference in tone across employees
- 4. Facial Expression Recognition:** The AI system will use Facial Expression Recognition and Eye Gaze Detection Systems to capture the scheduled check-ins during video-conferences. It will help to identify the overall emotions between stakeholders. This layer will be able to identify:
 - Stress
 - Confusion
 - Engagement
 - Irritation
 - Micro-Smiles/Micro-Frowns
- 5. Behavioral Patterns:** This layer will be used to track the interaction patterns between the employees and managers. This can help in the detection if any employees are being treated as an out-group by the leader. This will also help in understanding if the manager is cultivating a culture of psychological safety and confidence among the employees or not. This layer will observe the following:
 - Interruptions
 - Speaking Time



- Conversational Balance
 - Acknowledgment of Questions
 - Quality of feedback
 - Emotional Support
 - Trust Behavior
 - Opportunity Allocation
- 6. Cultural Calibration:** Studies show that emotional expressions vary across cultures. For example, Indian employees may smile when uncomfortable, South Asian employees may avoid direct disagreement, Europeans employees may sound blunt, but they mean no offence. Thus, the model will keep the cultural interaction patterns in mind and adjusts for employees to avoid misclassification. This will keep the framework fair for global teams. The thresholds will be adjusted based on:
- Regional Expressions
 - Speech Patterns
 - Politeness Norms
 - Direct vs Indirect Communication Styles
- 7. Bias Detection:** This layer will be used to understand the overall interaction patterns. It will look for patterns in the data instead of one-time interactions. It will compare the manager's behavior across team members. It will try to detect:
- Tone Differences
 - Emotional Warmth Gaps
 - Uneven recognition
 - Manager Irritation Pattern
 - Onsite/Remote Bias
 - Out-group behaviors
 - Feedback Timing
 - Manager's advocacy
 - Access to informal information
 - Decision-making involvement
- 8. Explainable AI Report:** It is essential for any AI system to be transparent and responsible. The proposed system will create a comprehensive report for employees to give them the feedback about the following:
- KPI metrics
 - Conversation Style: Positive, Negative, Neutral
 - Employee's Behavior Breakdown
 - Manager's Treatment across the team
 - Peer Feedback Themes
 - Bias corrections, if applied



- Reasoning behind final ratings

9. Development Plan: The AI gives a detailed report about the behavioral, communication, and interaction indicators of all the employees, including the managers. The system flags the managers who treat employees as in-group and out-group. The HR department will take this report and try to come with a plan to come with a development plan for managers and employees.

The paper proposes that the performance appraisal, instead of being a once or twice a year activity, needs to be a continuous process. The AI-driven performance dashboard will capture weekly-check-ins and keep on updating the indicators. Thus, the final performance review will be backed up with a year-long data-backed insight rather than an annual review.

The benefits of the proposed Multi-modal AI driven framework are:

- It reduces proximity bias
- It gives remote employees equal visibility
- It brings out hidden emotional patterns
- Makes the appraisal process more transparent
- Improves the manager's accountability
- Helps in developing a better plan for employees' improvement

Managerial Implementation

Implementing a multi-modal AI-driven performance review framework will help in improving the job satisfaction and improvement of employees. It will also help in keeping the employees more engaged with the organization (Malik et al., 2022). This will lead to a growth in overall business performance and revenue. Some of the implementation factors are:

- **Ethical Considerations:** To comply with the ethical considerations, the employees need to give their consent for being recorded during video calls and text analysis for official email communications.
- **Structured weekly check-ins:** Managers need to connect weekly with all the employees to capture the data for video and audio analysis
- **Peer Feedback Integration:** The peer feedback should be processed through sentiment analysis and divided into themes to understand behavioral patterns.
- **Bias Dashboard for Managers:** A dashboard that is available to the manager as well as HR should show the manager's behavioral pattern for all the employees in his/her team.
- **Review Report:** An explainable report with scores should be available for the employees. The information should be backed with data-based evidence. The coaching plan should also be developed based on the report.

Limitations and Future Directions

Every system has some limitations. The framework proposed rely on the facial, audio, and text data for the Emotional AI to understand the patterns and make decisions accordingly. These limitations highlight opportunities for future empirical validation and longitudinal studies in organizations. Some of the limitations and future directions for this model are:



- Facial Analysis can vary because of the lighting and camera quality
- Tone analysis can be misread due to accents without proper regional training
- Employees may feel uncomfortable in being recorded
- Need for region-specific emotion datasets to train the AI-model
- Building multi-lingual sentiment engines
- Integrating behavior, performance, and text into one scoring system
- Configuring cultural calibration rules
- AI must be regularly audited to ensure fairness
- Human Intervention before handling the final report is necessary

Conclusion

The telecom sector, to support the fast-paced growth with hybrid teams need to replace their traditional annual or bi-annual review process. People are spread across locations, and a lot of times, managers might meet their team members during annual meetings/retreats only. The emotional connection is lost at times with remote employees. Thus, this paper proposes a performance review system that can help organizations understand the emotions and biases that can occur in the system. It will help in creating a fairer assessment process. This, in turn, will improve employees' motivation, engagement and satisfaction. This will further lead to improved business performance, and financial profits. The primary contribution of this study lies in its conceptual integration of organizational behavior theories with emerging AI-enabled appraisal practices.

References

1. Adimulam, T. (2019). Integrating predictive analytics and machine learning within sap erp hcm ecc6: enhancing strategic human capital management through intelligent data insight. *World Journal Of Advanced Research and Reviews*. <https://doi.org/10.30574/wjarr.2019.3.3.0068>
2. Bol, J. C. (2011). The determinants and performance effects of managers' performance evaluation biases. *The Accounting Review*, 86(5), 1549-1575. <https://doi.org/10.2308/accr-10099>
3. Dionne, S. D., Sayama, H., Hao, C., & Bush, B. J. (2010). The role of leadership in shared mental model convergence and team performance improvement: An agent-based computational model. *The Leadership Quarterly*, 21(6), 1035-1049. <https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2010.10.007>
4. G, A. G. A., Su, H.-K., & Kuo, W.-K. (2023). Unleashing Potential of Employees through Artificial Intelligence. <https://doi.org/10.1109/ecbios57802.2023.10218636>
5. Gerstner, C. R., & Day, D. V. (1997). Meta-Analytic review of leader-member exchange theory: Correlates and construct issues. *Journal of Applied Psychology*, 82(6), 827-844. <https://doi.org/10.1037/0021-9010.82.6.827>
6. Graen, G. B., & Uhl-Bien, M. (1995). Relationship-Based Approach to Leadership: Development of Leader-Member Exchange (LMX) Theory of Leadership over 25 Years: Applying a Multi-Level Multi-Domain Perspective. *The Leadership Quarterly*, 6(2), 219-247. <https://digitalcommons.unl.edu/cgi/viewcontent.cgi?article=1059&context=managementfacpub>
7. Harvard Business Review (2022). What is proximity bias and how can managers prevent it? https://www.onlypaul.com/wp-content/uploads/2024/11/What-Is-Proximity-Bias-and-How-Can-Managers-Prevent-It_.pdf
8. Hill, N. S., & Bartol, K. M. (2016). Empowering leadership and effective collaboration in geographically dispersed teams. *Personnel psychology*, 69(1), 159-198. <https://doi.org/10.1111/peps.12108>
9. India Telecom Market Size, Share & Industry Outlook, 2033, Report ID: SR112025A24087 (n.d.). <https://www.imarcgroup.com/india-telecom-market>
10. Malik, A., Budhwar, P., Mohan, H., & R, S. N. (2022). Employee experience –the missing link for engaging employees: Insights



- from an MNE's AI-based HR ecosystem. *Human Resource Management*, 62(1), 97–115. <https://doi.org/10.1002/hrm.22133>
11. Miller, J. S. (2003). High tech and high performance: Managing appraisal in the information age. *Journal of Labor Research*, 24(3), 409–424. <https://doi.org/10.1007/s12122-003-1004-3>
 12. Mohan, P., & Vasumathi, A. (2024). Technology impact: A study on the performance appraisal process in the IT industry. *Multidisciplinary Reviews*. <https://doi.org/10.31893/multirev.2024173>
 13. Nyathani, R. (2023). AI in performance management: Redefining performance appraisals in the digital age. *Journal of Artificial Intelligence & Cloud Computing*. SRC/JAICC-146, 134, 2-5. DOI: [doi.org/10.47363/JAICC/2023\(2\)134](https://doi.org/10.47363/JAICC/2023(2)134)
 14. Pal, S., Nair, A., & Zuo, Z. (2024). Collaborative dynamics in open source software development: Unveiling the influence of team interaction and the role of project manager. *Journal of Operations Management*, 70(7), 1076-1099. <https://doi.org/10.1002/joom.1324>
 15. Picard, R. W. (1997). *Affective computing*. In *The MIT Press eBooks*. <https://doi.org/10.7551/mitpress/1140.001.0001>
 16. Sahay, U., & Kaur, G. (2021). A Systematic Review Of The Impact Of Performance Appraisal Systems And Competency Management Framework On The Performance of Employees In The Telecom Sector. <https://doi.org/10.17762/PAE.V58I1.1127>
 17. Smith, P. G., & Blanck, E. L. (2002). From experience: leading dispersed teams. *Journal of Product Innovation Management: An international publication of the product development & management association*, 19(4), 294-304. <https://doi.org/10.1111/1540-5885.1940294>
 18. *Telecom Services Market (2025 - 2030)*, Report ID: GVR-4-68038-518-2. (n.d.). Grand View Research. <https://www.grandviewresearch.com/industry-analysis/global-telecom-services-market>
 19. Weiss, H. M., & Cropanzano, R. (1996). Affective events theory. *Research in organizational behavior*, 18(1), 1-74. https://web.mit.edu/curhan/www/docs/Articles/15341_Readings/Affect/AffectiveEventsTheory_WeissCropanzano.df





Folk Consciousness in the Dhammapada

In the Light of the Classical Pāli Tradition

The Buddha was non-theistic or more precisely, atheistic and he appears to oppose entirely any fatalistic outlook, presenting himself instead as a proponent of the doctrine of karma. Although Buddhist philosophy is atheistic, its acceptance of the primacy of karma brings it, in a certain sense, close to the *Upaniṣada's* thought, for the *Upaniṣad* too proclaim the supremacy of action. Even in the Upanishads, the primacy of karma is acknowledged, and the determination of the ethical and spiritual path of life is understood to be influenced by the combined effect of action and knowledge. The fundamental message of the Upanishads highlights the truth of life and the importance of karma.

From this perspective, it can be said that the popular consciousness presented in the Dhammapada- which emphasizes ordinary life, morality, and the teaching of karma is not merely a question of individual liberation or religiosity; rather, it serves as a practical guide for social and collective life. In his exposition of the Dharma, the Buddha did not only present spiritual discourse but also provided practical guidance for society through the framework of karma and ethical living.

The central proclamation of the Upaniṣad is:

**Kurvanneveha karmāṇi jijīvisēcchataṃ samāḥ.
Evaṃ tvayi nānyatheto'sti na karma lipyate nare.**

Similarly, in the Dhammapada the Buddha inspires people to renounce idleness and engage in righteous action. He says that the fame of one who is industrious, mindful, pure in action, thoughtful, self-restrained, living righteously and vigilant, increases:

**Uṭṭhānavato satimato sucikammassa nisammakārino
Saññatassa dhammājīvino appamattassa yasobhivaḍḍhati.**

The Buddha was a non-soul theorist (anātma-vādin), for accepting a permanent soul would imply accepting God. If one accepts the existence of God, the Buddha argued, the doctrine of karma becomes invalid and one is led again toward fatalism, which was entirely unacceptable to him. A great characteristic of the Buddha was that he never got entangled in metaphysical complexities; he accepted whatever seemed simple, practical, and beneficial for the people, for he was essentially a leader of the masses- an approach close to socialist thinking.

Even while denying the existence of a permanent soul, the Buddha acknowledged rebirth. Whereas the Upaniṣad state:

**na jāyate mriyate vā vipaścinnāyaṃ kutaścinna babhūva kaścit.
ajo nityaḥ śāsto'yaṃ purāṇo na hanyate hanyamāne śarīre.**

and the Gītā repeats-

**na jāyate mriyate vā kadācinnāyaṃ bhūtvā bhavitā vā na bhūyaḥ.
ajo nityaḥ śāsvato'yaṃ purāṇo na hanyate hanyamāne śarīre.
vāsāṃsi jīrṇāni yathā vihāya navāni gṛhṇāti naro'parāṇi.
tathā śarīrāṇi vihāya jīrṇānyānyāni saṃyāti navāni dehī.**



Dr. Rahul Amritraj
Assistant Professor
Head, Department of Pāli,
B.D.College
Patliputra University, Patna



the Jātaka's record that the Buddha had taken birth 550 times before becoming the Buddha. According to him, life is a sequence of states, each dependent on the previous one. Every state arises out of a preceding state and in turn gives rise to the next. The sixfold transformation (ṣaḍbhāva-vikāra) of Nirukta birth, existence, alteration, growth, decay, and destruction-expresses the same idea.

To establish the primacy of action, the Buddha instructs at Sāvattḥī (Jetavana)-

**bahumpi ce sahitam bhāsamāno na takkarō hoti naro pamatto.
gopo va gāvo gaṇayam paresam na bhāgavā sāmāññassa hoti.**

meaning: one may recite many scriptures, but if he does not live according to them due to negligence, he is like a cowherd counting others' cows unworthy of sainthood. Hence, the Buddha disapproves negligence and wasteful engagement, advocating alertness and engagement only in noble deeds. His teaching is clear-

**idha nandati pecca nandati katapuñño ubhayattha nandati.
puññam me kataṁ ti nandati bhiyyo nandati suggatiṁ gato.**

One who rejoices in this world through merit rejoices in the next world as well.

Thus, the Buddha is an upholder of noble action, which is central to folk consciousness, for he always thought and taught for the welfare of the people.

In the 'Appamādavagga', the teachings of Gautama Buddha are entirely centered on public welfare and the well-being of humanity. In this section, the Buddha provides particularly clear guidance on pamāda (negligence, carelessness, or heedlessness). He states that not being negligent is the path to immortality, whereas negligence leads to the path of death. In other words, a person who is constantly vigilant, attentive, and self-aware attains a state beyond mortality, while the negligent person is as if already dead- weak and perishable. In the Dhammapada, this is expressed as follows-

**appamādo amatapadam pamādo maccuno padam.
appamattā na mīyanti ye pamattā yathā matā.**

In this verse, the Buddha makes it clear that the heedful are never subject to death. This statement is not only spiritually significant but also serves as an inspiration for noble action and constant vigilance. All scriptures acknowledge that truth, knowledge, and fame are never destroyed. A person's good deeds, dedication, hard work, and wisdom keep them alive beyond the constraints of time and place. A prime example of this is Gautama Buddha himself.

Today, the status and prestige that the Buddha has attained worldwide is a direct testimony to the eternal relevance of his teachings and ideas. A single profound thought of his has carried him and his message to every corner of the globe. His teachings are not limited to India alone; they continue to be studied and researched extensively in Sri Lanka, China, Indonesia, Japan, Bhutan, Myanmar, Thailand and Tibet (under Chinese administration). This clearly demonstrates that the Buddha's teachings transcend time and place, forming a foundation for universal human consciousness and social ethics.

Gautama Buddha also emphasizes that those who practice constant mindfulness and discipline, who are steadfast and courageous, and who are equally proficient in knowledge and action, attain the supreme state, mastery over self, and Nirvana. This implies that mere acquisition of knowledge is not sufficient; only through continuous practice, vigilance, courage, and ethical living can one achieve the highest purpose of life.

Thus, the 'Appamādavagga' not only guides personal consciousness and morality but also provides timeless instruction for social reform, the primacy of righteous action, and a life of constant alertness. The



Buddha's message clearly illustrates that noble deeds and unwavering vigilance are the true path to immortality, which is why his teachings remain as relevant and inspiring in the world today as they were in the past.

In his teachings, Gautama Buddha states that those who practice constant mindfulness, who are steadfast, courageous, and valorous, attain the supreme state, mastery over self, and Nirvana:

Te jhāyino sātatikā niccaṃ daḷhaparakkamā.

Phusanti dhīrā nibbānaṃ yogakkhemaṃ anuttaraṃ.

The reference to yogakkhema (mastery and protection through disciplined practice) itself conveys a Karmic message, which distinguishes Buddha from others. It emphasizes that disciplined action, combined with mindfulness, leads to the highest spiritual attainment.

Buddha also instructed the Mahāli Lichchhavis in Vaiśālī, stating that it was heedfulness (apramāda) that made Indra the foremost among all gods. Everyone praises those who are heedful, while those who are negligent and devoid of action are always subject to criticism.

appamādena Maghavā devānaṃ seṭṭhataṃ gato.

appamādaṃ pasaṃsanti pamādo garahito sadā.

Similarly, at Jetavana he told a monk that one who is devoted to effort and fears negligence burns away all fetters like fire-

appamādarato bhikkhu pamāde bhayadassi vā.

saṃyojanaṃ aṇuṃ thūlaṃ dahanā aggiva gacchati.

The Buddha emphasized mutual harmony in society, teaching the cessation of hatred-

na hi verena verāni sammantīdha kudaācanaṃ.

averena ca sammantī esa dhammo sanantano.

Hatred is never appeased by hatred, but only by non-hatred (friendliness).

The Buddha was deeply concerned about folk consciousness. He said the mind is flickering, fickle and difficult to restrain; the wise straighten it as a fletcher straightens an arrow-

phandanaṃ capalaṃ cittaṃ dūrakhaṃ dunnivārayaṃ.

ujuṃ karoti medhāvī usukāro va tejanaṃ.

These ideas are philosophical and resonate with the Gītā:

cañcalaṃ hi manaḥ kṛṣṇa pramāthi balavaddṛḍham.

tasyāhaṃ nigrahaṃ manye vāyoriva suduṣkaram.

asaṃśayaṃ mahābāho manodurnigrahaṃ calam.

abhyāsenā tu kaunteya vairāgyeṇa ca gṛhyate.

This also makes it clear that the Buddha's perspective on popular consciousness was not limited merely to external social life. He understood that without inner stability and discipline of the mind, no moral or social reform can be permanently achieved. It is precisely this inner stability and mental discipline that forms the foundation for the practice of ethics, justice, and compassion within society.

Likewise, at Jetavana he taught a monk-

anavaṭṭhitacittassa saddhammaṃ avijānato.

pariplavapasādassa paññā na paripūراتि.



An unstable mind, ignorance of the true Dhamma, and lack of faith obstruct wisdom just as the Gītā states: “*śraddhāvān labhate jñānam*”

For the Buddha, inner purity was central. He said the fragrance of moral conduct surpasses that of sandalwood, tagara, lotus or jasmine:

**candanam tagaram vā pi uppalam vassikī.
etesam gandhajātānam silagandho anuttaro.**

Outer appearances are meaningless without inner purity.

He further stated-

**appamattō ayam gandho yvāyam tagaracandanam.
yo ca silavatām gandho vāti devesu uttamo.**

The fragrance of virtue spreads even among the gods.

In terms of social conduct the Buddha said: if while travelling one does not find a person superior or equal, one should firmly walk alone; companionship with the foolish is harmful-

**carañce nādhigaccheyya seyyam sadisamattano.
Eka cariyam dalham kayirā natthi bāle sahāyatā.**

He encouraged actions that bring no regret and whose fruits one enjoys joyfully:

**taṃ ca kammaṃ kataṃ sadhu yaṃ katvā nānutappati.
yassa patīto sumano vipākaṃ paṭisevati.**

But he reproached the foolish-

**Madhuva maññati bālo yāva pāpaṃ na pacchati.
Yadā ca pacchati pāpaṃ atha bālo dukkhaṃ nigacchati.**

The fool thinks evil is sweet until its consequences manifest.

To strengthen folk consciousness, the Buddha commands avoiding fools and associating with the wise. He told Rādhā-

**Nidhīnaṃ va pavattāraṃ yaṃ passe vajjadasiṇaṃ.
Niggahvādiṃ medhāviṃ tādisaṃ paṇḍitaṃ bhaje.
Tādisaṃ bhajamānassa seyyo hoti na pāpiyo.**

Associate with the wise who point out faults, for it leads to wellbeing.

He repeated the same to Channa Thera-

**Na bhaje pāpake mitte, na bhaje purisādhame.
Bhajetha mitte kalyāṇe, bhajetha purisuttama.**

One should not associate with wicked friends, but with good and noble persons.

At Jetavana he instructed Kāṇa-mātā: just as a deep lake is calm and clear, listening to Dhamma purifies the wise-

**Yathā pi rahado gambhiro vipasanno anāvilo.
Evaṃ dhammāni sutvāna vipasīdanti paṇḍitā.**

The wise always honour true knowledge and accept it free from pride.

From this perspective, it can be said that the Buddha's teachings were not limited merely to individual



liberation or spiritual experience; rather, their aim was also the formation of collective and social consciousness. The fact that he delivered his teachings in Pali reflects a deliberate social and linguistic wisdom. During his time, the general populace of ancient India could not comprehend the languages of classical scriptures-Sanskrit or other complex scholarly languages. Had he delivered his teachings exclusively in such languages, the majority of people would have been unable to understand them.

Recognizing this, the Buddha employed simple, accessible, and expressive language. Through this simplicity, he not only conveyed the essence of Dharma but also directly connected it to the lives and conduct of ordinary people. His effort was not merely religious instruction; it was a comprehensive philosophical endeavor aimed at awakening social consciousness, instilling ethical values, and providing practical guidance for everyday life.

Thus, upon careful consideration, the entire collection of the Dhammapada presents a clear manifestation of popular consciousness. It emphasizes not only personal morality and the significance of karma but also articulates principles of coexistence, compassion, kindness, restraint, and justice within society. The Dhammapada illustrates that the Buddha's approach was not confined to religiosity alone; his objective was to ensure that the lives of ordinary people improved, their thoughts and actions became ethically enriched, and harmony and goodwill prevailed in society.

Hence, in conclusion, the popular consciousness revealed in the Dhammapada serves as a guiding beacon not only for scholars studying classical religious texts but also for contemporary society and ordinary life, offering invaluable lessons in ethics and practical living. The Buddha's teachings remain timeless and universally relevant, providing guidance for social betterment and the upliftment of human life in every age.

Reference :

1. Ish Upanishad-02
2. Swami Dwarka Das Shastri, Buddhist Bharati, Varanasi, 2001, Page No. 10.
3. Kathopanishad- First Chapter, Second Valli-Shloka No.-18
4. Srimadbhagavadgita, 2/20
5. Srimadbhagavadgita, 2/22
6. Nirukta first chapter/first stanza
7. Dhammapada, Gatha No. 1/19, Swami Dwarka Das Shastri, Buddhist Bharati, Varanasi, 2001, Page No. 8.
8. Same, Gatha number- 1/18, page number-8.
9. Same, Gatha number- 2/21, page number-9.
10. Ibid., Verse 2/23, Page 10.
11. Ibid., Verse 2/30, Page 11.
12. Ibid., Verse 2/31, Page 11.
13. Ibid., Verse 1/5, Page 4.
14. Ibid., Verse 3/33, Page 12.
15. Srimad Bhagavad Gita, 6/34-35
16. Dhammapada, Gatha No. 3/38, Swami Dwarka Das Shastri, Buddhist Bharati, Varanasi, 2001, Page No. 13.
17. Srimadbhagavadgita, 5/39
18. Dhammapada, Gatha No. 4/55, Swami Dwarka Das Shastri, Buddhist Bharati, Varanasi, 2001, Page No. 17.
19. Same, Gatha number- 3/56, page number- 17.
20. Same, Gatha number- 3/61, page number- 18.
21. Same, Gatha number- 3/68, page number- 20.
22. Dhammapada, Verse 5/10, Swami Dwarikadas Shastri, Baudha Bharati, Varanasi, 2001, Page 20.
23. Same Verse 6/1, Page 22.
24. Same Verse 6/3, Page 22.
25. Same Verse 6/7, Page 23.





SOCIAL EXCLUSION : A MULTI-DIMENSIONAL CONCEPT



Dr. Sarita Kumari
Associate Professor
Head, Dept. of Political Science
B.D College
Patliputra University, Patna

Social exclusion remains one of the key problems both nationally and globally. There are many definitions of social exclusion to be found in the social policy literature. Whilst there is widespread if, by no means unanimous, agreement about the definition of poverty as a lack of material resources to meet needs, the definition of social exclusion remains a contested term defined in different ways by different authors. This paper is an attempt to understand and address the multiple perspectives related to social exclusion. It has been argued among academicians that this is a multi-dimensional process. The concept was first used in the West and then it has been evolved in a different context. The paper talked about various concepts related to social exclusion, bringing together the multiple perspectives associated with it.

Exclusion implies a state of complete or partial denial of the involvement of a group of people from political, social, and economic rights, opportunities, and advantages. French administrator Rene Lenoir (1974), who was the Secretary of State for Social Action during the Chirac Government, was the first to use this term. He estimated that "the excluded" comprised 10% of the French population that included the mentally and physically handicapped, suicidal people, aged invalids, abused children, drug addicts, delinquents, single parents, multi-problem households, marginals, asocial persons, and other "social misfits." (Lenoir 1974) Ever since then, this terminology has led to several deliberations and discussions on the types of exclusions that people contend with.

It gained currency in the European context in response to the rising unemployment and income inequalities towards the closing decades of the 20th century, a period of considerable economic and social dislocation as countries sought to deal with the challenges of globalisation on their labour markets, welfare states and prevailing ideas about citizenship. In all societies, some groups are socially excluded. However, the groups affected and the degrees of discrimination vary from one society to another, as do the forms that social exclusion takes. Whilst the concept arose in response to dissatisfaction with approaches to poverty that focussed on income alone, the term remains contested and there is no agreed definition.

However, the various definitions have in common an understanding that social exclusion is not only about material poverty and lack of material resources, but also about the processes by which some individuals and groups become marginalised in society. They are excluded not only from the goods and standards of living available to the majority but also from their opportunities, choices, and life chances (Millar, 2007).



Social exclusion has been defined by the Department of International Development (DFID) as “a process by which certain groups are systematically disadvantaged because they are discriminated against based on their ethnicity, race, religion, sexual orientation, caste, descent, gender, age, disability, HIV status, migrant status or where they live. Discrimination occurs in public institutions, such as the legal system or education and health services, as well as social institutions like the household” (DFID, 2005)

Room (1995), in one of the first studies to specifically focus on social exclusion, argued that social exclusion implies a major discontinuity in relationships with the rest of society and points to five key factors which he suggests are central to the definition of social exclusion:

- **Multidimensional:** social exclusion cannot be measured by income alone but should include a wide range of indicators of living standards.
- **Dynamic:** analysing social exclusion means understanding processes and identifying the factors which can trigger entry or exit.
- **Collective:** social exclusion is not just about individual living standards, but also about the collective resources (or lack of these) in the neighbourhood or community. This means insufficient or unsatisfactory community facilities, such as run-down schools, remotely sited shops, poor public transport networks, and so on.
- **Relational:** the notion of poverty is primarily focused upon distributional issues, the lack of resources at the disposal of an individual or a household. In contrast, social exclusion focuses more on relational issues. In other words, it refers to inadequate social participation, lack of social integration, and lack of power.
- **Catastrophic:** a catastrophic separation from society, as a consequence of long-standing and multiple deprivations across all the above.

Atkinson (1998) proposes that social exclusion has three main elements. These are:

- **Relativity:** it implies exclusion from a particular society at a particular time and place.
- **Agency:** it implies an act or acts, by an agent or agents, people are excluded by the actions of others.
- **Dynamics:** people are excluded not just because of their current situation, but also because they have little prospect for the future.

Tsakoglou and Papadopoulos (2002) suggest that there is a consensus around five key attributes of the concept of social exclusion. These attributes are as follows:

- **Multidimensional:** across a wide range of indicators of living standards, including neighbourhood or community resources.
- **Dynamic:** it relates not just to the current situation but also prospects for the future.
- **Relative:** it implies exclusion in a particular society at a particular time.
- **Agency:** it lies beyond the narrow responsibility of the individual.
- **Relational:** meaning a major discontinuity with the rest of society

These definitions are all relating social exclusion to the inability of people to participate in the society in which they live, and arguing that this applies across several dimensions, including



the material but also the social and political. Social exclusion can thus be understood as the continuous and gradual exclusion from full participation in the social, including material and symbolic, resources produced, supplied, and exploited in society for making a living, organising a life and taking part in the development of a (hopefully better) future (Steinert & Pilgram, 2003, p. 5).

Social exclusion can also be seen as a part of Sen's capability approach, which is based on the ideas of 'functionings' and 'capabilities'. 'Functionings' are those things that an individual can do or be in leading a life, such as having a healthy body, being educated, having self-respect, participating in community life, etc. 'Capabilities' are combinations of various functionings which allow an individual to lead the kind of life he or she values. Social exclusion can thus be seen as a process leading to a state in which it is more difficult for certain individuals and groups to achieve certain 'functionings'. The impossibility of reaching a functioning led to a state of deprivation, and the 'state' of social exclusion can be defined as a combination of deprivations.

Thorat (2011), in his paper 'Caste, Social Exclusion and Poverty Linkages: Concept, Measurement, and Empirical Evidence' attempts to address two interrelated issues. First, it tries to conceptualize the nature and dimensions of the "Exclusion-Linked Deprivation" of socially disadvantaged groups particularly the Dalit in Indian society. In that effort, it elaborates on the concept and meaning of caste-based exclusion and its implications for the poverty of excluded groups. Secondly, in this theoretical backdrop it tries to provide empirical evidence on the practice of caste-based exclusion and discrimination and denial of rights to Dalits – in civil, social, cultural, political, and economic spheres – leading lack of income-earning capital assets like agricultural land, employment, education, and social needs like housing, water, electricity.

Social exclusion can be seen as a multidimensional concept which can result in the development of an individual or community or a nation. It is a process of impeding the progress of the marginalized communities disintegrating people and communities into the mainstream development, with a series of institutionalized social systems.

References

1. Atkinson, A.B. (1998). Social exclusion, poverty, and unemployment. In A.B. Atkinson & J. Hills (eds), *Exclusion, Employment, and Opportunity*. CASE Paper number 4, London: Centre for Analysis of Social Exclusion
2. Room, G. (ed.) (1995). *Beyond the Threshold: The Measurement and Analysis of Social Exclusion*. Bristol: The Policy Press
3. Sen, Amartya. (2000). *Social Exclusion: Concept, Application, and Scrutiny*. Social Development Papers No.1. Manila: Asian Development Bank
4. Steinert, H. & Pilgram, A. (2003). *Welfare from Below: Struggles Against Social Exclusion in Europe*. Aldershot: Ashgate Publishing Limited.
5. Tsakloglou, P. & Papadopoulos, F. (2002). Aggregate level and determining factors of social exclusion in twelve European countries. *Journal of European Social Policy*, 12(3), 211-226.
6. Thorat, Sukhadeo. (2011). *Caste, Social Exclusion, and Poverty Linkages: Concept, Measurement, and Empirical Evidence*.





ANALYTICITY, NECESSITY & NATURAL KINDS

REVISITING THE KANT-KRIPKE DEBATE

ABSTRACT : *The Kant–Kripke debate concerning analyticity, apriority, and necessity remains a cornerstone in the philosophy of language and metaphysics. Kant argues that propositions concerning natural kinds, such as “Gold is a yellow metal,” are analytic and a priori. For Kant, the predicate is contained within the concept of the subject, making such judgments explicative rather than ampliative (Critique of Pure Reason A6–7/B10–11). He maintains that necessity is inseparable from apriority, and that analytic judgments—even with empirical concepts—do not rely on sensory verification but only on conceptual analysis (PAFM 4:267).*

Kripke challenges this framework in Naming and Necessity. He argues that propositions like “Gold is a yellow metal” are neither analytic nor a priori but contingent, since empirical investigation reveals gold's essence not in its superficial properties but in its microscopic constitution: having atomic number 79 (Kripke 124–38). From this standpoint, identity statements about natural kinds, such as “Water is H₂O,” are metaphysically necessary but epistemically a posteriori. This doctrine, known as scientific essentialism, suggests that the essence of a natural kind is discoverable only through scientific inquiry (Ellis 17).

The debate raises a fundamental question: must all necessary truths be a priori, as Kant insists, or can there be necessary a posteriori truth, as Kripke claims? This paper critically examines both positions, arguing that while Kant provides the transcendental conditions for the possibility of necessary knowledge, Kripke enriches the analytic framework by showing how reference and rigid designation ground metaphysically necessary truths. Ultimately, the debate highlights the tension between conceptual containment and empirical discovery in the philosophy of language and metaphysics.

Keywords: Kant, Kripke, Analyticity, Necessity, Scientific Essentialism, Rigid Designation

Introduction: Kant v/s Kripke debate is crucially important not only for mainstream analytical philosophy, but also for developments in philosophy of language. In the late twentieth and early twenty-first century, there was much philosophical activity to discuss and explain true propositions related to natural kinds such as gold and water. As a result, the nature of these propositions has been discussed along different lines of philosophical thought within the analytic framework, e.g. the semantics of direct reference, modal metaphysics, modal epistemology, metaphysics of scientific realism, etc.

Nevertheless, the source of the entire development lies in Kant's classical epistemological framework. He argues that the propositions of natural kinds are necessary, *a priori*, and analytically true. He holds:



Dr. Sikander Jamil
Assistant Professor
Head, Department of Philosophy
B.D.College
Patliputra University, Patna



All analytic judgments are *a priori* even when the concepts are empirical, as, for example, "Gold is a yellow metal": for to know this I require no experience beyond my concept of gold, which had as its content that this body is yellow and metal. For just this constituted my concept: and I need only decompose (*zergliedern*) it, without looking beyond it elsewhere. (PAFM 4: 267)

Kant claims that the proposition 'Gold is a yellow metal' is necessarily and analytically true. In the introductory remarks of *Critique of Pure Reason* (first edition), he makes a fine distinction between judgments, on the basis of the relation between the concepts of subject and predicate term. This relation is possible in two distinct ways; either the concept of the predicate term lies within the concept of the subject term or the former concept lies outside the latter, and the judgments are said to be analytic and synthetic respectively (CPR A6-7/B10-11).

'Gold is a yellow metal' is *a priori* in the sense of experience independence. The apriority shows the relation between the concept of the subject term (gold) and the concept of the predicate term (a yellow metal) and doesn't require empirical verification on its each acquaintance. The proposition is not only semantically *a priori*, but also epistemically *a priori*. In order to know the concept, a speaker just requires analysis within the given conceptual insight of gold; without the mediation of any sensory-motor process on his part. The concept is used bracketing the initial sensory experiences by which it was acquired at the first place.

In order to refute the Kantian position, Kripke provides various counterexamples and argues that the propositions such as 'Gold is a yellow metal' is neither analytic, nor necessary, nor *a priori*.

He argues: ...as an example 'gold is a yellow metal,' which seems to me an extraordinary one, because it's something I think that can turn out to be false...Note that Kant's example, 'gold is a yellow metal,' is not even *a priori*, and whatever necessity it has is established by scientific investigation; it is thus far from analytic in any sense." (NN 39/123).

Here, he appears to be agree with the Lockean position that the superficial property (the dominant one by virtue of which it gets identified) of a substance is nothing but the nominal essence of the substance. Kripke denies the *a priori* nature of the proposition on the basis of the perceptual experience of the property. Because he denies apriority character of the proposition, its analyticity is challenged on its own accord. From the Kantian perspective, a proposition is analytic if and only if its epistemic status is '*a priori*.'

Critique of Kripke's arguments against Kant's epistemic position:

The triviality of Kripke's position can be seen in the very beginning of the present work because his approach appears to be pre-Kantian in the first place. Moreover, it is an established Kantian doctrine that necessity is always *a priori*. So, the knowledge that demands the empirical experience can't be necessary. Perhaps, Kripke would like to endorse a position from an altogether different platform. For now, these issues are bracketed, and will be dealt with later on. Deviating from the Lockean position, he maintains that the essence of a natural kind is *knowable* through empirical or scientific investigation. His arguments are based on the doctrine that there are certain causal laws operating behind the reality at micro constitutional level of



the kind. This doctrine may be called as "scientific essentialism" (Ellis 17). He claims:

...scientific investigation generally discovers characteristics of gold which are far better than the original set. For example, it turns out that a material object is (pure) gold *if and only if* the only element contained therein is that with atomic number 79. Here the 'if and only if' can be taken to be strict (necessary). In general, science attempts, by investigating basic structural traits, to find the nature, and thus the essence (in the philosophical sense) of the kind. (Emphasis added; NN 138)

It follows that the essence of the kind may be known by knowing the underlying microscopic (atomic or sub-atomic) structures, e.g. the essence of gold may be known by the proposition 'Gold is the element with atomic number 79.' *Mutatis mutandis*, the same is true for water, the essence of which may be known by 'Water is H₂O.' These propositions show the essential identity relation between a natural kind term and its essence, which we know strictly and solely by empirical means. The propositions are metaphysically or logically necessary in the strict sense of the term because they are true in all logically conceived possible worlds. In the epistemic sense, these are *a posteriori* because they are independent of any kind of a prior investigation in any sense.

On account of scientific essentialism, propositions like 'Gold is a yellow metal' gives no deeper insight about the essence of a kind. We are informed instead about the phenomenological, trivial, superficial, non-essential, macroscopic physical property of the kind. This is sharp contrast to the reality at microscopic level that gives the essence of the kind. From Kripke's viewpoint, the reality at macrophysical level is *trivial* because it may likely to vary in different possible worlds of its existence. For example, gold may turn out to be neither yellow nor metallic, as these are the contingent properties that may be comprehended through ordinary sense perception; hence *a posteriori*.

Kripke is mainly concerned with the problem of reference. He argues that the said properties of gold (being yellow or metallic) may not fix the right reference. In some counterfactual situation the properties may not pick the referent (gold) that is being referred. Some other stuff like fool's gold may be picked out instead (NN 124). Now, how one may find out that the *wrong* referent has been picked out? Kripke shows that empirical investigation is the only means to determine the right reference. In gold's example, the investigation reveals its specific atomic number 79 shows the essence of the very concept (*Ibid.*). He points out that the term 'gold' may refer to different substances in some possible worlds, but the term refers to the concept gold only. That's why; he famously claims that a natural kind term functions as a rigid designator that rigidly designates the same referent in all possible worlds. Here, it is important to point out that the associated description, i.e. 'is a yellow metal' is non-rigid because it may refer to a different stuff.

Here, it is crucial to understand that whether Kripke's doctrine would influence the Kantian position. For example, it is easy to trace that the proposition scientific essentialists hold, 'Gold is the element with atomic number 79' fails on the concept of containment since the concept of



the element with atomic number 79 can't be contained in the concept of gold, because Kant takes gold to be empirical concept which is associated with the synthesis of various empirical intuitions based on the superficial, phenomenological properties of gold; rather than its underlying conceptual microscopic structure.

It is also crucial to understand Kant's theory of matter (CPR A49/B66–7, A265/B321) (MFNS 4: 524–5, 533–4), whether it supports or rejects scientific essentialism, which would be one of the main objectives of the present study. It is also necessary to work out whether the aforementioned proposition that Kripke advocates, is analytically true or not. Is there any possible world (Kripke's modal term) in which gold exists, but not the element with atomic number 79?

Kripke claims that such propositions are necessary, while Kant argues that the necessity is essentially derived from *a priori* element that gives the transcendental conditions for the very possibility of human experience. The main issue here is to identify the sharp contrast between Kant's and Kripke's positions; and at the same time to determine who is holding the correct position; or whose arguments are valid and sound; and whose arguments show fallacies.

If it is assumed that the scientific essentialism is correct, then the Kantian position would be influenced drastically. For instance, the proposition such as 'Gold is a yellow metal' wouldn't be analytic, and it would not be the case that all necessary propositions are *a priori*. From the viewpoint of scientific essentialism, macrophysical properties of gold like yellowness is its contingent property that may vary in some counterfactual situations.

In short, under the Kripkean framework, the natural kind propositions would work as counterexamples to refute the Kantian position concerning necessity; and hence apriority (CPR B4). But if the issue is taken from a different perspective, i.e. if the Kantian position is assumed to be legitimate, then Kripke's doctrine would have following consequences:

- It would be unjustified to endorse the propositions such as 'Gold is a yellow metal' as *not* analytic.
- It would be wrong to hold that identity propositions related to natural kinds are metaphysically necessary, in the strict sense.
- The counterexamples that Kripke provides to refute the Kant's claim that all necessary propositions are *a priori* are *illegitimate*.

Hence, this is an arduous task to explicate objectively both the positions separately. In order to understand Kant's position concerning analyticity and necessity, his literature especially the first critique needs to be examined and evaluated. At the same time, it is crucial to elucidate Kripke's doctrine of rigid designation and his account of necessity by examining his seminal lectures-*Naming and Necessity*; and other related texts.

In the beginning of this century, Kripke's insight has emerged as a sound logical doctrine pertaining to the problem of reference, meaning, and truth of certain propositions of natural kinds. The insight is metaphysical in character that makes extensive use of modal logic. That's why; his arguments appear to be sound and reflect self-evident propositions. In his first seminal



lecture, he argues against important landmarks of the mainstream analytical philosophy, especially Frege and Russell; and in the third lecture, he argues against the Kantian position of analyticity, apriority, and necessity.

Evaluation of Kripke's position

Now, it becomes crucial to understand the basic foundation on which Kripke's theory rests. He is mainly concerned with presenting strictly metaphysically necessary propositions that are true in all logically possible worlds. He argues that a natural kind term functions as a rigid designator that rigidly designate the same referent in all possible worlds in which the referent exists, and never designates or picks out anything in rest of the possible worlds. (NN 9/26/48–9) He appears to be mainly concerned with how reference stipulation practices prevail in a certain community of speakers of a natural language. He presented a causal theory of reference that goes back to the initial use of a specific natural kind term that acts a rigid designator.

On his account of modality, if some modal statements (containing rigid designators) are true, they are necessarily true (IN 162-7). So, these are some theses that Kripke uses as tools to refute the Kantian position. He makes extensive use of natural kind propositions to give several counterexamples to the claim that all necessary truths are *a priori*.

In order to evaluate his position against Kant, it is crucial to go through Kant's notion of analyticity, the epistemological framework that he establishes in most of his polemical works (especially the first critique), and his theory of natural kinds. We also need to address the basic issue: why Kant was so much concerned about making a distinction between the types of judgments, equipped with epistemic terms *a priori* and *a posteriori*? What purpose this distinction serves? Was he concerned with the attainment of necessary and universal knowledge in natural sciences? And more importantly, how he would like to put the limit to the knowledge itself? The types of judgments may vary among natural and mathematical sciences. In the case of the latter, the judgments are absolutely *a priori*, because of the associated absolute necessity and strict universality with mathematical propositions. Pure mathematics serves only pure *a priori* knowledge (CPR B15), while this is not the case with natural sciences.

Conclusive Remarks: Kant's approach to classifying judgments is dualistic. Firstly, it has something to do with the relation between a subject and a predicate term. When a judgment shows the relationship as predicate term lies within the framework of subject term's concept, the judgment may be categorized as analytic. These are the judgments of clarification because nothing new is being added to our knowledge base; only clarification of preexisting concepts is done through analysis. The judgment may be said to be 'explicative'. And when the predicate term goes beyond subject term's concept, and yet related to it, the judgment can be described as synthetic. These are the judgments of amplification because something new is being added to that which is already known to us (CPR A7/B11). In both the cases, the relation is logical. The relation is not merely between the terms only, but between the very concepts themselves. In an analytic judgment, the relationship between the concepts shows absolute necessity; while it is



contingent in the latter case. It is evident from his remark on empirical concept-gold, "had as its content that this body (*dieser Körper*) is yellow and metal" (PAFM 4: 267); and this is the necessary and sufficient condition for its being analyzable.

There appears to be a sharp contrast between both the positions. The doctrine that Kant advocates is what Hanna calls "empirical realism." (*Kant, Science* 29) Human beings have direct access to the essential properties of the corporeal objects (that may include natural kinds, processes, events etc.) that exist in a specific spatiotemporal order (CPR A41–9/B59–73, B274–9, A366–80).

In contrast, there is scientific naturalism (a type of which Kripke supports) according to which the reality is what exact sciences inform us, and all knowledge is ultimately empirical. If this is true, then there is nothing irreducible logical or *a priori*. Both the positions are contradictory, and hence it becomes crucial to know: which position is legitimate. In order to address these issues, it becomes necessary to elucidate both the positions separately in an unbiased and objective manner.

1. Ellis, Brian. *Scientific Essentialism*. Cambridge University Press, 2001.
2. Hanna, Robert. *Kant, Science, and Human Nature*. Oxford University Press, 2006.
3. Kant, Immanuel. *Critique of Pure Reason*. Edited and translated by Paul Guyer and Allen W. Wood, Cambridge University Press, 1998.
4. ---. *Prolegomena to Any Future Metaphysics*. Edited and translated by Gary Hatfield, Cambridge University Press, 2004.
5. ---. *Metaphysical Foundations of Natural Science*. Edited by Michael Friedman, translated by Michael Friedman, Cambridge University Press, 2004.
6. Kripke, Saul A. *Naming and Necessity*. Harvard University Press, 1980.
7. Casullo, Albert, "Kripke on the A Priori and the Necessary," *Analysis*, Vol. 37, No. 4 (Jun., 1977), pp. 152-159.
8. Chalmers, D. J. *The Conscious Mind: In Search of a Fundamental Theory*, New York: Oxford University Press, 1996. Print.
9. Brown, J. "Natural Kind Terms And Recognitional Capacities". *Mind*, 107.426 (1998): 275-303. Web.
10. Burge, Tyler. "Other Bodies," in A. Woodfield (ed.), *Thought and Object: Essay on Intentionality*, Oxford: Clarendon Press, 1982, Print.
11. Hanna, Robert. "Kant, Causation, and Freedom: A Critical Notice of Kant and the Metaphysics of Causality," *Canadian Journal of Philosophy*, 36 (2006): 281–306.
12. ____ "Kant and the Foundations of Analytic Philosophy," Oxford: Clarendon/Oxford University Press, 2001. Print.





Hormonal Regulation of Litchi Fruit Development

Roles, Interactions & Molecular Perspectives

Abstract : *Litchi (Litchi chinensis Sonn.) is an economically important subtropical fruit crop valued for its attractive appearance, pleasant flavor and high nutritional content. However, commercial production of litchi is frequently constrained by irregular flowering, poor fruit set, excessive fruit drop, uneven fruit growth and rapid postharvest deterioration. These physiological disorders are closely associated with the regulation of fruit development by endogenous phytohormones and their interactions with environmental and metabolic signals. Fruit development in litchi is a highly coordinated process encompassing fruit set, early growth by cell division, subsequent enlargement by cell expansion, maturation, ripening and abscission. This chapter provides a comprehensive review of the roles of major plant hormones—including auxins, gibberellins, cytokinins, abscisic acid and ethylene—in regulating these developmental transitions. Auxins and cytokinins dominate early fruit set and retention by promoting cell division and suppressing abscission, while gibberellins stimulate fruit enlargement through enhanced cell expansion. Abscisic acid plays a central role in regulating sugar accumulation, anthocyanin biosynthesis and pericarp coloration during ripening, whereas ethylene primarily controls fruit abscission and senescence rather than climacteric ripening.*

The chapter further highlights the importance of hormonal crosstalk, particularly auxin–ethylene antagonism in abscission control and ABA–sugar synergy in ripening regulation. Recent advances in transcriptomics and hormone profiling have revealed integrated regulatory networks underlying fruit development and stress responses. Practical applications of hormonal manipulation in orchard management and future research perspectives are also discussed. A deeper understanding of hormonal regulation will facilitate the development of improved horticultural practices and breeding strategies aimed at enhancing yield stability and fruit quality in litchi.

Keywords

Litchi (*Litchi chinensis*); fruit development; phytohormones; auxin; gibberellin; cytokinin; abscisic acid; ethylene; fruit abscission; ripening; hormonal crosstalk; orchard management.



Dr. Garima Pathak
Assistant Professor
Head, Department of Botany
B.D.College
Patliputra University, Patna



1. Introduction

Litchi (*Litchi chinensis* Sonn.), belonging to the family Sapindaceae, is one of the most important subtropical fruit crops cultivated extensively in South and Southeast Asia, as well as in parts of Africa and Australia. China is recognized as the primary center of origin and genetic diversity, followed by India, Thailand, Vietnam, South Africa and Australia as major producing countries (Menzel and Waite, 2005; Huang et al., 2019). The fruit is highly valued for its distinctive flavor, juicy translucent aril, attractive bright red pericarp and high nutritional and medicinal properties. Litchi fruit is a rich source of soluble sugars, vitamin C, dietary fiber, polyphenols, anthocyanins and other antioxidant compounds, which contribute to its health-promoting effects and increasing consumer demand in international markets (Jiang et al., 2006; Wall, 2006). Despite its high economic value, litchi production is often limited by several physiological and developmental constraints, including irregular flowering, poor fruit set, heavy fruit drop, small and variable fruit size, uneven maturation and rapid postharvest deterioration. Among these, excessive fruit abscission during early and mid-developmental stages represents one of the most serious yield-limiting factors, frequently resulting in more than 80–90% loss of initial fruitlets (Yuan and Huang, 1988; Su et al., 2025). These developmental disorders are closely associated with imbalances in endogenous phytohormones, carbohydrate availability, environmental stresses and their complex interactions during critical stages of fruit development.

Fruit development in litchi is a highly coordinated and multistage process that includes flower induction, floral differentiation, pollination, fertilization, fruit set, early growth dominated by cell division, later growth characterized by cell expansion, followed by maturation, ripening, senescence and abscission (fig.1). Each of these developmental transitions is regulated by a dynamic network of phytohormones that act both independently and synergistically to control cellular metabolism, gene expression, vascular differentiation, sugar transport, pigment biosynthesis and cell wall remodeling (Giovannoni, 2004; Li et al., 2019). The principal phytohormones involved in litchi fruit development include auxins, gibberellins (GAs), cytokinins (CKs), ethylene (ET) and abscisic acid (ABA), along with emerging regulatory roles for jasmonates (JAs), brassinosteroids (BRs) and salicylic acid (SA). Auxins play a pivotal role in fruit set, early fruit growth and suppression of abscission by promoting cell division and maintaining the functional integrity of the abscission zone (Yuan and Huang, 2012). Gibberellins and cytokinins synergistically regulate early fruit growth by stimulating mitotic activity and cell expansion, thereby determining final fruit size and sink strength (Davies, 2010; Wang et al., 2017). Ethylene, although not acting as the primary ripening hormone in litchi, exerts strong influence on fruit abscission, senescence and postharvest deterioration by activating cell wall hydrolases and membrane-degrading enzymes (Ketsa and Daengkanit, 1999; Jiang et al., 2006). Abscisic acid has emerged as a key regulator of non-climacteric fruit ripening, promoting sugar accumulation, anthocyanin biosynthesis and color development in the pericarp, and interacting closely with sugar signaling pathways (Li et al., 2019; Jia et al., 2011). Unlike climacteric fruits such as banana, apple and tomato, litchi is

classified as a non-climacteric fruit, in which ripening is not associated with a sharp increase in respiration rate or autocatalytic ethylene production (Biale and Young, 1981; Giovannoni, 2004). Instead, ABA and sugar signaling play dominant roles in regulating the onset of ripening, pigmentation and flavor development. Nevertheless, ethylene remains an important modulatory factor influencing pericarp browning, membrane degradation and fruit abscission, particularly under stress and postharvest conditions (Ketsa and Daengkanit, 1999; Jiang et al., 2006). In recent years, advances in high-throughput sequencing, transcriptomics, metabolomics and hormone profiling have provided valuable insights into the molecular networks governing litchi fruit development. Studies have identified coordinated regulation of hormone biosynthesis genes, hormone receptors, signal transduction components and downstream transcription factors during key developmental stages (Su et al., 2025; Wang et al., 2017). These investigations have revealed extensive crosstalk between hormone signaling pathways and sugar metabolism, highlighting the central role of hormonal balance in determining fruit retention, growth rate, coloration and overall fruit quality (fig.1). A comprehensive understanding of the hormonal regulation of litchi fruit development is therefore essential not only for advancing fundamental knowledge of fruit developmental biology but also for designing improved orchard management strategies and breeding programs aimed at enhancing yield stability, reducing fruit drop, improving fruit size and quality, and extending postharvest shelf life. The present review summarizes current knowledge on the roles of major phytohormones in litchi fruit development, their interactions and molecular mechanisms, and discusses their practical applications in litchi cultivation and future research perspectives.



Fig.1 Hormonal regulation and litchi fruit Development and hormonal crosstalk.

2. Stages of Fruit Development in Litchi

Fruit development in litchi (*Litchi chinensis* Sonn.) is a complex, highly regulated process that proceeds through a series of well-defined morphological and physiological phases. These phases include fruit set, early growth dominated by cell division, later growth characterized by cell expansion, and finally maturation, ripening and abscission. Each phase is controlled by a precise balance of endogenous phytohormones and assimilate supply, and disturbances at any



stage can severely affect fruit retention, size and quality (Yuan and Huang, 1988; Wang et al., 2017).

22.1 Fruit Set

Fruit set represents the transition from a fertilized ovary to a developing fruit and is one of the most critical and vulnerable stages in litchi production. Following successful pollination and fertilization, hormonal signals generated in the ovary and developing ovules stimulate cell division, vascular differentiation and sink establishment, leading to the initiation of fruit growth (Davies, 2010; Giovannoni, 2004). However, in litchi, only a small proportion of flowers successfully develop into fruits, and more than 70–90% of young fruitlets are commonly shed during the early post-set period (Yuan and Huang, 1988; Huang et al., 2019).

Auxins, gibberellins and cytokinins accumulate rapidly in the fertilized ovary and act as primary regulators of fruit set. Auxins produced by the developing embryo and endosperm are believed to be the principal signal initiating fruit development by promoting cell division and suppressing abscission zone activation (Yuan and Huang, 2012). Gibberellins and cytokinins further enhance fruit set by stimulating mitotic activity and establishing vascular connections between the fruit and the pedicel, thereby strengthening sink activity (Wang et al., 2017).

Parthenocarpic fruit development has been reported in certain litchi cultivars and under specific hormonal treatments, indicating that fertilization is not always essential for fruit initiation (Menzel and Waite, 2005). In such cases, exogenous application of auxins or gibberellins can substitute for fertilization-derived hormonal signals and induce fruit set. These observations emphasize the central role of hormonal cues, rather than fertilization per se, in triggering fruit development. Despite successful fertilization, fruit set in litchi remains highly unstable and sensitive to carbohydrate availability and environmental stresses. Reduced photosynthate supply during flowering and early fruit development leads to decreased auxin and cytokinin levels and increased ethylene production, resulting in massive fruitlet abscission (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025).

2.2 Early Fruit Growth: Cell Division Phase

Following fruit set, litchi fruit enters a phase of rapid growth dominated by intensive cell division in the pericarp, testa and aril primordium. This phase generally lasts for two to three weeks after anthesis and is a crucial determinant of the final number of cells in the fruit, thereby setting the potential fruit size (Wang et al., 2017; Huang et al., 2019).

Cytokinins and auxins play dominant roles during this stage by activating the cell cycle machinery, including cyclin-dependent kinases (CDKs), cyclins and other cell division regulatory genes (Davies, 2010). High levels of cytokinins are typically detected in young litchi fruits, particularly in tissues surrounding the developing seed, which acts as a major source of growth-promoting hormones (Yuan and Huang, 1988). Auxin signaling further enhances mitotic activity by regulating the expression of auxin response factors (ARFs) and early auxin-responsive genes such as AUX/IAA and GH3 families (Su et al., 2025). During this stage, strong sink establishment occurs as developing fruits compete for assimilates. Any disruption in



hormonal balance or carbohydrate supply can prematurely terminate cell division and lead to reduced fruit size or early abscission. Transcriptomic analyses of litchi fruitlets have shown that down-regulation of genes involved in auxin and cytokinin biosynthesis and signaling precedes massive fruit drop, highlighting the importance of these hormones in sustaining early fruit growth (Su et al., 2025).

2.3 Later Fruit Growth: Cell Expansion Phase

After the completion of the major cell division phase, fruit growth in litchi is driven primarily by cell expansion, which accounts for most of the increase in fruit volume and fresh weight. This phase is characterized by vacuolar enlargement, water uptake, cell wall loosening and the rapid accumulation of soluble sugars in the aril (Wang et al., 2017; Jiang et al., 2006).

Gibberellins and auxins are the principal hormones regulating this stage. Gibberellins promote cell elongation and expansion by inducing the expression of expansins, xyloglucan endotransglycosylases and other cell wall-modifying enzymes that reduce wall rigidity and allow turgor-driven growth (Davies, 2010). Auxins enhance osmotic regulation by stimulating proton pumps and increasing cell wall extensibility, thereby facilitating water uptake and vacuolar expansion. During this stage, the developing seed continues to play a key regulatory role by supplying hormones and maintaining sink strength. Fruits with aborted or poorly developed seeds often show reduced growth rates and higher susceptibility to abscission (Menzel and Waite, 2005). Adequate carbohydrate supply is essential to sustain rapid cell expansion; carbohydrate stress leads to reduced gibberellin and auxin levels and enhanced ethylene biosynthesis, ultimately promoting fruit drop (Yuan and Huang, 2012).

2.4 Maturation, Ripening and Abscission

The final phase of litchi fruit development involves maturation, ripening and eventual senescence and abscission. During maturation, profound physiological and biochemical changes occur, including rapid sugar accumulation in the aril, softening of tissues and the development of the characteristic bright red pericarp color due to anthocyanin biosynthesis (Jiang et al., 2006; Li et al., 2019). Litchi is classified as a non-climacteric fruit, and ripening is not associated with a marked increase in respiration or autocatalytic ethylene production (Biale and Young, 1981; Giovannoni, 2004). Instead, abscisic acid (ABA) and sugar signaling pathways play dominant roles in regulating the onset and progression of ripening. ABA levels increase sharply at the beginning of ripening and are closely correlated with sugar accumulation, anthocyanin synthesis and pericarp coloration (Jia et al., 2011; Li et al., 2019). ABA induces the expression of key genes involved in flavonoid biosynthesis, such as chalcone synthase, dihydroflavonol reductase and UDP-glucose flavonoid glucosyltransferase, thereby promoting pigmentation. Although ethylene does not act as the primary ripening hormone, it plays an important modulatory role in senescence, membrane degradation and pericarp browning during late ripening and postharvest storage (Ketsa and Daengkanit, 1999; Jiang et al., 2006). Ethylene also acts as a major promoter of fruit abscission by activating hydrolytic enzymes in the abscission zone, leading to cell separation and fruit drop. Litchi exhibits severe fruit drop at multiple developmental stages, including early fruitlet drop, mid-season drop and preharvest



drop. Hormonal imbalance is the principal trigger of abscission, with elevated ethylene and ABA levels combined with reduced auxin and cytokinin supply enhancing the sensitivity of abscission zones to separation signals (Yuan and Huang, 1988; Yuan and Huang, 2012). Environmental stresses such as drought, high temperature and carbohydrate shortage further exacerbate fruit drop by stimulating ethylene biosynthesis and suppressing growth-promoting hormones (Su et al., 2025).

3. Role of Auxins in Litchi Fruit Development

Auxins, particularly indole-3-acetic acid (IAA), are central regulators of fruit set, early fruit growth and abscission suppression.

3. Role of Auxins in Litchi Fruit Development

Auxins constitute one of the most important classes of phytohormones regulating fruit development in higher plants. Among them, indole-3-acetic acid (IAA) is the predominant natural auxin and plays a central role in the regulation of fruit set, early fruit growth, vascular differentiation and suppression of abscission. In litchi (*Litchi chinensis* Sonn.), auxins are critical determinants of successful fruit retention and final yield, as fluctuations in auxin levels are closely associated with fruit set failure and excessive fruit drop (Yuan and Huang, 1988; Yuan and Huang, 2012).

Auxins function both as local growth regulators and long-distance signaling molecules, coordinating the communication between developing seeds and maternal tissues. Their biosynthesis, polar transport and signal transduction are tightly regulated during the early stages of fruit development, ensuring the continuous growth of the fruit and preventing premature abscission (Davies, 2010; Su et al., 2025).

3.1 Auxins and Fruit Set

Fruit set represents a crucial developmental transition from a fertilized ovary to a developing fruit, and auxins play a primary regulatory role in this process. After successful pollination and fertilization, auxin levels increase rapidly in the ovary, developing embryo and endosperm. This localized auxin accumulation stimulates cell division in the pericarp and activates vascular differentiation, thereby initiating fruit growth and establishing the fruit as a strong metabolic sink (Gillaspy et al., 1993; Davies, 2010).

In litchi, developing seeds constitute the principal source of auxins that sustain fruit growth. Auxin produced in the embryo and endosperm is transported basipetally into the pericarp and pedicel, where it suppresses abscission zone activation and promotes continuous fruit development (Yuan and Huang, 1988; Wang et al., 2017). In fruits with aborted embryos or poor fertilization, auxin supply is drastically reduced, leading to weakened sink strength and early fruit abscission.

Several studies have demonstrated that exogenous application of synthetic auxins, particularly naphthalene acetic acid (NAA) and 2,4-D, significantly improves fruit set and reduces early fruit drop in litchi orchards (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). These treatments mimic the natural auxin signal derived from developing seeds and help maintain



hormonal balance during the critical post-anthesis period.

Parthenocarpic fruit development observed in certain litchi cultivars and under hormonal treatments further supports the pivotal role of auxins in fruit initiation. Application of auxins alone can substitute for fertilization-derived signals and trigger fruit set, indicating that hormonal cues, rather than fertilization itself, are the primary drivers of fruit initiation (Gillaspy et al., 1993; Menzel and Waite, 2005).

However, fruit set in litchi remains highly sensitive to carbohydrate availability and environmental conditions. Under carbohydrate stress, auxin biosynthesis is suppressed and polar auxin transport is impaired, resulting in insufficient hormonal signaling and massive fruitlet abscission (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025).

3.2 Auxins and Early Fruit Growth

Following fruit set, auxins continue to play a dominant role during the early fruit growth phase, which is characterized by intensive cell division and the establishment of fruit sink strength. Auxins promote both cell division and cell elongation by regulating the expression of numerous growth-related genes and coordinating hormonal crosstalk with cytokinins and gibberellins (Davies, 2010; Giovannoni, 2004). At the molecular level, auxin perception and signaling are mediated through the TIR1/AFB receptor complex, which activates auxin response factors (ARFs) by inducing the degradation of AUX/IAA repressor proteins. Activated ARFs regulate the transcription of early auxin-responsive genes, including members of the AUX/IAA, GH3 and SAUR gene families, which in turn control cell cycle progression, cell wall biosynthesis, vascular differentiation and carbohydrate transport (Woodward and Bartel, 2005; Su et al., 2025). Transcriptomic analyses of developing litchi fruitlets have revealed dynamic changes in auxin biosynthesis and signaling pathways during early fruit growth. Su et al. (2025) reported that genes involved in auxin biosynthesis (YUCCA family), polar auxin transport (PIN and AUX/LAX transporters) and auxin signal transduction (ARFs and AUX/IAA genes) are highly expressed during the cell division phase. Importantly, down-regulation of these genes precedes massive fruit drop, indicating that reduced auxin signaling is an early molecular marker of impending abscission. Auxins also regulate vascular tissue differentiation, which is essential for the efficient transport of water, sugars and minerals into the developing fruit. Enhanced vascular connectivity increases sink strength and supports rapid fruit growth (Gillaspy et al., 1993; Wang et al., 2017). In litchi fruits with defective vascular development, auxin transport is disrupted, leading to reduced assimilate supply and higher susceptibility to abscission.

3.3 Auxins and Abscission Control

One of the most critical roles of auxins in litchi fruit development is the suppression of fruit abscission. Auxins act as powerful inhibitors of abscission by maintaining the functional integrity of the abscission zone and reducing its sensitivity to ethylene, the principal promoter of abscission (Addicott, 1982; Yuan and Huang, 1988).

High auxin levels in the pedicel and abscission zone inhibit the expression of cell wall-



degrading enzymes such as cellulases, polygalacturonases and pectin methylesterases, which are responsible for middle lamella dissolution and cell separation (Addicott, 1982; Yuan and Huang, 2012). Auxins also suppress ethylene biosynthesis by down-regulating ACC synthase and ACC oxidase genes and reduce ethylene sensitivity by modulating ethylene receptor expression. Under favorable conditions, continuous auxin flow from the developing seed maintains abscission zone cells in an inactive state and prevents fruit detachment. However, under carbohydrate stress, drought, high temperature or shading, auxin biosynthesis and transport decline sharply, while ethylene production increases. This hormonal imbalance enhances the sensitivity of the abscission zone to ethylene, leading to the activation of hydrolytic enzymes and rapid fruit drop (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). Practical orchard management practices exploit this regulatory mechanism by applying auxin analogues such as NAA during critical fruit drop periods. Numerous field studies have shown that timely auxin sprays significantly reduce early and mid-season fruit drop and improve final fruit retention in litchi (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). However, excessive or poorly timed auxin application may adversely affect fruit shape, delay coloration or reduce sugar accumulation, emphasizing the need for optimized treatment schedules.

4. Role of Gibberellins in Litchi Fruit Development

Gibberellins (GAs) are growth-promoting hormones that regulate cell elongation, fruit enlargement and seed development.

4. Role of Gibberellins in Litchi Fruit Development

Gibberellins (GAs) represent a large family of diterpenoid phytohormones that play fundamental roles in plant growth and reproductive development. In fruit crops, gibberellins regulate ovary growth, fruit set, cell division and elongation, seed development and the final size and shape of the fruit (Davies, 2010; Hedden and Thomas, 2012). In litchi (*Litchi chinensis* Sonn.), GAs are particularly important during the post-set and early fruit growth stages, when rapid cell expansion determines final fruit size and commercial quality (Menzel and Waite, 2005; Wang et al., 2017). Temporal and spatial regulation of GA biosynthesis, metabolism and signaling ensures the coordinated growth of pericarp tissues and developing seeds. Alterations in GA homeostasis are closely linked with abnormal fruit development, poor fruit retention and impaired fruit quality in litchi (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025).

4.1 Gibberellins and Fruit Growth

Fruit enlargement in litchi proceeds through two major phases: an initial phase dominated by cell division, followed by a prolonged cell expansion phase. Gibberellins play a dominant regulatory role during the latter stage by promoting cell elongation, enhancing cell wall extensibility and stimulating carbohydrate accumulation in expanding cells (Gillaspy et al., 1993; Hedden and Thomas, 2012). Endogenous GA concentrations in litchi pericarp increase markedly during the cell expansion phase, coinciding with the period of rapid fruit enlargement (Wang et al., 2017). GAs promote cell wall loosening by inducing the expression of expansins, xyloglucan endotransglycosylase/hydrolases (XTHs), and pectin-modifying enzymes, which reduce cell wall rigidity and facilitate turgor-driven cell enlargement (Cosgrove, 2000; Hedden



and Thomas, 2012). At the molecular level, bioactive GAs are synthesized through the sequential action of GA20-oxidase and GA3-oxidase enzymes, while GA2-oxidases catalyze GA deactivation. In developing litchi fruits, the coordinated regulation of these enzymes ensures sustained GA availability during the expansion phase (Su et al., 2025). GA perception occurs through the GID1 receptor, which triggers the degradation of DELLA proteins—negative regulators of GA signaling—thereby activating downstream growth-promoting genes (Sun, 2011).

Exogenous application of gibberellic acid (GA₃) has been widely employed in litchi orchards to enhance fruit size and improve fruit shape. Field experiments have demonstrated that GA₃ sprays applied shortly after fruit set significantly increase pericarp thickness and final fruit weight in several cultivars (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). GA treatments are particularly effective in seedless or poorly seeded fruits, where endogenous GA production from developing seeds is limited. However, excessive or improperly timed GA applications may exert deleterious effects on fruit quality. High GA levels can delay pericarp coloration by suppressing anthocyanin biosynthesis and chlorophyll degradation, resulting in uneven or poor red pigmentation (Wang et al., 2017). Moreover, GA-induced dilution effects may reduce soluble sugar concentration and flavor quality, emphasizing the importance of optimized dosage and application timing (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023).

4.2 Interaction with Auxin and Cytokinins

Fruit development in litchi is governed by complex hormonal crosstalk, in which gibberellins interact synergistically with auxins and cytokinins to regulate cell division, expansion and vascular differentiation. Auxin is widely recognized as an upstream regulator of GA biosynthesis, as it induces the transcription of GA20-oxidase and GA3-oxidase genes, thereby increasing the production of bioactive GAs in developing fruit tissues (Ross et al., 2000; Davies, 2010). In litchi, auxin derived from developing seeds stimulates GA accumulation in the pericarp, establishing a hormonal gradient that promotes coordinated fruit growth (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). Conversely, GAs enhance polar auxin transport by regulating the expression and localization of PIN-family auxin efflux carriers, thereby reinforcing auxin distribution patterns essential for vascular development and sink establishment (Frigerio et al., 2006; Wang et al., 2017). Cytokinins interact with gibberellins primarily during the early cell division phase of fruit development. Cytokinins promote mitotic activity in the pericarp, while GAs subsequently stimulate cell elongation, together determining final fruit size (Gillaspy et al., 1993; Davies, 2010). In litchi fruitlets, elevated cytokinin levels during early development are followed by increased GA accumulation during the expansion phase, reflecting a sequential hormonal control mechanism (Wang et al., 2017). This coordinated interaction among auxins, cytokinins and gibberellins ensures the synchronization of cell division and expansion, vascular differentiation and assimilate transport, thereby optimizing fruit growth and structural integrity.

4.3 Gibberellins and Fruit Retention

In addition to promoting fruit growth, gibberellins contribute to the regulation of fruit



retention by modulating the hormonal balance between growth-promoting and abscission-inducing signals. Moderate GA levels help sustain sink strength, enhance assimilate import and counteract stress-induced activation of abscission zones (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). GAs antagonize ethylene action by suppressing ethylene biosynthesis and signaling pathways, thereby reducing the sensitivity of the abscission zone to abscission-promoting cues (Addicott, 1982; Hedden and Thomas, 2012). In litchi, GA treatments applied during early fruit development have been reported to reduce physiological fruit drop under mild stress conditions by maintaining pericarp growth and delaying senescence processes (Menzel and Waite, 2005). Nevertheless, excessive GA accumulation may disrupt the delicate hormonal equilibrium required for normal fruit development. High GA levels can inhibit endogenous auxin synthesis, alter carbohydrate partitioning and reduce abscisic acid (ABA) accumulation, leading to impaired stress responses and increased susceptibility to late-season fruit drop (Yuan and Huang, 2012; Rathava et al., 2023). Furthermore, prolonged GA exposure may compromise fruit coloration, sugar accumulation and postharvest shelf life. Therefore, while gibberellins represent valuable tools for improving fruit size and retention in litchi cultivation, their application must be carefully optimized in terms of concentration, developmental stage and cultivar specificity to avoid undesirable side effects on fruit quality and market acceptability.

5. Role of Cytokinins in Litchi Fruit Development

Cytokinins (CKs) are key regulators of cell division, sink strength and delay of senescence.

5. Role of Cytokinins in Litchi Fruit Development

Cytokinins (CKs) are adenine-derived phytohormones that play central roles in the regulation of cell division, sink establishment, nutrient mobilization and the delay of senescence. In fruit crops, cytokinins are particularly important during the early stages of fruit development, when intense mitotic activity determines final fruit size and structural organization (Davies, 2010; Sakakibara, 2006). In litchi (*Litchi chinensis* Sonn.), CKs contribute significantly to fruit set, early fruit growth, fruit retention and quality formation through their interactions with auxins, gibberellins and ethylene (Menzel and Waite, 2005; Yuan and Huang, 2012).

Endogenous CK levels exhibit dynamic changes during litchi fruit development, with high concentrations detected shortly after fertilization and during the initial weeks of fruit growth, followed by a gradual decline during the cell expansion and maturation phases (Wang et al., 2017). Developing seeds serve as a major source of cytokinins, supporting the concept that seed viability and hormonal signaling from the embryo are crucial determinants of fruit growth potential and retention (Gillaspy et al., 1993; Yuan and Huang, 2012).

5.1 Cytokinins and Cell Division

The early phase of litchi fruit development is dominated by rapid cell division in the pericarp and aril primordium. Cytokinins are the primary hormonal regulators of this mitotic activity. High endogenous CK concentrations have been detected during the first two to three



weeks after fruit set, coinciding with maximal rates of cell proliferation (Wang et al., 2017; Su et al., 2025). At the molecular level, cytokinins stimulate the transcription of cyclins (e.g., CYCD3) and cyclin-dependent kinases (CDKs), thereby promoting the G1–S and G2–M transitions of the cell cycle (Riou-Khamlichi et al., 1999; Sakakibara, 2006). CK signaling is mediated through a multistep phosphorelay system involving histidine kinase receptors (AHKs), histidine phosphotransfer proteins (AHPs) and type-B response regulators (ARRs), which activate genes associated with DNA replication, ribosome biogenesis and cell wall synthesis (Hwang et al., 2012). In litchi, transcriptomic analyses of developing fruitlets have revealed strong expression of cytokinin biosynthetic genes (IPT family) and signaling components during the early developmental phase, highlighting the importance of CK-mediated regulation of pericarp cell number (Su et al., 2025). Developing seeds constitute a major source of cytokinins, and fruits with poorly developed or aborted embryos generally exhibit reduced CK levels, impaired cell division and a high propensity for early fruit drop (Yuan and Huang, 2012; Wang et al., 2017). Thus, cytokinins establish sink strength by sustaining mitotic activity and promoting vascular differentiation, ensuring efficient import of photoassimilates into the developing fruit.

5.2 Cytokinins and Fruit Retention

In addition to their role in cell division, cytokinins play a crucial function in regulating fruit retention by delaying senescence and suppressing abscission. CKs antagonize ethylene action by inhibiting ethylene biosynthesis and signaling pathways, thereby reducing the sensitivity of the abscission zone to abscission-inducing cues (Addicott, 1982; Davies, 2010). In litchi, endogenous CK levels decline sharply prior to periods of massive physiological fruit drop, suggesting that CK deficiency contributes to the activation of abscission processes (Yuan and Huang, 2012). Exogenous application of synthetic cytokinins such as benzyladenine (BA) has been reported to significantly improve fruit retention and reduce early fruitlet abscission in several cultivars (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). The anti-abscission effect of cytokinins is mediated through multiple mechanisms. CKs maintain metabolic activity in the pedicel and abscission zone by sustaining protein synthesis, chloroplast function and carbohydrate supply (Addicott, 1982). Moreover, cytokinins suppress the expression of cell wall-degrading enzymes such as cellulases, polygalacturonases and pectin methylesterases, thereby preserving the structural integrity of the abscission layer (Taylor and Whitelaw, 2001; Yuan and Huang, 2012).

Cytokinins also interact synergistically with auxins in maintaining fruit attachment. While auxins provide a continuous inhibitory signal from the developing fruit to the abscission zone, cytokinins enhance auxin transport and signaling, further strengthening the anti-abscission effect (Davies, 2010; Su et al., 2025).

5.3 Influence on Fruit Quality

Beyond their roles in growth and retention, cytokinins exert indirect but important effects on fruit quality by modulating carbohydrate metabolism, nutrient allocation and secondary metabolite biosynthesis. CKs enhance sink strength by stimulating phloem unloading, sucrose transport and starch metabolism, thereby promoting sugar accumulation in developing fruits



(Roitsch and Ehneß, 2000; Wang et al., 2017). In litchi, BA treatments applied during early fruit development have been associated with increased fruit size and improved aril development, which indirectly enhances sweetness and consumer acceptability (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). Cytokinins may also influence the biosynthesis of phenolic compounds and anthocyanins by regulating the expression of phenylpropanoid pathway genes, although direct evidence in litchi remains limited (Davies, 2010; Wang et al., 2017). Moreover, cytokinins delay senescence by preserving membrane integrity, maintaining chlorophyll content and suppressing oxidative stress, which contributes to improved postharvest shelf life and reduced pericarp browning — a major postharvest problem in litchi (Jiang et al., 2004; Yuan and Huang, 2012). Despite these recognized physiological roles, detailed molecular studies on CK-regulated gene networks in litchi fruit remain scarce. Future research integrating hormone profiling, transcriptomics and functional genomics will be essential to elucidate cytokinin-mediated regulatory pathways governing sugar accumulation, pigmentation and stress tolerance during litchi fruit maturation.

6. Role of Ethylene in Litchi Fruit Development

Ethylene is widely known as the ripening hormone, but in litchi its primary roles are associated with abscission, senescence and postharvest deterioration.

6. Role of Ethylene in Litchi Fruit Development, Abscission and Ripening

Ethylene is a gaseous phytohormone that plays a central role in regulating senescence, organ abscission, stress responses and fruit ripening in higher plants. Although litchi (*Litchi chinensis* Sonn.) is classified as a non-climacteric fruit, ethylene exerts profound effects on fruit abscission, pericarp senescence, browning and postharvest deterioration (Jiang et al., 2004; Yuan and Huang, 2012). Unlike climacteric fruits such as banana and tomato, litchi does not exhibit a sharp increase in respiration or autocatalytic ethylene production during ripening; however, basal ethylene production and ethylene sensitivity remain critical regulators of fruit retention and postharvest quality (Wang et al., 2017). Ethylene biosynthesis in litchi follows the classical Yang cycle, in which S-adenosyl-L-methionine (SAM) is converted to 1-aminocyclopropane-1-carboxylic acid (ACC) by ACC synthase (ACS), and ACC is subsequently oxidized to ethylene by ACC oxidase (ACO) (Yang and Hoffman, 1984). The expression of ACS and ACO genes is tightly regulated by developmental cues, carbohydrate status and environmental stresses, which together determine the magnitude and timing of ethylene production during fruit development and senescence (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025).

6.1 Ethylene and Fruit Abscission

Ethylene is the principal hormonal promoter of fruit abscission in litchi and plays a decisive role in the regulation of massive physiological fruit drop that occurs at several stages of development. Elevated ethylene production in young fruitlets and pedicel tissues activates the differentiation and activation of the abscission zone (AZ), leading to the separation of the fruit from the inflorescence axis (Addicott, 1982; Taylor and Whitelaw, 2001). At the molecular level, ethylene stimulates the transcription of cell wall-degrading enzymes, including cellulases



(endo- α -1,4-glucanases), polygalacturonases, pectin methylesterases and expansins, which hydrolyze the middle lamella and primary cell walls in the abscission layer (Taylor and Whitelaw, 2001; Yuan and Huang, 2012). In litchi, enhanced expression of these hydrolase genes precedes visible fruitlet drop, indicating a direct causal role of ethylene in abscission zone activation (Su et al., 2025). Environmental and physiological stresses markedly increase ethylene biosynthesis in litchi fruitlets. Carbohydrate shortage caused by heavy crop load, shading or low photosynthetic activity leads to carbon starvation in developing fruits, which in turn induces ACS and ACO gene expression and accelerates ethylene production (Yuan and Huang, 2012; Wang et al., 2017). Similarly, drought stress, high temperature and nutrient imbalance enhance ethylene synthesis and fruit drop by activating stress-responsive ethylene signaling pathways (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). Hormonal interactions further modulate ethylene-mediated abscission. Auxins and cytokinins antagonize ethylene action by reducing the sensitivity of the abscission zone to ethylene and suppressing hydrolase gene expression (Addicott, 1982; Davies, 2010). A decline in auxin and cytokinin levels, combined with elevated ethylene and abscisic acid (ABA), creates a hormonal environment conducive to abscission (Yuan and Huang, 2012). From a horticultural perspective, ethylene inhibitors and anti-ethylene treatments have proven effective in reducing fruit drop in litchi. Application of aminoethoxyvinylglycine (AVG), an inhibitor of ACC synthase, significantly decreases ethylene production and improves fruit retention (Menzel and Waite, 2005). Similarly, silver thiosulfate (STS) and 1-methylcyclopropene (1-MCP), which block ethylene perception, delay abscission by suppressing abscission zone activation (Jiang et al., 2004; Rathava et al., 2023).

6.2 Ethylene and Ripening

Although litchi is a non-climacteric fruit, ethylene plays an important modulatory role in regulating pericarp senescence, browning, membrane degradation and postharvest deterioration. During fruit maturation and storage, basal ethylene production increases gradually and contributes to the progression of senescence-associated processes rather than triggering climacteric ripening (Jiang et al., 2004; Wang et al., 2017). One of the most serious postharvest problems in litchi is rapid pericarp browning, which is closely associated with ethylene-induced membrane breakdown and oxidative stress. Ethylene enhances the activity of polyphenol oxidase (PPO) and peroxidase (POD), promotes lipid peroxidation and accelerates the degradation of membrane phospholipids, leading to increased permeability and enzymatic oxidation of phenolic compounds (Jiang et al., 2004; Sivakumar and Korsten, 2006).

Ethylene also stimulates chlorophyll degradation and senescence-related gene expression in the pericarp, contributing to loss of color stability and structural integrity during storage (Wang et al., 2017). Moreover, ethylene interacts synergistically with ABA to promote senescence, while antagonizing cytokinin-mediated delay of aging (Davies, 2010; Yuan and Huang, 2012). The application of ethylene inhibitors has emerged as a highly effective strategy for extending the postharvest life of litchi fruit. Treatment with 1-methylcyclopropene (1-



MCP), a competitive inhibitor of ethylene receptors, significantly delays pericarp browning, reduces membrane lipid peroxidation, suppresses PPO and POD activities, and prolongs storage life under both ambient and cold conditions (Jiang et al., 2004; Zhang et al., 2016). Similarly, controlled atmosphere storage and low-temperature treatments that suppress ethylene biosynthesis and action markedly improve fruit appearance and shelf life (Sivakumar and Korsten, 2006; Wang et al., 2017). Despite its non-climacteric nature, therefore, ethylene plays a crucial regulatory role in litchi fruit abscission, senescence and postharvest physiology. A deeper understanding of ethylene signaling networks and their interaction with sugar and stress signaling pathways will be essential for developing improved orchard management practices and postharvest technologies to enhance yield stability and fruit quality.

7. Role of Absciscic Acid in Litchi Fruit Development

Absciscic acid (ABA) plays a dominant role in non-climacteric fruit ripening and stress responses.

7. Role of Absciscic Acid (ABA) in Litchi Fruit Development, Maturation and Abscission

Absciscic acid (ABA) is a central regulator of fruit maturation, stress responses and abscission in many non-climacteric fruits. Unlike ethylene-dependent climacteric fruits, the ripening of litchi (*Litchi chinensis* Sonn.) is largely governed by ABA and sugar signaling pathways, which orchestrate color development, sugar accumulation and the onset of senescence (Jiang et al., 2004; Wang et al., 2017). Dynamic changes in endogenous ABA concentration and ABA signaling components have been shown to coordinate the transition from fruit growth to maturation and subsequent abscission, particularly under environmental stress conditions (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). ABA biosynthesis in litchi follows the carotenoid cleavage pathway mediated by 9-cis-epoxycarotenoid dioxygenase (NCED), while ABA catabolism is regulated by ABA 8-hydroxylases (CYP707A family). The fine regulation of ABA biosynthesis, transport and signaling determines the timing and progression of ripening and fruit shedding (Nambara and Marion-Poll, 2005; Sun et al., 2010).

7.1 ABA and Fruit Maturation

Endogenous ABA content increases sharply at the onset of litchi fruit maturation and shows a strong positive correlation with pericarp coloration, anthocyanin accumulation and sugar enrichment in the aril (Jiang et al., 2004; Wang et al., 2017). This ABA surge marks the transition from the growth phase to the ripening phase and serves as a primary hormonal signal initiating the ripening program in this non-climacteric fruit.

ABA directly regulates the expression of key structural and regulatory genes involved in flavonoid and anthocyanin biosynthesis. Transcriptomic and physiological studies in litchi have demonstrated that ABA induces the transcription of chalcone synthase (CHS), chalcone isomerase (CHI), flavanone-3-hydroxylase (F3H), dihydroflavonol reductase (DFR), anthocyanidin synthase (ANS) and UDP-glucose flavonoid glucosyltransferase (UGT), thereby promoting anthocyanin accumulation and red pericarp coloration (Zhang et al., 2011; Wang et al., 2017). ABA signaling is mediated through PYR/PYL/RCAR receptors, protein phosphatase



2C (PP2C) inhibitors and SNF1-related protein kinases (SnRK2s), which activate ABA-responsive transcription factors such as ABI3, ABI4 and ABI5 (Cutler et al., 2010). In litchi, ABA-responsive MYB and bHLH transcription factors have been implicated in the transcriptional activation of anthocyanin pathway genes, linking ABA perception directly to pigment biosynthesis (Zhang et al., 2011; Wang et al., 2017). Exogenous ABA application accelerates pericarp coloration and enhances anthocyanin accumulation in immature litchi fruits, whereas ABA biosynthesis inhibitors delay ripening and color development, confirming the central role of ABA in regulating litchi fruit maturation (Jiang et al., 2004; Sivakumar and Korsten, 2006).

7.2 ABA and Sugar Signaling

Sugar accumulation is a hallmark of litchi fruit ripening and a major determinant of sweetness and consumer acceptance. ABA interacts intimately with sugar signaling pathways to coordinate carbohydrate metabolism and transport during maturation (Rolland et al., 2006; Wang et al., 2017). High sucrose concentrations in the developing aril stimulate ABA biosynthesis by inducing NCED gene expression, leading to increased ABA accumulation at the onset of ripening (Sun et al., 2010; Su et al., 2025). Conversely, ABA enhances the expression of sucrose transporters (SUTs), monosaccharide transporters (MSTs) and cell wall invertases, thereby promoting phloem unloading, sucrose cleavage and hexose accumulation in the aril (Roitsch and Ehneß, 2000; Wang et al., 2017). This reciprocal regulation establishes a positive feedback loop in which rising sugar levels induce ABA biosynthesis, and ABA further accelerates sugar import and metabolism, thereby reinforcing the ripening process (Rolland et al., 2006; Su et al., 2025). In litchi, transcriptome analyses have revealed coordinated up-regulation of ABA biosynthetic genes, sugar transporter genes and invertase genes during the ripening phase, underscoring the tight integration of ABA and sugar signaling networks (Wang et al., 2017; Su et al., 2025). Furthermore, ABA modulates the activity of key carbohydrate metabolism enzymes, including sucrose synthase, neutral invertase and fructokinase, thereby influencing sugar composition and the sucrose-to-hexose ratio, which is critical for flavor development in litchi (Roitsch and Ehneß, 2000; Wang et al., 2017).

7.3 ABA and Fruit Abscission

In addition to its role in ripening, ABA is a major hormonal signal promoting fruit abscission, particularly under stress conditions. Environmental stresses such as drought, high temperature, salinity and carbohydrate deficiency markedly increase ABA biosynthesis in litchi fruitlets and pedicel tissues (Yuan and Huang, 2012; Rathava et al., 2023). Elevated ABA levels enhance ethylene sensitivity and stimulate ethylene biosynthesis by inducing ACS and ACO gene expression, thereby amplifying ethylene-mediated abscission signaling (Addicott, 1982; Davies, 2010). ABA also directly activates abscission-related genes encoding cellulases, polygalacturonases and pectin methylesterases, contributing to cell wall dissolution in the abscission zone (Taylor and Whitelaw, 2001; Yuan and Huang, 2012). The balance between ABA and auxin plays a decisive role in determining fruit retention versus shedding. A high ABA/IAA ratio promotes abscission by reducing auxin transport from the fruit to the abscission zone and increasing the sensitivity of AZ cells to ethylene (Addicott, 1982; Yuan and Huang, 2012). In



litchi, a sharp increase in ABA content accompanied by a decline in auxin levels has been consistently observed prior to massive fruit drop events (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). From a practical standpoint, orchard practices that reduce stress-induced ABA accumulation—such as optimized irrigation, balanced nutrition and shading—can significantly improve fruit retention. Moreover, the application of auxins and cytokinins to counteract ABA- and ethylene-mediated abscission has proven effective in reducing physiological fruit drop in litchi (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023).

8. Roles of Other Hormones

8. Role of Jasmonates, Brassinosteroids and Salicylic Acid in Litchi Fruit Development and Postharvest Physiology

In addition to the classical hormones auxins, gibberellins, cytokinins, ethylene and abscisic acid, several other phytohormones play important modulatory roles in litchi fruit development, stress adaptation and postharvest physiology. Jasmonates (JAs), brassinosteroids (BRs) and salicylic acid (SA) participate in hormonal crosstalk networks that fine-tune fruit growth, abscission regulation, defense responses and senescence. Although research on these hormones in litchi remains relatively limited, accumulating physiological and molecular evidence indicates that they exert significant influence on fruit retention, quality formation and shelf life (Menzel and Waite, 2005; Wang et al., 2017; Rathava et al., 2023).

8.1 Jasmonates

Jasmonic acid (JA) and its derivatives, including methyl jasmonate (MeJA) and jasmonoyl-isoleucine (JA-Ile), are lipid-derived signaling molecules that regulate plant defense responses, stress adaptation, senescence and reproductive development (Wasternack and Hause, 2013). In fruit crops, jasmonates modulate fruit set, abscission, ripening and responses to biotic and abiotic stresses through extensive crosstalk with ethylene, abscisic acid and auxin signaling pathways (Turner et al., 2002; Wasternack and Hause, 2013). In litchi, JA accumulation increases under stress conditions such as drought, high temperature and carbohydrate deficiency, which are commonly associated with massive physiological fruit drop (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). Jasmonates enhance the sensitivity of the abscission zone to ethylene by up-regulating ethylene biosynthetic genes (ACS and ACO) and ethylene signaling components, thereby accelerating the activation of cell wall-degrading enzymes and fruitlet separation (Taylor and Whitelaw, 2001; Wasternack and Hause, 2013). JA also interacts synergistically with ABA in promoting stress-induced abscission. Under adverse environmental conditions, elevated ABA stimulates JA biosynthesis, and together these hormones amplify ethylene-mediated abscission signaling (Addicott, 1982; Yuan and Huang, 2012). Transcriptomic analyses of litchi fruitlets undergoing abscission have revealed up-regulation of jasmonate biosynthetic genes such as lipoxygenase (LOX), allene oxide synthase (AOS) and allene oxide cyclase (AOC), supporting a role for JA in the regulation of fruit drop (Su et al., 2025). Beyond abscission, jasmonates may influence fruit defense and postharvest disease resistance. Exogenous MeJA treatments have been shown to enhance antioxidant



enzyme activities, induce pathogenesis-related proteins and reduce fungal decay in litchi and other subtropical fruits (Sivakumar et al., 2005; Wang et al., 2017). However, excessive JA levels may accelerate senescence and browning, indicating that jasmonate signaling must be tightly regulated to balance defense and fruit quality.

8.2 Brassinosteroids

Brassinosteroids (BRs) are steroidal phytohormones that regulate cell expansion, vascular differentiation, reproductive development and stress tolerance (Clouse and Sasse, 1998; Vriet et al., 2012). In fruit crops, BRs promote fruit set, enhance cell enlargement and improve fruit size and quality by stimulating cell wall loosening, carbohydrate transport and hormonal crosstalk with auxins and gibberellins (Symons et al., 2006; Vriet et al., 2012). Although detailed studies on BR function in litchi remain scarce, indirect evidence suggests that BRs contribute to fruit growth and vascular development. BRs induce the expression of expansins, xyloglucan endotransglycosylases and cellulose synthase genes, thereby facilitating cell wall remodeling and fruit enlargement (Clouse and Sasse, 1998; Symons et al., 2006). In addition, BRs enhance xylem and phloem differentiation, strengthening sink capacity and assimilate import into developing fruits (Vriet et al., 2012). Exogenous application of brassinolide and 24-epibrassinolide has been reported to increase fruit size, improve shape and enhance sugar accumulation in several fruit crops, including grape, apple and citrus (Symons et al., 2006; Vriet et al., 2012). Preliminary horticultural trials in litchi suggest that BR treatments applied during early fruit development may enhance fruit enlargement and improve aril development, although systematic physiological and molecular investigations are still lacking (Menzel and Waite, 2005; Rathava et al., 2023). Moreover, BRs confer tolerance to abiotic stresses such as heat, drought and salinity by activating antioxidant defense systems and stress-responsive genes, which may indirectly improve fruit retention and quality under suboptimal growing conditions (Vriet et al., 2012; Rathava et al., 2023). Future studies integrating hormone profiling and functional genomics will be essential to elucidate the precise roles of BR signaling in litchi fruit development.

8.3 Salicylic Acid

Salicylic acid (SA) is a phenolic phytohormone involved in plant defense, systemic acquired resistance, redox homeostasis and senescence regulation (Vlot et al., 2009). In fruit crops, SA plays important roles in modulating antioxidant metabolism, delaying senescence and improving postharvest quality (Asghari and Aghdam, 2010).

In litchi, SA has been extensively studied for its beneficial effects on postharvest physiology, particularly in delaying pericarp browning — one of the most serious limitations to marketability. SA treatments reduce membrane lipid peroxidation, suppress polyphenol oxidase (PPO) and peroxidase (POD) activities, and enhance the activity of antioxidant enzymes such as superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT) and ascorbate peroxidase (APX), thereby maintaining membrane integrity and inhibiting enzymatic browning reactions (Jiang et al., 2004; Sivakumar and Korsten, 2006; Asghari and Aghdam, 2010). SA also modulates ethylene biosynthesis and signaling by inhibiting ACS and ACO activities and reducing ethylene



sensitivity, which delays senescence and prolongs shelf life (Vlot et al., 2009; Asghari and Aghdam, 2010). In litchi, postharvest dipping or fumigation with SA significantly delays pericarp browning, maintains red coloration and extends storage life under both ambient and refrigerated conditions (Jiang et al., 2004; Sivakumar and Korsten, 2006). Furthermore, SA enhances resistance to postharvest pathogens by inducing pathogenesis-related proteins and strengthening cell wall defenses, thereby reducing decay incidence during storage and transport (Asghari and Aghdam, 2010; Wang et al., 2017). Thus, salicylic acid represents a promising eco-friendly postharvest treatment for maintaining litchi fruit quality and extending shelf life.

9. Hormonal Crosstalk and Integrated Regulation of Litchi Fruit Development

Fruit development in litchi is governed by a highly coordinated network of interacting phytohormones rather than by the independent action of individual hormones. This dynamic hormonal crosstalk integrates developmental cues with environmental and metabolic signals to regulate fruit set, early growth, abscission, ripening and senescence. The balance and temporal coordination among auxins, gibberellins (GAs), cytokinins (CKs), abscisic acid (ABA), ethylene, sugars and secondary hormones determine the fate of developing fruitlets and the quality attributes of mature fruits (Addicott, 1982; Menzel and Waite, 2005; Yuan and Huang, 2012; Wang et al., 2017).

Recent transcriptomic and hormone profiling studies in litchi and related fruit crops have demonstrated that developmental transitions are accompanied by coordinated regulation of hormone biosynthesis genes, receptors, transporters and downstream signaling components, highlighting the complexity of integrated hormonal control (Su et al., 2025; Li et al., 2020).

9.1 Auxin–Ethylene Antagonism in the Control of Fruit Abscission

One of the most critical hormonal interactions in litchi is the antagonistic relationship between auxin and ethylene in regulating fruitlet abscission. Auxin transported basipetally from developing seeds and pericarp maintains the integrity of the abscission zone by suppressing ethylene sensitivity and inhibiting the expression of cell wall hydrolases such as cellulases and polygalacturonases (Addicott, 1982; Taylor and Whitelaw, 2001). When auxin levels decline due to embryo abortion, carbohydrate limitation or environmental stress, the abscission zone becomes highly sensitive to ethylene. Elevated ethylene biosynthesis and signaling then activate abscission-related genes, leading to middle lamella dissolution and fruit drop (Yuan and Huang, 2012; Wang et al., 2017). In litchi, exogenous application of auxins such as NAA significantly reduces fruit drop by counteracting ethylene action, while ethylene-releasing compounds accelerate abscission (Yuan and Huang, 2012). Transcriptomic analyses of litchi fruitlets undergoing abscission have revealed coordinated down-regulation of auxin transporters (PINs, AUX/LAX) and up-regulation of ethylene biosynthetic genes (ACS, ACO) and ethylene response factors (ERFs), confirming the central role of auxin–ethylene antagonism in fruit retention (Su et al., 2025).

9.2 ABA–Sugar Synergy in the Regulation of Ripening and Color Development



Ripening and coloration in litchi are strongly regulated by synergistic interactions between ABA and sugar signaling pathways. During the onset of ripening, sucrose accumulation in the aril stimulates ABA biosynthesis by inducing 9-cis-epoxycarotenoid dioxygenase (NCED) expression, leading to a rapid increase in ABA levels (Jia et al., 2013; Wang et al., 2017). ABA, in turn, enhances sugar transport and metabolism by up-regulating sucrose transporters (SUTs), hexose transporters (HTs) and invertases, thereby reinforcing sugar import into the fruit and creating a positive feedback loop that accelerates ripening (Li et al., 2020; Su et al., 2025). This ABA–sugar synergy also promotes anthocyanin biosynthesis by activating key transcription factors and structural genes such as CHS, DFR and UFGT, resulting in rapid pericarp reddening (Jia et al., 2013; Wang et al., 2017). Molecular studies in litchi have shown coordinated up-regulation of ABA receptors (PYR/PYL), SnRK2 kinases and sugar-responsive transcription factors during ripening, demonstrating tight integration between hormonal and metabolic signaling networks (Li et al., 2020; Su et al., 2025).

9.3 Auxin–GA–CK Cooperation in Early Fruit Growth

Early fruit development in litchi is primarily driven by the cooperative action of auxins, gibberellins and cytokinins, which together regulate cell division, cell expansion and vascular differentiation. Following fertilization, auxins produced by developing embryos stimulate GA biosynthesis, which promotes rapid cell elongation and pericarp expansion (Davies, 2010; Wang et al., 2017). Cytokinins further enhance cell division in the early stages by activating cyclins and cyclin-dependent kinases, thereby increasing sink strength and supporting sustained fruit growth (Menzel and Waite, 2005; Davies, 2010). The synergistic interaction among auxin, GA and CK establishes a strong hormonal gradient that ensures successful fruit set and prevents early abscission. Transcriptome profiling of developing litchi fruits has revealed simultaneous induction of auxin-responsive genes (ARFs, AUX/IAAs), GA biosynthetic enzymes (GA20ox, GA3ox) and cytokinin signaling components (HKs, ARR genes), highlighting the coordinated regulation of these growth-promoting hormones (Li et al., 2020; Wang et al., 2017).

9.4 ABA–Ethylene Interaction in Senescence and Stress-Induced Fruit Drop

ABA and ethylene act synergistically to promote senescence and stress-induced fruit abscission in litchi. Under drought, heat or carbohydrate stress, ABA accumulates rapidly and enhances ethylene biosynthesis by inducing ACS and ACO expression (Addicott, 1982; Yuan and Huang, 2012). ABA also increases tissue sensitivity to ethylene by modulating ethylene receptor abundance and downstream signaling components, thereby accelerating senescence-associated processes such as chlorophyll degradation, membrane lipid peroxidation and cell wall disassembly (Vlot et al., 2009; Wang et al., 2017). The ABA/IAA ratio has been identified as a critical determinant of fruit retention versus shedding in litchi, with high ABA and low auxin levels favoring abscission (Yuan and Huang, 2012). Recent transcriptomic studies have demonstrated coordinated activation of ABA biosynthetic genes (NCEDs), ethylene signaling genes (ETRs, EIN2, ERFs) and abscission-related hydrolases during massive fruit drop, underscoring the integrative role of ABA–ethylene crosstalk in regulating fruit fate (Su et al., 2025).



9.5 Transcriptomic Evidence for Integrated Hormonal Regulation

High-throughput transcriptomic analyses have provided compelling evidence for integrated hormonal regulation during litchi fruit development. Comparative RNA-seq studies across developmental stages and abscission events have revealed stage-specific co-expression of hormone biosynthesis genes, receptors, transporters and transcription factors (Li et al., 2020; Su et al., 2025).

- Key regulatory nodes include:
- Coordinated induction of auxin, GA and CK signaling genes during early fruit growth.
- Activation of ABA biosynthesis and sugar signaling components at the onset of ripening.
- Up-regulation of ethylene, jasmonate and ABA pathways during stress-induced abscission.

These findings indicate that litchi fruit development is governed by a multilayered hormonal network in which signal integration occurs at both transcriptional and post-transcriptional levels, enabling precise developmental timing and adaptive responses to environmental cues (Wang et al., 2017; Su et al., 2025).

10. Practical Applications of Hormonal Regulation in Litchi Cultivation

The manipulation of endogenous hormone balance through the application of plant growth regulators (PGRs) constitutes an important component of modern litchi orchard management. Exogenous hormone treatments are widely employed to improve fruit set, reduce excessive fruit drop, enhance fruit size, promote uniform coloration and extend postharvest shelf life. However, the effectiveness of such treatments depends critically on cultivar, developmental stage, environmental conditions, dosage and timing of application (Menzel and Waite, 2005; Wang et al., 2017).

10.1 Auxin Analogues and Control of Fruit Drop

Synthetic auxins such as naphthalene acetic acid (NAA) and 2,4-dichlorophen oxyacetic acid (2,4-D) are commonly applied during early fruit development to suppress excessive fruit abscission. NAA sprays applied shortly after fruit set significantly reduce early fruitlet drop by maintaining auxin flux through the pedicel and decreasing the sensitivity of the abscission zone to ethylene (Yuan and Huang, 2012). Several field studies have demonstrated that NAA treatments increase final fruit retention and yield in commercial litchi orchards, particularly under carbohydrate-limited conditions (Menzel and Waite, 2005; Singh and Suryanarayana, 2010).

10.2 Gibberellins and Fruit Enlargement

Gibberellic acid (GA_3) is widely used to promote fruit enlargement and improve fruit shape. Application of GA_3 during the cell expansion phase enhances pericarp and aril growth by stimulating cell elongation and increasing sink strength (Davies, 2010; Wang et al., 2017). Moderate GA_3 treatments have been reported to increase fruit size and reduce fruit cracking in some cultivars. However, excessive or late applications may delay pericarp coloration, reduce



soluble sugar accumulation and impair flavor development, indicating the necessity for precise dosage and timing optimization (Menzel and Waite, 2005; Singh et al., 2017).

10.3 Cytokinins and Improvement of Fruit Retention

Cytokinin analogues such as benzyladenine (BA) are used to enhance fruit retention and stimulate early fruit growth. BA treatments increase cell division activity, delay senescence and suppress ethylene biosynthesis, thereby reducing premature fruit drop (Menzel and Waite, 2005; Yuan and Huang, 2012). Field experiments have shown that BA application at the post-anthesis stage improves fruit set and increases average fruit weight. However, excessive CK application may lead to abnormal fruit shape and reduced uniformity, underscoring the importance of balanced hormonal management (Wang et al., 2017).

10.4 Ethylene Inhibitors and Postharvest Quality

Ethylene inhibitors, particularly 1-methylcyclopropene (1-MCP), are extensively used to delay senescence and reduce pericarp browning during storage and transport. 1-MCP binds irreversibly to ethylene receptors, blocking ethylene perception and delaying membrane degradation, chlorophyll loss and browning reactions (Blankenship and Dole, 2003). In litchi, postharvest 1-MCP treatment significantly extends shelf life, maintains pericarp color and reduces decay incidence under cold storage (Jiang et al., 2001; Sivakumar and Korsten, 2006).

10.5 ABA and Enhancement of Color Development

Exogenous ABA applications during the onset of ripening enhance anthocyanin accumulation and accelerate pericarp coloration by inducing flavonoid biosynthetic genes (Jia et al., 2013; Wang et al., 2017). ABA sprays are particularly effective in promoting uniform red coloration in cultivars exhibiting delayed or uneven pigmentation. However, excessive ABA may accelerate senescence and increase susceptibility to postharvest browning, emphasizing the need for optimized treatment protocols (Li et al., 2020). Collectively, these practical applications demonstrate the considerable potential of hormone-based interventions in improving litchi productivity and fruit quality. Nevertheless, integrated management strategies combining hormonal treatments with proper nutrition, irrigation and canopy management are essential to achieve consistent and sustainable benefits.

11. Future Perspectives

Despite significant progress in understanding hormonal regulation of litchi fruit development, several key research gaps remain. Future investigations should aim to integrate multi-omics approaches, including hormone profiling, transcriptomics, proteomics and metabolomics, to construct comprehensive regulatory networks governing fruit growth, abscission and ripening (Li et al., 2020; Su et al., 2025, Fig 2). Identification of key regulatory genes and transcription factors controlling hormone biosynthesis, transport and signaling will facilitate the development of hormone-efficient cultivars through molecular breeding and genome editing technologies. Such cultivars may exhibit enhanced fruit retention, improved stress tolerance and superior fruit quality (Wang et al., 2017, fig 2). In the context of global climate change, understanding the interactions between hormonal regulation and environmental stress factors



such as heat, drought and altered photoperiod is increasingly important. Climate–hormone interaction studies will provide valuable insights into the mechanisms underlying climate-induced fruit drop and quality deterioration (Yuan and Huang, 2012; Su et al., 2025). Furthermore, the development of eco-friendly bioregulators derived from natural compounds, microbial metabolites or plant extracts represents a promising direction for sustainable litchi production. Such bioregulators may offer safer alternatives to synthetic hormones while maintaining efficacy and environmental compatibility (Davies, 2010; Singh et al., 2017).



Fig 2. Practical application and future directions.

12. Conclusion

Litchi fruit development is orchestrated by a finely tuned and highly dynamic hormonal network involving auxins, gibberellins, cytokinins, ethylene and abscisic acid. Auxins and cytokinins play dominant roles during fruit set and early growth by promoting cell division and suppressing abscission. Gibberellins drive fruit enlargement through stimulation of cell expansion, while ABA governs maturation, sugar accumulation and pericarp coloration. Ethylene acts primarily as a regulator of abscission and senescence rather than climacteric ripening. The intricate crosstalk among these hormones integrates developmental programs with environmental and metabolic signals, ultimately determining fruit retention, size, quality and postharvest performance. Advances in molecular biology and systems-level analyses have greatly enhanced our understanding of these regulatory mechanisms. Continued research integrating hormone physiology with genomics, breeding and orchard management will provide new opportunities to improve yield stability, fruit quality and sustainability of litchi production.

References

1. Addicott, F. T. (1982). *Abscission*. Univ of California Press.
2. Asghari, M., & Aghdam, M. S. (2010). Impact of salicylic acid on post-harvest physiology of horticultural crops. *Trends in Food Science & Technology*, 21(10), 502-509.
3. Biale, J. B. (1981). Respiration and ripening in fruits-retrospect and prospect. *Recent advances in the biochemistry of fruits and vegetables.*, 1-39.
4. Blankenship, S. M., & Dole, J. M. (2003). 1-Methylcyclopropene: a review. *Postharvest biology and technology*, 28(1), 1-25.
5. Clouse, S. D., & Sasse, J. M. (1998). Brassinosteroids: essential regulators of plant growth and development. *Annual review*



- of plant biology, 49(1), 427-451.
6. Cosgrove, Daniel J. "Loosening of plant cell walls by expansins." *Nature* 407, no. 6802 (2000): 321-326.
 7. Cutler, S.R., Rodriguez, P.L., Finkelstein, R.R., & Abrams, S.R. (2010). Abscisic acid: Emergence of a core signaling network. *Annual Review of Plant Biology*, 61, 651-679.
 8. Davies, P.J. (2010). *Plant Hormones: Biosynthesis, Signal Transduction, Action!* Springer, Dordrecht.
 9. Frigerio, M., et al. (2006). Transcriptional regulation of PIN genes by gibberellins. *Plant Physiology*, 142, 553-563.
 10. Gillaspay, G., Ben-David, H., & Gruissem, W. (1993). Fruits: A developmental perspective. *The Plant Cell*, 5, 1439-1451.
 11. Giovannoni, J. (2004). Genetic regulation of fruit development and ripening. *The Plant Cell*, 16(Suppl), S170-S180.
 12. Hedden, P., & Thomas, S.G. (2012). Gibberellin biosynthesis and its regulation. *Biochemical Journal*, 444, 11-25.
 13. Huang, H., Yuan, R., & Wang, H. (2019). *Litchi and Longan: Botany, Production and Uses*. CABI Publishing.
 14. Hwang, I., Sheen, J., & Müller, B. (2012). Cytokinin signaling networks. *Annual Review of Plant Biology*, 63, 353-380.
 15. Jia, H., et al. (2013). Abscisic acid plays an important role in the regulation of strawberry fruit ripening. *Plant Physiology*, 162, 959-972. (conceptual basis applied to litchi)
 16. Jia, H.F., et al. (2011). Abscisic acid plays an important role in the regulation of strawberry fruit ripening. *Plant Physiology*, 157, 188-199.
 17. Jiang, Y., et al. (2001). Effect of 1-MCP on postharvest quality of litchi fruit. *Postharvest Biology and Technology*, 23, 27-33.
 18. Jiang, Y., et al. (2004). Regulation of senescence-related enzymes in litchi fruit by cytokinins. *Postharvest Biology and Technology*, 33, 179-186.
 19. Jiang, Y., et al. (2006). Postharvest biology and technology of litchi fruit. *Journal of Food, Agriculture and Environment*, 4, 76-81.
 20. Ketsa, S. & Daengkanit, T. (1999). Ethylene involvement in litchi fruit senescence. *Postharvest Biology and Technology*, 15, 193-201.
 21. Li, C., et al. (2020). Transcriptome profiling reveals hormone and sugar signaling networks during fruit development in litchi. *Frontiers in Plant Science*, 11, 1234.
 22. Li, J.G. et al. (2019). ABA-regulated anthocyanin biosynthesis in non-climacteric fruits. *Journal of Experimental Botany*, 70, 2879-2891.
 23. Menzel, C.M., & Waite, G.K. (2005). *Litchi and Longan: Botany, Production and Uses*. CABI Publishing.
 24. Nambara, E., & Marion-Poll, A. (2005). Abscisic acid biosynthesis and catabolism. *Annual Review of Plant Biology*, 56, 165-185.
 25. Rathava, P., et al. (2023). Strategic use of phytohormones to boost litchi production and fruit excellence. *Plant Archives*, 23, 112-120.
 26. Riou-Khamlichi, C., et al. (1999). Cytokinin activation of Arabidopsis cell division through a D-type cyclin. *Science*, 283, 1541-1544.
 27. Roitsch, T., & Ehneß, R. (2000). Regulation of source/sink relations by cytokinins. *Plant Growth Regulation*, 32, 359-367.
 28. Roitsch, T., & Ehneß, R. (2000). Regulation of source/sink relations by cytokinins and sugars. *Plant Growth Regulation*, 32, 359-367.
 29. Rolland, F., Baena-Gonzalez, E., & Sheen, J. (2006). Sugar sensing and signaling in plants. *The Plant Cell*, 18, 2923-2936.
 30. Ross, J.J., et al. (2000). Auxin-gibberellin interactions in plant development. *Plant Growth Regulation*, 32, 1-12.
 31. Sakakibara, H. (2006). Cytokinins: Activity, biosynthesis and translocation. *Annual Review of Plant Biology*, 57, 431-449.
 32. Singh, G., & Suryanarayana, M.A. (2010). Plant growth regulators in litchi production. *Indian Journal of Horticulture*, 67, 1-8.
 33. Singh, Z., et al. (2017). Hormonal regulation of fruit growth and development. *Horticultural Reviews*, 45, 75-136.
 34. Sivakumar, D., & Korsten, L. (2006). Influence of 1-MCP on pericarp browning of litchi. *Postharvest Biology and Technology*, 41, 135-142.
 35. Sivakumar, D., et al. (2005). Methyl jasmonate and postharvest disease control in subtropical fruits. *Postharvest Biology and Technology*, 36, 187-194.
 36. Su, Z., et al. (2025). Sugar signaling-mediated hormonal regulatory networks underlying fruit abscission and development in litchi. *BMC Plant Biology*, 25, 7557.



37. Sun, L., et al. (2010). Sugar and ABA signaling in fruit ripening. *Journal of Experimental Botany*, 61, 401–412.
38. Sun, T.P. (2011). The molecular mechanism and evolution of the GA–GID1–DELLA signaling module in plants. *Current Biology*, 21, R338–R345.
39. Symons, G.M., et al. (2006). Brassinosteroids regulate fruit development and ripening in tomato. *Plant Physiology*, 140, 104–116.
40. Taylor, J.E., & Whitelaw, C.A. (2001). Signals in abscission. *New Phytologist*, 151, 323–339.
41. Turner, J.G., Ellis, C., & Devoto, A. (2002). The jasmonate signal pathway. *The Plant Cell*, 14, S153–S164.
42. Vlot, A.C., Dempsey, D.A., & Klessig, D.F. (2009). Salicylic acid, a multifaceted hormone to combat disease. *Annual Review of Phytopathology*, 47, 177–206.
43. Vriet, C., Russinova, E., & Reuzeau, C. (2012). From squalene to brassinolide: The steroid metabolic and signaling pathways across the plant kingdom. *Molecular Plant*, 5, 903–914.
44. Wall, M.M. (2006). Ascorbic acid, vitamin A, and mineral composition of banana and litchi. *Journal of Food Composition and Analysis*, 19, 155–160.
45. Wang, H. et al. (2017). Litchi fruit set, development and maturation. *Springer*.
46. Wang, H., et al. (2017). Litchi fruit set, development and maturation. *Horticultural Reviews*, 45, 1–42.
47. Wasternack, C., & Hause, B. (2013). Jasmonates: Biosynthesis, perception, signal transduction and action in plant stress response, growth and development. *Annals of Botany*, 111, 1021–1058.
48. Woodward, A.W., & Bartel, B. (2005). Auxin: Regulation, action, and interaction. *Annals of Botany*, 95, 707–735.
49. Yang, S.F., & Hoffman, N.E. (1984). Ethylene biosynthesis and its regulation in higher plants. *Annual Review of Plant Physiology*, 35, 155–189.
50. Yin, X.R. et al. (2001). Regulation of litchi fruit maturation and coloration by ABA and ethylene. *Acta Horticulturae*, 558, 363–370.
51. Yuan, R. & Huang, H. (2012). Carbohydrate stress and hormone regulation of litchi fruit abscission. *International Journal of Molecular Sciences*, 13, 16084–16103.
52. Yuan, R., & Huang, H. (1988). Litchi fruit abscission: physiological mechanisms. *Scientia Horticulturae*, 36, 65–75.
53. Zhang, Z., et al. (2011). Abscisic acid regulates anthocyanin biosynthesis in litchi fruit. *Journal of Plant Physiology*, 168, 1612–1620.
54. Zhang, Z., et al. (2016). 1-MCP delays senescence and browning in litchi fruit by regulating membrane lipid metabolism. *Food Chemistry*, 196, 122–129.





From Surface Modification to Performance

Hydrophobic Jute Fabrics & Their Applications



Dr. Anil Kumar
Assistant Professor
Department of Physics
B. D. College
Patliputra University, Bihar

Dr. Sujan Dutta^a, Dr. Anil Kumar^b

^aDepartment of Chemistry, B.D. College, Patna 800001, Bihar, India

^bDepartment of Physics, B.D. College, Patna 800001, Bihar, India



Dr. Sujan Dutta
Assistant Professor
Department of Chemistry
B.D.College
Patliputra University, Patna

ABSTRACT : *Jute is a leading sustainable fibre owing to its low cost and eco-friendly nature. Despite its potential, its utility is often hampered by high hydrophilicity, poor thermal stability, and inconsistent quality. To overcome these barriers, surface modification techniques—ranging from physical treatments like plasma and radiation to chemical methods such as silanation and nanoparticle coating—are employed to induce water-repellency. These challenges can be mitigated through surface modification of jute to impart water-repellent (hydrophobic or superhydrophobic) characteristics using physical and chemical treatment approaches. This review provides a comprehensive overview of the sources and properties of jute fabrics, examining physical modification techniques such as plasma and radiation treatments, as well as chemical methods including fluorination, silane coupling agents, sol-gel processes, polymer coatings, and nanoparticle-based coatings. These strategies effectively lower surface energy and create nanoscale surface roughness, leading to water-repellent jute fabrics. Modified jute*

finds applications in waterproof textiles, oil-water separation, moisture-resistant packaging, construction materials, and durable composite systems. This review emphasises the necessity of developing high-performance, eco-conscious coatings that enhance jute's functionality without compromising its environmental integrity.

Keywords : *Jute, hydrophobic, contact angle, surface modification;*

Introduction : Jute is a widely cultivated lignocellulosic natural fibre, primarily produced in India and Bangladesh, and is commonly referred to as the “Golden Fibre.” [1-3]. It is valued for its affordability, high moisture absorption, and favourable mechanical properties. Derived mainly from *Corchorus olitorius* and *Corchorus capsularis*, jute fibres are obtained through retting after a short growth cycle of 3–6 months. The fibres exhibit high tensile strength, moderate elongation at break, and a high cellulose content that ensures durability, while lignin and hemicellulose contribute to rigidity and moisture-related behavior. Jute is fully biodegradable, thermally insulating, and



decomposes at relatively low temperatures, making it an environmentally friendly material. Owing to its sustainability and functional performance, jute is extensively used in textiles, composites, geotextiles, and home furnishings [4,5].

Despite these advantages, the broader utilisation of jute fibre is limited by several inherent drawbacks, including high moisture absorption, poor water resistance, low thermal stability, and limited chemical resistance. These limitations reduce durability, particularly in humid environments, and restrict the use of jute fibre in high-performance and long-term applications. So, the jute fibre needs to be modified to improve Water-repellent properties. The successful development of hydrophobic jute materials will revive the jute market for its diverse applications [6,7]. To create a truly superhydrophobic surface, one must balance physical roughness with low surface energy. Current research highlights two main pathways: single-step methods like vapour-phase deposition, which handle roughening and modification at once, and multi-step methods that apply a coating after the surface has been textured. These advancements are particularly impactful for jute-based composites. By providing a robust barrier against water, these coatings ensure the fibres remain stable and durable, preventing the moisture damage that often compromises natural fibre materials [8,9].

This study reviews hydrophobic jute fibres with strong water-repellent properties. It highlights how hydrophobic coatings can improve the surface quality of jute fabrics while keeping them sustainable. Modern

surface treatments make jute more durable and versatile for a wide range of uses without losing its eco-friendly benefits. Finally, potential applications of superhydrophobic surfaces in the jute industry are discussed to improve understanding of bionic technology and to inspire new approaches for its practical use.

Superhydrophobic Features

The hydrophobic effect refers to the tendency of water droplets to form nearly spherical shapes on a surface and to roll off easily. This behavior is commonly described by the water contact angle, which is the angle between the liquid-vapor interface and the solid surface at the point where solid, liquid, and vapor meet. Based on the contact angle (θ), surface wettability is classified into four types: (a) superhydrophilic ($\theta \approx 0^\circ$, complete wetting), (b) hydrophilic ($\theta < 90^\circ$, partial wetting), (c) hydrophobic ($90^\circ < \theta < 150^\circ$, limited wetting), and (d) superhydrophobic ($\theta > 150^\circ$, very poor wetting). Surfaces with contact angles greater than 150° are known as superhydrophobic surfaces (SHSs) [10-11]. Wetting behaviour of a liquid droplet on solid substrates with different contact angles is shown in figure 1.

The classical theoretical framework for contact angle analysis was introduced by Thomas Young [12] in 1805 for an ideal, smooth, homogeneous, and rigid surface and is expressed as:

$$\cos\theta = \frac{\gamma_{SV} - \gamma_{SL}}{\gamma_{LV}}$$

where θ denotes the apparent contact angle, and γ_{SV} , γ_{SL} and γ_{LV} represent the interfacial tensions at the solid-vapor, solid-liquid, and liquid-vapor interfaces, respectively.

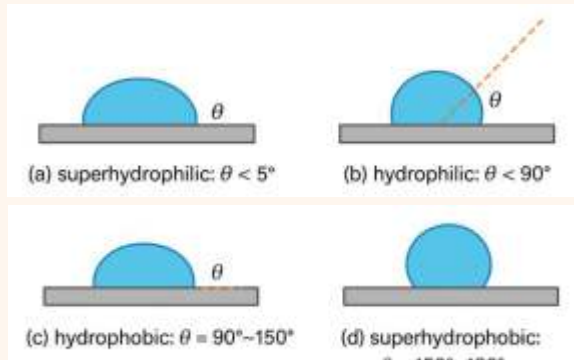


Figure 1. Wetting behavior of a liquid droplet on solid substrates with different contact angles (Image generated with ChatGPT).

Hydrophobic Coating

Jute fibres are intrinsically hydrophilic owing to their high cellulose and hemicellulose content, which is rich in hydroxyl functional groups. As a result, jute fabrics readily absorb water and other liquids, making them susceptible to staining and microbial growth and thereby restricting their use in a range of applications. To overcome these limitations, numerous surface modification approaches have been developed to impart hydrophobicity to jute fibres while preserving their mechanical properties. The development of hydrophobic materials primarily depends on two key factors: surface roughness [13] and surface chemical composition [14]. In textile substrates, hydrophobic behaviour is strongly influenced by the presence of hierarchical surface structures at both micro- and macro-scales. Previous studies have comprehensively reviewed the fabrication of hydrophobic and superhydrophobic textile materials [15-17].

Surface modification strategies for sustainable jute products vary in their environmental impact and are typically divided into physical and chemical methods. Physical techniques focus on topographical

manipulation without changing the fibre's chemistry. Chemical modifications, however, utilise covalent bonding to transform the surface, effectively shielding the hydrophilic hydroxyl groups. This reduction in surface energy is critical for transitioning jute from a moisture-sensitive material to a high-performance, waterproof composite [18-20].

However, for better results, most of the hydrophobic coating is a blend of both physical and chemical techniques. Even certain techniques are carried out in a single step, whereas others require multi-step processes. A one-step method involves achieving surface roughening and chemical modification simultaneously. In contrast, a multi-step method first creates a rough surface through a subtractive process, followed by surface modification with low-surface-energy materials to impart superhydrophobicity. Hence, it is preferable not to categorise hydrophobic coating techniques under a single method. The present review highlights the fundamental principles and principal methodologies employed in developing hydrophobic surfaces on jute fabrics. A possible hydrophobic jute fabric treatment technique is shown in figure 2.

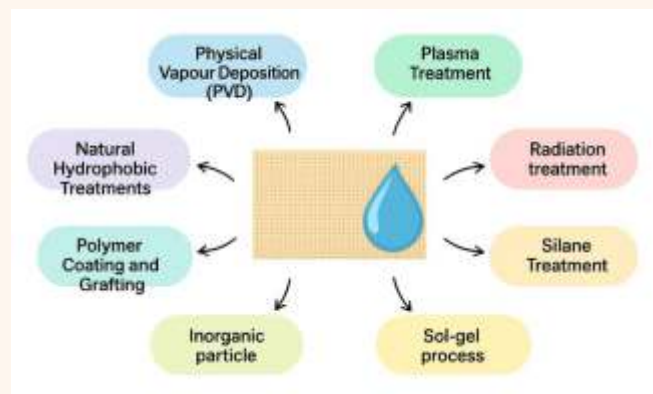


Figure 2. Hydrophobic jute fabric treatment techniques (Image generated with ChatGPT).



Physical Vapor Deposition (PVD) and Sputtering

PVD and sputtering techniques deposit thin hydrophobic coatings onto jute fibre surfaces without chemical reactions. Physical Vapor Deposition (PVD) is a vacuum-based process where material is transferred from a solid or liquid source to a substrate. This technique encompasses several distinct methodologies, most notably sputtering, thermal evaporation, and pulsed laser deposition (PLD). Each method operates under vacuum conditions to ensure a high-purity coating on the target material [10, 21]. As a primary PVD methodology, magnetron sputtering is extensively utilized to engineer hydrophobic surfaces. By utilizing a magnetic field to enhance plasma density, this process allows for the efficient deposition of low-surface-energy materials onto various substrates.

Plasma Treatment

Plasma treatment is one of the most widely used physical methods for modifying jute surfaces. Plasma exposure induces surface etching, increases surface roughness, and can remove surface impurities. When followed by the deposition of low-surface-energy materials, plasma-treated jute fabrics exhibit significantly enhanced hydrophobicity. Various gases, such as argon, oxygen, nitrogen, and fluorine, are used to modify the surface. This method is environmentally friendly and suitable for controlled surface modification. Jute treated this way can reach water contact angles over 150° , making it ideal for high-performance water-resistant packaging. To optimise outcomes, a dual-stage approach—integrating plasma pretreatment with a

subsequent chemical coating is often employed. This synergistic strategy enhances both the durability and the functional performance of the jute surface, ensuring a more robust bond between the fibre and the finish [22, 23]. However, these benefits are offset by significant equipment costs and a lack of chemical selectivity.

Laser Surface Texturing

Laser Surface Texturing (LST) represents a sophisticated, sustainable, and non-contact methodology for modifying fibre surfaces. It effectively transforms naturally hydrophilic and absorbent jute into hydrophobic or superhydrophobic materials. During LST, a laser beam is irradiated on the surface, resulting in the localised evaporation of the material and formation of specific surface textures that significantly enhance water repellency, a characteristic that is further amplified when integrated with hydrophobic agents [24, 25].

Radiation Assisted Hydrophobization

High-energy radiation treatments like ultraviolet (UV) or gamma rays are highly effective methods for engineering superhydrophobic properties onto jute fabrics. Radiation treatment offers an easy, single step, economical, and environmentally friendly method. Pant et al. reported the modification of hydrophilic jute fibres by grafting long-chain hydrocarbon molecules specifically butyl methacrylate, octyl acrylate, and lauryl methacrylate via gamma radiation. Their research concluded that lauryl methacrylate was the most effective agent for achieving the target level of hydrophobicity among the tested monomers [26, 27].

Silane Treatment



Silane coupling agents are among the most widely used chemical modifiers for jute fibres. Alkyl- or fluorinated silanes react with surface hydroxyl groups, forming covalent Si–O–C bonds and creating a hydrophobic outer layer. Silane treatments are known for good durability and compatibility with composite and textile applications. The modification significantly lowers the material's surface energy, which is the primary driver for transforming the jute into a hydrophobic textile. Tyagi et al developed superhydrophobic jute bags by using Triethoxyvinylsilane, a widely used hydrophobic silane coupling agent and found a contact angle of 111° [28, 29].

Sol-gel process

Sol-gel modification is an effective, eco-friendly, and cost-effective technique to render inherently hydrophilic jute fabrics hydrophobic (water-repellent) or superhydrophobic. The procedure begins by preparing a sol a colloidal suspension of nanoparticles and applying it to the jute fabric. During the gelation phase, the sol transitions into a porous, 3D silica network. By functionalizing this network with hydrophobic groups (like alkyl or fluoroalkyl chains), the fabric attains superhydrophobicity. This dual-action structure provides the essential nanoscale roughness and low surface energy required for high water repellency. Tetraethyl orthosilicate (TEOS) is the most common precursor, which forms a silica network on the jute fibre. However, to increase hydrophobicity, agents like Methyltriethoxysilane (MTMOS), Octadecyltrichlorosilane (OTS), or Hexadecyltrimethoxysilane (HDTMS) are added to the sol to modify the silica surface

[30, 31].

Inorganic Particle

Inorganic particles, particularly in nanoparticle form, are applied to the surface of naturally hydrophilic jute fibres to enhance their hydrophobicity, reducing water absorption for use in composites and geotextiles. These particles generally work by filling surface micropores and creating rough, low-surface-energy coatings, often in combination with hydrophobic coupling agents. Mou et al reported hydrophobic jute-cotton union fabric using TiO_2 and ZnO nanoparticles by using the dip-pad-dry-cure method along with a 2 wt% acrylic binder [30]. Yo et al developed a durable superhydrophobic surface by using polydimethylsiloxane (PDMS)/copper sulfide (CuS) [32].

Polymer Coating and Grafting

Polymer coatings effectively transition naturally hydrophilic jute into hydrophobic or superhydrophobic states, which drastically minimises water uptake and boosts material longevity. By utilising agents such as polystyrene, polydimethylsiloxane (PDMS), and polyethylene, fluoropolymers can be grafted or coated onto jute fabrics. These modifications create a hydrophobic layer on the jute fabric and can achieve water contact angles exceeding 150° . Lei et al. developed a superhydrophobic cotton specifically for oil–water separation by applying a diluted poly (tetrafluoroethylene) (PTFE) dispersion [33]. Furthering surface complexity, Tudu et al. engineered a superoleophobic finish using a combination of tetraethyl orthosilicate (TEOS) and perfluorodecyltriethoxysilane (PFDTs) [34]. Meanwhile, Pan et al. achieved superhydrophobicity through a dual-



precursor method involving TEOS and dodecyltrimethoxysilane (DTMS) [35].

Natural Hydrophobic Treatments

Natural hydrophobic coatings for jute fabrics, based on long-chain fatty acids, plant oils, and natural waxes, provide an eco-friendly approach to reducing the inherent hydrophilicity of cellulose fibres. These biodegradable and fluorine-free coatings enhance moisture resistance and are compatible with sustainable textile practices, though their hydrophobic durability is generally lower than that of covalent chemical treatments [36, 37]. David et al developed hydrophobic jute fibres by using zinc oxide nanoparticles and a fatty acid [38].

Acetylation, Alkylation and Esterification Treatment

Jute fibres are inherently hydrophilic due to the abundance of hydroxyl (–OH) groups in cellulose and hemicellulose. Chemical modifications such as acetylation, alkylation, and esterification are widely employed to reduce this hydrophilicity by substituting or masking these –OH groups with nonpolar moieties, thereby lowering surface energy and enhancing water repellency [39,40].

These methods allow for the achievement of superhydrophobicity while preserving the textile's breathability and strength. Choosing the appropriate treatment involves balancing application-specific demands, environmental resilience, and coating longevity to ensure maximum performance.

Applications of Hydrophobic Jute Fabrics

The development of superhydrophobic jute through surface modification has unlocked new potential for this natural fibre.

By engineering the surface energy of these natural fibres to achieve extreme water repellency, jute is transformed into a versatile substrate suitable for a wide array of industrial and environmental applications. Here are some application ideas for hydrophobically treated jute fibres.

Water Resistant Textile and Packaging Materials

Hydrophobic jute fibres are primarily used in bags, textiles, and footwear, with water-repellent jute fabrics emerging as eco-friendly alternatives to plastic-based shopping bags. Superhydrophobic jute bags effectively prevent moisture ingress into food grains, thereby reducing mold growth, fungal contamination, and material degradation. Durable, treated jute fabrics are also suitable for applications in furniture, bags, and geotextiles, where water repellency and stain resistance are required. Nik et al. developed water-repellent jute bags using NUVA N2114 as a water-repellent agent, acetic acid, and Arkophob DAN as a fixer [41]. Kumar et al. reported fluorine-free TiO₂-alkyl silane-based superhydrophobic jute bags for sustainable food packaging applications.

Water–Oil Separation

The safest technique for the immediate disposal of oil and crude oil products is to absorb thin films from the surface. Hydrophobic jute fibre is a sustainable, cost-effective, and biodegradable material used for oil-water separation in industrial wastewater treatment and oil spill cleanups [42]. Ahuja et al developed a superhydrophobic sponge from discarded jute bags for oil-water separation by using TEOS/HDTMS [43].



Building and Construction

The incorporation of hydrophobic jute fibres as reinforcement in polymer matrix composites has created sustainable alternatives for advanced structural applications. As renewable, biodegradable, and low-cost materials, hydrophobic jute-based composites offer environmentally friendly solutions for the building and construction sector, including partition panels, false ceilings, boards, walls, floors, window and door frames, roof tiles, and prefabricated structures for disaster-relief applications. In addition, these composites are widely used in household products such as chairs, tables, lampshades, suitcases, roofing components, and bathroom units, and can serve as sustainable substitutes for wood in interior construction while providing enhanced moisture resistance and durability [44].

Automotive Industry

Jute composites are extensively used in the automotive industry for interior and exterior components such as door panels, insulation layers, headliners, carpets, and molded trims. Hybrid composites are preferred due to their lightweight structure, high strength-to-weight ratio, cost-effectiveness, durability, and design flexibility. Non-woven jute mats can be easily molded into complex shapes, enabling their use in components like car door panels and interior linings. [45].

Conclusions and Perspectives

Modified superhydrophobic jute fabrics have attracted significant attention due to their excellent waterproofing and antifouling properties. Current approaches primarily involve constructing microstructures on jute

surfaces and applying low-surface-energy coatings. Superhydrophobic jute has been widely explored for applications in textiles, packaging, automotive components, and oil recovery. However, several challenges remain, including the use of harmful chemicals and the reduction of mechanical strength after surface modification. Future research should therefore focus on improving mechanical stability while incorporating environmentally friendly materials, offering promising prospects for the development of advanced superhydrophobic jute fabrics.

Disclosure Statement

No potential conflict of interest was reported by the authors.

References

1. Shahinur, S.; Sayeed, M. A.; Hasan, M.; Sayem, A. S. M.; Haider, J.; Ura, S. Current development and future perspective on natural jute fibers and their biocomposites. *Polymers* 2022, 14(7), 1445.
2. Sathish, S.; Karthi, N.; Prabhu, L.; Gokulkumar, S.; Balaji, D.; Vigneshkumar, N.; Dinesh, V. P. A review of natural fiber composites: Extraction methods, chemical treatments and applications. *Mater. Today: Proc.* 2021, 45, 8017–8023.
3. Pujari, S.; Ramakrishna, A.; Kumar, M. S. Comparison of jute and banana fiber composites: a review. *Int. J. Curr. Eng. Technol.* 2014, 2(2), 121–126.
4. Dalawai, S. P.; Aly, M. A. S.; Lathe, S. S.; Xing, R.; Sutar, R. S.; Nagappan, S.; Liu, S. Recent advances in durability of superhydrophobic self-cleaning technology: a critical review. *Prog. Org. Coat.* 2020, 138, 105381.
5. Ashraf, M. A.; Zwawi, M.; Taqi Mehran, M.; Kanthasamy, R.; Bahadar, A. Jute based bio and hybrid composites and their applications. *Fibers* 2019, 7(9), 77.
6. Ali, A.; Shaker, K.; Nawab, Y.; Ashraf, M.; Basit, A.; Shahid, S.; Umair, M. Impact of hydrophobic treatment of jute on moisture regain and mechanical properties of composite material. *J. Reinf. Plast. Compos.* 2015, 34(24), 2059–2068.
7. Rahman, M. M.; Sinha, K. G.; Alif, M. A. R.; Hassan, M. S.; Mohd, M. F. B.; Siddique, A. R.; Nik, W. M. N. W. Development of Water-Repellent Jute Fabric as a



- Sustainable Solution for Bag Production. *BioResources* 2026, 21 (1), 1001–1012.
8. Guo, Y.; Li, C.; Li, X.; Xu, H.; Chen, W.; Fang, K.; Xie, R. Fabrication of superhydrophobic cotton fabric with multiple durability and wearing comfort via an environmentally friendly spraying method. *Ind. Crops Prod.* 2023, 194, 116359.
 9. Ge, H.; Liu, Y.; Liu, F. Up to date review of nature-inspired superhydrophobic textiles: Fabrication and applications. *Materials* 2023, 16 (21), 7015.
 10. Ju, Y.; Ai, L.; Qi, X.; Li, J.; Song, W. Review on hydrophobic thin films prepared using magnetron sputtering deposition. *Materials* 2023, 16 (10), 3764.
 11. Rajasekar, R.; Kim, N. H.; Jung, D.; Kuila, T.; Lim, J. K.; Park, M. J.; Lee, J. H. Electrostatically assembled layer-by-layer composites containing graphene oxide for enhanced hydrogen gas barrier application. *Compos. Sci. Technol.* 2013, 89, 167–174.
 12. Young, T. An Essay on the Cohesion of Fluids. *Philos. Trans. R. Soc. London* 1805, 95, 65–87.
 13. Chen, J.; Yuan, L.; Shi, C.; Wu, C.; Long, Z.; Qiao, H.; Wang, K.; Fan, Q. H. Nature-Inspired Hierarchical Protrusion Structure Construction for Washable and Wear-Resistant Superhydrophobic Textiles with Self-Cleaning Ability. *ACS Appl. Mater. Interfaces* 2021, 13, 18142–18151.
 14. Gu, S.; Yang, L.; Huang, W.; Bu, Y.; Chen, D.; Huang, J.; Zhou, Y.; Xu, W. Fabrication of hydrophobic cotton fabrics inspired by polyphenol chemistry. *Cellulose* 2017, 24, 2635–2646.
 15. Ali, A.; Shaker, K.; Nawab, Y.; Jabbar, M.; Hussain, T.; Militky, J.; Baheti, V. Hydrophobic treatment of natural fibers and their composites—A review. *J. Ind. Text.* 2018, 47, 2153–2183.
 16. Chruściel, J. J. Modifications of Textile Materials with Functional Silanes, Liquid Silicone Softeners, and Silicone Rubbers—A Review. *Polymers* 2022, 14, 4382.
 17. Boinovich, L. B.; Emelyanenko, A. M. Hydrophobic materials and coatings: Principles of design, properties and applications. *Russ. Chem. Rev.* 2008, 77, 583–600.
 18. Saha, P. K.; Mia, R.; Zhou, Y.; Ahmed, T. Functionalization of hydrophobic nonwoven cotton fabric for oil and water repellency. *SN Appl. Sci.* 2021, 3, 586.
 19. Dai, M.; Zhai, Y.; Zhang, Y. A green approach to preparing hydrophobic, electrically conductive textiles based on waterborne polyurethane for electromagnetic interference shielding with low reflectivity. *Chem. Eng. J.* 2021, 421, 127749.
 20. Vodyashkin, A. A.; Makeev, M. O. Advanced post-processing techniques for hydrophobic and flame-retardant textiles. *Polymers* 2025, 17 (20), 2744.
 21. Wei, Q.; Xu, Y.; Wang, Y. Textile surface functionalization by physical vapor deposition (PVD). In *Surface Modification of Textiles*; Woodhead Publishing, 2009; pp 58–90.
 22. Sharma, R.; Barnwal, P. K.; Chauhan, P.; Sooraj, K. P.; Ranjan, M. Synergistic Effect of Argon Plasma Treatment and HDTMS Coating for Making Superhydrophobic Jute Fabric. *Fibers Polym.* 2025, 1–9.
 23. Li, X. M.; Reinhoudt, D.; Crego-Calama, M. What do we need for a superhydrophobic surface? A review on the recent progress in the preparation of superhydrophobic surfaces. *Chem. Soc. Rev.* 2007, 36 (8), 1350–1368.
 24. Farzam, M.; Beitollahpoor, M.; Solomon, S. E.; Ashbaugh, H. S.; Pesika, N. S. Advances in the fabrication and characterization of superhydrophobic surfaces inspired by the Lotus leaf. *Biomimetics* 2022, 7 (4), 196.
 25. Obilor, A. F.; Pacella, M.; Wilson, A.; Silberschmidt, V. V. Micro-texturing of polymer surfaces using lasers: A review. *Int. J. Adv. Manuf. Technol.* 2022, 120 (1), 103–135.
 26. Jha, A.; Thite, A.; Chowdhury, S. R.; Bhardwaj, Y. K.; Pant, H. J. Radiation assisted hydrophobization of jute fiber. *J. Appl. Polym. Sci.* 2023, 140 (46), e54690.
 27. Agarwal, R.; Das, P.; Chowdhury, S. R. Gamma radiation-assisted functionalization of flax fibers for diversified applications. *J. Radioanal. Nucl. Chem.* 2024, 333 (2), 687–694.
 28. Gogoi, R.; Tyagi, A. K. Surface modification of jute fabric by treating with silane coupling agent for reducing its moisture regain characteristics. *J. Nat. Fibers* 2021, 18 (6), 803–812.
 29. Ali, A.; Shaker, K.; Nawab, Y.; Jabbar, M.; Hussain, T.; Militky, J.; Baheti, V. Hydrophobic treatment of natural fibers and their composites—A review. *J. Ind. Text.* 2018, 47 (8), 2153–2183.
 30. Hassan, M. N.; Mou, M. B. Surface modification of jute-cotton union fabric using TiO₂ and ZnO nanoparticles for multifunctional properties. *Heliyon* 2024, 10 (9).
 31. Mahmoud, S.; Alghoraibi, I.; Younes, B.; Zein, R. Development of antibacterial and hydrophobic cotton fabrics using zinc oxide and fluorocarbon



- nanocomposite. *J. Text. Inst.* 2025, 1–12.
32. Xu, L.; Zhang, X.; Shen, Y.; Ding, Y.; Wang, L.; Sheng, Y. Durable superhydrophobic cotton textiles with ultraviolet-blocking property and photocatalysis based on flower-like copper sulfide. *Ind. Eng. Chem. Res.* 2018, 57 (19), 6714–6725.
 33. Lei, S.; Shi, Z.; Ou, J.; Wang, F.; Xue, M.; Li, W.; Zhang, J. Durable superhydrophobic cotton fabric for oil/water separation. *Colloids Surf., A* 2017, 533, 249–254.
 34. Tudu, B. K.; Kumar, A.; Bhushan, B. Fabrication of superoleophobic cotton fabric for multi-purpose applications. *Philos. Trans. R. Soc., A* 2019, 377 (2150), 20190129.
 35. Pan, G.; Xiao, X.; Yu, N.; Ye, Z. Fabrication of superhydrophobic coatings on cotton fabric using ultrasound-assisted in-situ growth method. *Prog. Org. Coat.* 2018, 125, 463–471.
 36. Jahangiri, F.; Mohanty, A. K.; Misra, M. Sustainable biodegradable coatings for food packaging: challenges and opportunities. *Green Chem.* 2024, 26 (9), 4934–4974.
 37. Jerič, P.; Likozar, B.; Novak, U. Biobased Hydrophobic Solutions for Natural Textiles—Moving Beyond PFAS. *J. Compos. Sci.* 2025, 9 (2), 81.
 38. Khatton, A.; Islam, M. N.; Hossen, M.; Sarker, J.; Sikder, H. A.; Chowdhury, A. S. Development of water repellency on jute fabric by chemical means for diverse textile uses. *Saudi J. Eng. Technol.* 2022, 7 (3), 128–131.
 39. Teli, M. D.; Valia, S. P. Acetylation of jute fiber to improve oil absorbency. *Fibers Polym.* 2013, 14 (6), 915–919.
 40. Li, C.; Jiang, Y.; Huang, B.; Zhang, M.; Feng, Y.; Yang, Z. Preparation and properties of jute fiber long-chain fatty acid esters in supercritical carbon dioxide. *Materials* 2019, 12 (9), 1499.
 41. Rahman, M.; Sinha, K. G.; Alif, A. R.; Hassan, S.; Mohd, M. F. B.; Siddique, A. R.; Nik, W. M. N. W. Development of Water-Repellent Jute-Based Composite Materials: A Sustainable Solution for Bag Production. 2025.
 42. Dubey, N.; Pandit, S. K.; Kumar, A. Sustainable superhydrophobic and superoleophilic jute for oil-spill clean-up in aquatic system. *Mar. Pollut. Bull.* 2026, 222, 118901.
 43. Ahuja, D.; Dhiman, S.; Rattan, G.; Monga, S.; Singhal, S.; Kaushik, A. Superhydrophobic modification of cellulose sponge fabricated from discarded jute bags for oil water separation. *J. Environ. Chem. Eng.* 2021, 9 (2), 105063.
 44. Ekundayo, G.; Gong, H.; Abeykoon, C. Jute Fibre Reinforced Polymer Composites in Structural Applications: A Review. *J. Mater. Polym. Sci.* 2024, 4 (2), 1–13.
 45. Naik, V.; Kumar, M. A review on natural fiber composite material in automotive applications. *Eng. Sci.* 2021, 18, 1.





ASSESSING THE PIVOTAL ROLE OF HISTORY IN INTER-CIVILIZATIONAL DIALOGUE AND UNIVERSAL RESPONSIBLE CITIZENSHIP

ABSTRACT : *All living beings belong to one species or the other, but civilization is a unique characteristic linked indissociably only with humankind. History has been a witness to diversity and interdependence of civilizations. It has emphasized the fact that no single civilization can be considered the best or be denigrated as inferior. This calls for a dialogue among civilizations amidst mutual understanding, peace and respect. Instead of 'Clash of Civilizations', there should be an attempt to evolve a 'global civilization' and universal responsible citizenship sans enmity and conflicts. History plays a crucial role in attainment of this sublime goal by appreciating diversity as a beautiful and exquisite phenomenon and not a threat. Balanced history writing and interpretation between human rights and responsibilities is imperative too. Writing history is people's right but they should also be responsible towards the identities and vision of others. A proper historical approach has shattered the myths of 'Western ethnocentrism' and division of the world into 'civilization' and 'barbarism'. The role of India and UNESCO is commendable in inter-civilizational dialogue.*

Such ideas will be discussed in this research paper through primary and secondary sources.

KEY WORDS: diversity, 'global civilization', universal responsible citizenship, human rights, inter-civilizational dialogue

MAIN PAPER : Civilizations are like human beings -unique and valuable. The loss of any one trait of a civilization is humankind's loss. Human endeavour has fostered numerous admirable civilizations which complement and influence each other. Viewing the world populace as an indivisible community with a shared future has further augmented their worth. Here is where history steps in; it is indispensable not only for tracing man's journey from barbarism to civilization but also for bringing home the revelation that each civilization interacts in several ways and borrows from the other. Furthermore, it attests to the fact that no civilization can claim to be the best or be degraded as inferior. It can also not be the representative of complete humanity. This calls for mutual understanding, tolerance, respect and interaction. Such an approach would explain human progress and a positive view towards diversity. This is what history emphasizes upon- besides promoting a global civilization where diverse cultures meet and develop productively, it also reinforces the need for a dialogue among civilizations for, without it, there can be no peace and development.

The term 'Dialogue among Civilizations' was initially used by an Austrian philosopher Hans



Dr. Divya Kumar
Assistant Professor
Department of History
B.D.College
Patliputra University, Patna



Kochler (born 1948) who since the 1970s, has been its strong votary. Efforts gained pace at the end of the Cold War. Several initiatives were taken, more so from 1995 onwards, to ensure peace, justice, equality, tolerance and understanding both at national and international levels. Efforts ensued to comprehend globalization in the wider sense and not as a concept put into operation by the West to impose its eco-cultural identity on the rest of the world. So, the historical meaning of dialogue is the complementary exchange process occurring in various forms and in different eras. By its thrust on the past, history serves as the tool or instrument of dialogue. It is the 'theatre or arena in which cultures, civilizations and people have constructed their identities and their relationship to the 'other'.¹ It helps provide a new vision towards explaining enmity and friendships, conflict and co-operation to make the world a better place to live in. Therefore, dialogue is the first step towards providing a sense of belonging and realizing that humans are responsible, universal citizens with common values.

Adopting a historiographical approach, this research paper attempts to discuss the imperativeness of 'dialogue among civilizations,' and the role of history and history writing in this regard. It has also examined the efforts of India and the United Nations in this direction. Besides, it has taken into account the concepts of racial superiority, Western ethnocentrism and Orientalism as explained by the Palestinian-American academic Edward Wadie Said (1935-2003). Furthermore, it has analyzed globalization and 'glocalization', the myth of 'Clash of Civilizations', the need for developing responsible, global citizenship and the role of history in all such deliberations.

The need for dialogue among civilizations predates civilization itself. But, today, in the twenty-first century, it needs to be pursued even more zealously amidst a new paradigm in inter-cultural and international relations. A fine example in this regard is nationalism which can emphatically be considered a virtue, but chauvinistic patriotism becomes a bane leading to self-destruction. It can never promote peace and history has been a witness to it. Hitler and Mussolini and the two World Wars devastated the world where power, wealth, influence and rabid nationalism proved detrimental, even destructive. Humanity has realized that dialogue is the preliminary step towards long-term understanding, reconciliation, peace and co-operation. It helps in providing a sense of belonging and realizing that there exist common, universal values. Such increased awareness promotes peace while seeking betterment of generations to come.

History is closely related to such a dialogue because it is full of events that exhibit blending, mutual borrowing, and co-operation between civilizations. In fact, this is the genesis of the dialogue of civilizations and its progress. History has also always cherished the fusion of cultures. It is a historical reality that all civilizations have had complementarity, having borrowed from the other or contributed towards it. Each civilization must have a dialogue with the other despite being separated by historical eras. Knowledge of history is needed to grasp the fact that opportunities for inter-civilizational dialogue are numerous but a more comprehensive and constructive approach is the need of the hour. Concerted efforts towards attitudinal change along with ethics, mutual understanding and tolerance should be encouraged to promote a pledged universal citizenship.

History has been a witness to the hazards of a monologue as well where, due to colonial



domination, the Asian colonies sought inspiration not from their immediate neighbours but treated the European powers as their model whose knowledge of geography, history, culture, education and art were acquired with great fervour. Unfortunately the keenness to treat the colony as a model in various aspects was generally quite low. To understand this better, in the Indian context, an English educated Hindu would find himself more at ease with Britain and Christianity than with Islam and its institutions. Such a monologue arrested dialogue or reciprocal exchange of ideas. So, history should not only promote international dialogue but also within communities in the country itself, what is termed as 'dialogue at home.'

Closely associated is the recognition of the multiple roles balanced history writing needs to fulfill. First, it should be accurate and realistic, inalienable from concepts of justice and equality. Second, it should also be ethical, capable of bearing the responsibility of being free from hatred, racism and violence. When major conflicts are analysed cautiously, it is generally observed that mutual mistrust and enmity are fanned by the way a group of people write and interpret it. For example, British opinion, by and large, summed up the Revolt of 1857 as a mere 'sepoy mutiny'. Such an interpretation increased the misunderstanding among the Indian and British. Then, writing of history should also shun stereotypes and prejudices while imparting knowledge free from pre-conceived opinions, prejudices and feelings of 'otherness'. Instead, it should promote diversity and world culture. The idea of universal global citizenship needs to find a place of primacy in history writing amidst presence of mutual respect and not merely tolerance.

Moreover, history writing and interpretation involve a balance between the rights of people and their responsibility. Naturally, it is the right of people to compose their history but moving beyond that, they should be responsible towards their future generations in terms of memory, image, identity and too vision of others. So, what is expected is the highest level of scholarly involvement. In this respect, the writings of the Persian scholar Abu Rayhan Muhammad ibn Ahmad al-Biruni (CE 973-1048) hold great relevance. He was quite contemporary in the sense that after studying Hinduism, Judaism and Christianity, he could draw a comparison between religions while remaining as objective as possible for which he is called the Father of Comparative Religion. He is also reckoned as the Father of Indology for his work *Kitab al-Hind* which makes a detailed study of Hinduism and Hindu society which he felt would help Muslims understand Hinduism in a better way. Hence what the present-day historians appreciate, had already received Biruni's attention long ago as laudingly mentioned in the lecture of a statesman at Kyoto in the year 2001.²

History has also shattered the myth of Western superiority or Western ethnocentrism. It is the folly of viewing others as inferior whereas they are only different. The West took most of the credit for scientific and cultural progress since the time of the Greek Civilization labelling 'others' as 'inferior' and 'barbaric'. History has illustrated that it was a both way enrichment with global accomplishments in the field of medicine, mathematics, philosophy, art, astronomy and astrology. In this connection, the concept of Orientalism as explained by Edward Wadie Said (1935-2003) calls for attention. Said is best known for his work 'Orientalism'(1978) which attained the status of a major foundational text for Post Colonialism or Post Colonial studies. In it, he emphasized the element of Eurocentric prejudice against the people of the Orient to



justify the colonial and imperialist ambition of the West.³ Said had grown up in two British colonies, Palestine and Egypt. Well aware of 'Western superiority' over 'Oriental backwardness', he decried the collective notion of 'we' Europeans against 'those' non-Europeans.⁴

Again, writings have revealed how the Western bias divided the world into 'civilization' versus 'barbarism'. It also strongly believed the West, particularly Western Europe, was on a 'civilizing mission' of Asia and Africa. Their inhabitants were made to believe that the West was the best whereas their own civilization was inferior. Such an inferiority complex stood in the way of a healthy cultural and civilizational dialogue. History has shown the irony of such an assertion which claimed that the barbaric races had no souls and that they were being given the civilization they lacked. Resources were exploited, territories plundered, and a handful of 'superior' humans enslaved the bodies and minds of many! It was the epitome of Man's inhumanity to Man. The unashamed, unbridled imperialism and colonialism make people shudder. Who can forget the Nobel laureate Rudyard Kipling (1865-1936) who is remembered primarily for his celebration of imperialism which he reckoned nothing short of a noble endeavour? He denigrated the colonized people on the basis of race, morality and culture, asserting that the 'coloured' people needed constant guidance of Western powers well illustrated in his poem *The White Man's Burden* (1899). In addition, the assertion of the colonial powers that there was no common or social background for Asian-ness to develop in Asian countries, is jaundiced and cannot be accepted *in toto*.⁵

A proper historical approach of recent decades has made humanity, particularly the West, alter its way of thinking. Reflections of great thinkers and scientists such as Oswald Spengler, Arnold Toynbee or Fernand Braudel have also shed new light. Will Durant in his monumental work *The Story of Civilization*, admonished the Western World. He thus stated in India's context: "Nothing should more deeply shame the modern student than the decency and inadequacy of his acquaintance with India... patient scholarship is now opening like a new intellectual continent to that Western mind which only yesterday thought civilization an exclusively European thing."⁶ Broader insight, emergence of scholars with objectivity and openness of mind along with acquisition of knowledge of oriental cultural heritage in depth, has made the western civilization keenly view 'others' as partners and appreciate them.

Furthering this discussion, it becomes essential to bring to light the famous essay titled *The Clash of Civilizations?* by the American political scientist Samuel P. Huntington (1927-2008) published in 1993 in the periodical 'Foreign Affairs'. In it, he predicted an escalation of conflicts in the post-Cold War period because of cultural differences. Since the world is becoming smaller, interactions are increasing and national ties are weakening, Huntington opined that people would resort more to allegiance towards religion. The growing power of the West is increasing animosity against members of other civilizations. So an emergence of major regional groupings has taken place in North America, Europe and East Asia. He foresaw a clash at two levels- the lower level within States, and at the higher or international level. This clash of civilizations would dominate world politics.⁷ However, such a theory shows inconsistency with historical facts. Shrinking distances would make people aware of their similarity of interests despite colour, religious and linguistic differences. Examples could be the keenness of



watching political happenings of a certain country or another event of historic importance. This theory inappropriately rests on the premise that since people differ in their cultural affiliations, tensions are natural. Also, as human beings, we commonly aspire for solidarity, peace and justice. Civilizations trace the growth of humanity from barbarism to civilization and not vice-versa. Nevertheless, such a theory provides another dimension to thoughts.

Next, we come to the concept of globalization. It should not be restricted merely to economic, technological and financial interaction but needs to be understood in the wider perspective of peace, tolerance, intercultural understanding and mutual respect. In the 1950s, the Modernization Theory asserted that process began in the West. Since the United States of America was the leader, Americanization, Westernization and Modernization were treated as synonymous. But, viewed in the historical perspective, Modernization is neither Americanization nor Westernization. Ideas of democracy, equality, justice, truth, non-violence and co-operation are regarded in high esteem worldwide in which countries around the world have contributed significantly. Hence globalization should adopt a holistic view. According to Alphonso Lingis, Professor, Pennsylvania State University, if great cultural capitals like Paris, London New York, Sydney, Bangkok and Singapore can claim to be multicultural and cosmopolitan, history has been a witness of Mohenjodaro, Memphis, Thebes and Mahabalipuram being cosmopolitan too. Today, the need is for a global civilization as the world has become a global village. Hence scholars stress rather on 'glocalization'.

In this connection, history has shed light on India's role in promoting dialogue among civilizations since ancient times. Her sages and saints had envisioned a world where all faiths, cultural influences and intellectual streams would be accorded an honourable place. The Vedas gave the message of embracing and assimilating positive and motivating thoughts from all quarters. Series of invasions and liberal inflow of foreigners fostered openness and broadmindedness in this country. The ancient Silk Route connected the Eastern and Western civilizations and contributed to human development. The advent of various religious groups promoted tolerance and co-operation, cultural integration and assimilation. India was the meeting point of various trade routes and faith routes.

She believed in the ideal of *Sarva Pantha Sambhava* meaning 'respect for all faiths'. Her firm belief in the concept of *Vasudhaiva Kutumbakam*, that is, an understanding that the whole of humanity is one family, was a precursor to what is now termed as global citizenship. It is generally believed that democracy, pluralism and tolerance are part of Western culture. But, we are aware that the Ashokan edicts written in the third century BCE depicted Emperor Ashoka as a supporter of tolerance and pluralism and a protector of minorities. Other than religion, flow and exchange of ideas on science, art, architecture and literature took place between India, China, South-east Asia and the Arab world. Again, Akbar's reign witnessed 'enlightenment' with the introduction of *Tauhid-i-Ilahi* and *Din-i-Ilahi*. Even during the British period, mutual interaction occurred when enlightened and well read Indians and British tried to understand each other. Also in the ardour of pursuing their solidarity and Europeaness, the British unconsciously gave rise to the feeling of Asian-ness. After independence, when India became a democracy, dialogue was recognized as its essential part of it.

The principle of Secularism enshrined in the Indian Constitution exalted the status of India.



Pandit Nehru was a strong advocate of such an understanding, co-operation and tolerance. Hence, he vehemently supported the UN in 1956 when UNESCO's Ninth General Conference adopted the initiatives for 'Major Project on Mutual Appreciation of Eastern and Western Cultural Values'. It can rightly be considered a forerunner of the 'Dialogue Among Civilizations'. In the new millennium, on 9th-10th of July 2003, an International Ministerial Conference on Dialogue Among Civilizations was co-organised by the Government of India and UNESCO at New Delhi which asserted that the existence of such a dialogue since the earliest stages of history has led to blurred frontiers of various civilizations and overlapping culture and reiterating its faith in harmony, emphasized the efficacy of confluence in determining the future of humankind.⁸

History has shown UNESCO's deep commitment towards inter-civilizational dialogue. A beginning was made through the 1970 Convention which received worldwide appreciation. Progressing further, the idea of the Dialogue among Civilizations was launched by the United Nations Membership in 1998. In November that year, the UN General Assembly, in a Resolution sponsored by the Islamic Republic of Iran, proclaimed the year 2001 as the 'United Nations Year of Dialogue Among Civilizations'. A major step was taken in September 2000 by a Round Table of Heads of States on the Dialogue Among Civilizations at the United Nations Headquarters in New York. The year 2001 witnessed a series of meetings to explain the meaning and possibilities of dialogue and in the month of April, at Vilnius, Lithuania, key issues were broached.

Soon thereafter, in the month of July the same year, the United Nations University organized an International Conference on the theme of dialogue among civilizations. Again in November 2001, UNESCO's General Conference agreed to a resolution on combating terrorism and a Universal Declaration on Cultural Diversity was also adopted. Later the same month, the United Nations General Assembly, while working on establishing the Global Agenda for Dialogue among Civilizations, laid stress on the evolution of consciousness, human unity and universal growth of world citizens. Keeping in line with hastened efforts since 2001, such a Conference was held at Delhi too in July 2003. It urged human and social sciences to be more proactive towards such an end. What is noteworthy is that venues of all such Conferences take pride in their multi-ethnicism, tolerance, multilingualism and cosmopolitanism.

Furthermore, UNESCO has also worked assiduously towards renewal of historical research, history teaching and writing of text books. It has launched various projects of intercultural dialogue such as the Silk Route, the Slave Route and so on. Moving on, June 10, 2025 was declared the First International Day for Dialogue Among Civilizations. This echoes the common aspiration of people of all countries.

The American philosopher Fred Dallmayr (1928-2024) insisted that in a dialogue, no one voice should be privileged and that the parties involved needed to be committed to global civility and a willingness to shoulder the demands of 'civic prudence'.⁹ It should be remembered that humanity has only one Earth and only one shared future. History with its emphasis on continuity, inclusiveness and unity should play a key role in strengthening international people-to-people exchanges and co-operation so that all civilizations thrive together amidst responsible universal citizenship with equality and justice for all.



REFERENCES:

1. Dialogue among Civilizations- 'The International Conference in Vilnius', Lithuania,23-26 April,2001,Published 2002 by UNESCO, France, Lecture by Doudou Diene, p.133
2. Dialogue among Civilizations-'The Political aspects of the Dialogue of Civilizations',Kyoto,3 August 2001 Published 2003 by UNESCO,France, Lecture of Chandra Muzaffar, p.52
3. Priyansh Ranjan Edward Said's 'Orientalism': A Post-Colonial Culture Study, IOSR Journal of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS), Volume 20, Issue 9, Ver II (Sep.2015,pp.85-88, p.88, e-ISSN:2279-0837,p-ISSN:2279-0845. www.iosrjournals.org, Retrieved on 01/02/2026.
4. Edward W.Said, Orientalism, London and Henley, Routledge & Kegan Paul Ltd., 1980, p.15
5. K.M.Panikkar, Asia and Western Dominance, London, George Allen and Unwin, 1953, p.494
6. Will Durant, The Story of Civilization, Our Orient Heritage, 15th reprint, New York, Simon and Schuster, 1954 (original 1934), p.391
7. Samuel Huntington, The Clash of Civilizations? 'Foreign Affairs', Summer 1993, <https://spot.colorado.edu/~gyoung/home/IA%204500/Huntington.pdf>, Retrieved on 04/02/2026
8. Confluence not Conflict of Civilizations will determine the future of mankind:PM, Inaugural Address by PM, PIB Press Releases archive.pib.gov.in <https://arcive.pib.gov.in/release02/lyr2003/rjul2003/09072003/r090720036.html>, Retrieved on 04/02/2026
9. Fred Dallmayr, Dialogue Among Civilizations: Some Exemplary Voices, Palgrave, New York & Basingstoke, 2002, xi + 282pp.ISBN: 1-4039 - 6059-3 / 1-4039-6060-7.Contemporary Political Theory (2003) 2, 387-388.doi:10.1057/palgrave.cpt.9300096, Retrieved on 01/02/2026





SECULARISM

NEHRU AND PATEL

Secularism is basically a western concept which evolved in course of relentless fight between the state and the church for supremacy and basically it meant to free the state from the church and politics from religious dogmas. Thus, western concept of secularism is more a negative concept than positive one. The origin of this concept lies in the Italian Renaissance of the 16th century which nurtured fully during the 18th century French enlightenment, The idea got further bolstered up with the utilitarian and socialist movements in the 19th century. Jawaharlal Nehru subscribed to this western concept of secularism.

Throughout the national movement, secularism remained a basic constituent of our nationalist ideology. But this western concept of secularism did not suit the Indian genius. Why? Because the leading lights of our national movement had neither any bitter experience of the eccentricities of a theocratic state nor had they been victims of or witness to any religious persecution. Therefore, secularism with its negative connotations failed to appeal to them. The prime aim of our nationalist leaders was to unify the Indian People belonging to various religious linguistic groups and of different ethnic identities into a nation and for this, prudence and foresight demanded adoption of a positive approach in the matter of religion. It was in this context that a typically indigenous concept of secularism was developed.

"Sarva Dharma Sama Bhawa" (equal respect to all religions) spells out this concept of secularism. This secularism by no means demands divorce of religion from public life altogether. It does not warrant state to be non-religious. It only demands that a secular state will separate religion from governance and its institutions will not be used to propagate any particular religion or sect spelling out this approach Gandhi told a prayer meeting on 20 Nov. 1947.

"It (Indian Govt.) is a secular government that is, it is not a theocratic government, rather it does not belong to any particular religion. Hence, it cannot spend money on the basis of communities. For it the only thing that matters is that all are Indians individuals can follow their own religion. I have my religion and you have yours to follow.

Under this approach, it is quite legitimate even for a functionary of the state, in his private capacity of course, to believe in a particular religion or even to believe in the superiority of his religion. We find, Patel subscribed to this typically Indian concept of secularism.

It is important to note down that there are basic differences of their approach between



Alok Kumar
Assistant Professor
Department of History
B. D. College
Patliputra University, Patna



Nehru and Patel far as secularism is concerned. Nehru was a nationalist secularist. His secularism verged on non-religion. Patel, on the other hand, (imbued with typical Indian ethos) believed that one could be a secular by being respectful towards all religions. Thus Nehru's secularism was of one who is a non-believer in public as well as in private life. On the other hand Patel belonged to the category who are non-believer in public life but a believer in private religion. Thus while rationalism pervaded Nehru's secularism throughout, catholicity of approach, and pragmatism marked Patel's secularism.

In spite of having differences in their approach, there was hardly any occasion for their coming to the fore before independence. Both were uncompromisingly opposed to the Muslim League's two-nation theory, and the idea of Partitioning the country on the basis of religion. But the partition changed the scenario suddenly and immeasurably. Here it is important to discuss in detail the issues and the prevailing situations which made their differences visible.

In his book entitled 'Curzon to Nehru and After, Durgadas writes. "Partition of the Punjab & Bengal lunged the entire subcontinent in the worst possible communal carnage. The nation faced the challenge of perhaps the biggest uprooting in human history. About ten million people were uprooted from their homes and another half a million massacred" Lakhs of refugees from west Punjab poured in Delhi. Refugees and their sympathizers began to push out Muslims to make room for the newcomers. By the beginning of Sept. 1947, Delhi was in the throes of an unprecedented upheaval. Nehru and Patel were immense stress and Pressure. Such stressful situations with their unlimited demands brought to the fore differing approaches of Nehru and Patel to the Hindu Muslim Problem. In fact suspicion and bitterness had fouled the air of 1947. "The evil that entered the sub-continent's blood stream in 1947, turning neighbours into killers, also affected relationship between colleagues, making them less considerate and more touchy No human heart could with equal anguish to every cruelty of 1947, neither Patel's nor Jawaharlal's nor Azad's.

"On 2nd Sept. 1947, when Nehru was at Lahore to explore a joint Indo-Pak response to the communal madness, Patel had conveyed it to him through a courier that his (Patel's) time was fully occupied with the tales of woes and atrocities on Hindus, Sikhs in West Pakistan and warned that if things did not improve there, situation in Delhi and other places could go beyond control. Patel was convinced that Pakistan was not doing enough".

Patel was facing very straining situation. Resources of the Govt. were limited and the claimants for relief and shelter unlimited. To make matters worse Patel found many of his colleagues and many prominent Muslim Public Men of Delhi launching an virulent campaign against him. In this stressful time, Azad in particular thought that Patel was communal. In his book, "India wins Freedom", he says Patel had not only failed to give protection to Muslims, but he lightheartedly dismissed complaint on this count. Azad was convinced that Delhi's Muslims were getting a raw deal.

"When the communal situation in Delhi worsened, there were cases of violence against Muslims. They should have been brought to the notice of the Government. In stead these reports were carried in exaggerated form to Gandhi. Gandhi had developed a feeling that Patel



thought that he (Gandhi) had become old and lost grip over reality and therefore he did not listen to him. Towards the end of Dec. 1947 or early January 1948 Gandhi said to Patel: "either you should run things or Jawaharlal should". Patel replied- "I do not have the Physical strength. He is younger, let him run the show- I will assist him to the extent possible from outside."

The issue of transfer of Rs. 55 crore to Pakistan further complicated the situation. Patel linked the issue of transfer of money with Pakistan's commitment to withdraw raiders from Kashmir and insisted that the agreement had to be implemented in full. Since, Pakistan did not honour her part of agreement, Patel was of the view that not a pie could be paid to Pakistan. He argued that Pakistan would use this money to augment her armed against India. His view prevailed and cabinet took the decision of non-payment on 7th January 1948. Gandhi conveyed his view to Patel that non-payment of Rs. 55 crore to Pakistan seemed immoral. When Patel met Gandhi and tried to impress upon him that it was a cabinet decision. Gandhi informed him that in the previous evening Mountbatten had given his opinion that with holding money would be "unstatesman like and unwise" and "India's first dishonourable act. At that time, Gandhi had proceeded on fast from 13th Jan. Though his fast was for bringing about communal sanity in Delhi, it was linked with the non-release of Rs. 55 crore to Pakistan. On 14th Jan. the cabinet met and decided to release the money. At this meeting. Patel, the Iron-men broke down and said, "we unanimously agreed and the Prime Minister calls it legal quibbling. This is my last meeting."

On 23 Jan. Gandhi communicated to Patel that his presence in the cabinet was Indispensable, and so was Nehru's and any breach between the two would be disastrous. This appeal of Gandhi could possibly avert the crisis, but a sudden explosion of Nehru at a cabinet Meeting drove the situation beyond redemption.

Nehru was boiling within. The issues of handing the Kashmir affair, of refugee problem and of the payment of Rs. 550 million to Pakistan had strained his relationship with Patel time and again. It had been said that Sardar was patronizing princes, capitalists and rightists. It was in this background that Nehru angrily thumped the table at a cabinet meeting and said "Patel you do what you like I will not have it." Patel kept his cool but everybody knew that crisis had developed. The next day Patel told an eminent journalist that Nehru had 'lost his head' and that he, for his part, 'made up his mind not to stand the non-sense any more. He said he-was quitting'.

Soon after, when Patel met Gandhi, they agreed that it was essential to talk things over. Gandhi and Patel were closed for over an hour on the 30th of January before the former had to leave for his prayer meeting. In their heart to heart talk Gandhi once again reiterated that Patel's presence in the cabinet was indispensable, and so was Nehru's. It was decided to have a meeting of the three, i.e. Gandhi, Nehru & Patel had left him. The sudden and tragic assassination of their master instantly overcame the crisis. Nehru cried like a child by the dead body of the 'Father of the Nation' and then put his grieving head in the Sardar's lap. Mountbatten told them that Gandhi's dearest wish was to bring about full reconciliation between Nehru and Patel, where upon Nehru and Patel embraced each other. The crisis was over.

Allegation that Patel was anti-Muslim warrants close scrutiny. Replying to a civic address from the Bombay corporation on 16th January 1948, Patel made his position very clear. He said,



"We have just heard people shouting that Muslims should be removed from India. Those who do so have gone mad with anger. I am a frank man I say bitter things to alike. At the same time, I maintain that I am a friend of muslims.

At a lunch on 31st May 1948 with Roy Bucher, the Army chief, Patel dispelled the impression of his being anti-Muslim in these words "everyone though that I am anti-Muslim but that was not the case at all. I am quite ready to guarantee the safety and well-being of Muslims all over India."

So far as handling the refugee and communal disturbances in Delhi were concerned, Patel's credibility was unquestionable. In fact, Patel was working under unprecedented Strains. Millions of Hindu refugees had virtually taken seize of Delhi, a significant portion of Delhi's Police were Hindu or Sikh Punjabis and most of them were sympathetic to Hindu refugees. But even in such trying conditions Patel neither faltered nor failed in his duty in giving adequate protection to Muslims.

"When Delhi caught infection", he declared in the presence of Nehru and Mountbatten "I will not tolerate Delhi becoming another Lahore. He publically threatened partisan officials, having partisan attitude with punishment and at his instructions, orders to shoot rioters at sight were issued.

Seeing blood in the eyes of refugees, Patel made a moving appeal-

"The butchery of innocent and defenceless men, women and children does not behave bravemen.... To fight against refugees is no fight at all. No laws of humanity or war among honourable men permit the murder of people who have sought shelter and protection." 'Nation's integrity' was primary objective of Patel and preserving this he was ready to launch a powerful attack on the disruptionist forces no matter from what quarters they came. He believed in ruthless action against separatism of any sort, be it larger separatism or a smaller one, separatism of the right separatism of the left. Accordingly, he gave severe blow to the RSS and crushed with an iron hand the communist revolt and violence in Telangana. In 1949, (Feb.) he arrested Tara Singh who was bent upon to Project the Akalis as a major force to browbeat the government. He declared at the Jaipur session of the Congress in Dec. 1949, "I will not hesitate for a moment to put down my son if by his actions the country's freedom was endangered."

In spite of all his likes and dislike patel-scrupulously respected the parameters of secularism, when he visited the somnath temple in Nov. 1947, he was visibly moved to find the temple which had once been the glory of India looking so dilapidated, neglected and forlorn. He readily agreed to the proposal that the temple should be renovated but here framed from the state funding of renovation. Gandhiji was told that the renovation work was being done from the government treasury. When he asked patel if it was true Patel's reply was 'Not a single pie could be taken out from the treasury of Junagarh for the renovation of the somnath temple.....there were enough number of Hindus who could donate money for the somnath Temple. If they became miserly and did not part with money, let the temple remain in its present state.'



When independence and Partition of the country became entwined B. M. Birla wrote a letter to Patel on 5 June, 1947. In his letter he welcomed the prospect as very good for the Hindus as independent India, he viewed, would be free from communal canker. He queried "the partitioned area of course, would be a muslim state. Is it not the time that we should consider Hindustan as a Hindu State?." Patel's reply was significant- "I do not think it will be possible to consider Hindus' as a Hindustan with hinduism as the state religion. We must not forget that there are other minorities whose protection is our primary responsibility. The state must exist for all, irrespective of caste or creed.

Because of their different family background, associations, education and Nehru and Patel viewed religion quite differently. Patel was born and brought up in atypical lower middle class Hindu family. He was attracted to Swaminatha sect and stressed devotion to God. He did not know muslim society from close quarters nor had he any opportunity to socialise with muslims. Later on too when he became very active in Public life, there was hardly any close muslim friends of his. Moreover, Patel was not averse to religion. He was a religious Hindu at heart. When Patel saw the Somnath Temple in a very dilapidated condition, he was visibly moved. In Nov. 1949, releasing a book on Swami Dayanand, Patel said-"he had removed the clouds of doubt enveloping the Hindu religion and made it shine like the sun." When Patel was on his deathbed he was often found reciting '*Maari narr tammare haath*' (my life is in your hands) and '*Mangal Mandir Kholo Dayamayi*'. (open your blessed door, merciful Lord). All this prove that Patel was a good Hindu but being a good Hindu did not imply harbouring anti-islamic feeling. It cannot be denied that there was some Hindu tinge in Patel. But then there was some Muslim tinge in some stalwart Muslim nationalist leaders like Maulana Abul Kalam Azad. If such a tinger by no means erodes Azad's nationalism why should it erode Patel's secularism.?

On the other hand Nehru belonged to the stock of Kashmiri Pandits and there was among the Kashmiri Pandits little feeling of separateness from the Muslims. In later years Nehru had many close Muslim friends like Maulana Azad. Shaikh Abdullah, Rafi Ahmad kidvai and others. In fact, Nehru belonged to one of the most anglicised families in India. His western based education in childhood and then in England and subsequent strong influence of Marxism on him, made him typically charmed by the western concept of secularism that culminates in on irreligion. Nehru believed that "religion in India will kill the country and its people.

According to him, the remedy was to scotch the so-called religion and secularise the intelligentsia. Nehru did not like religious rituals and it is in this context that in his Will and Testament, he categorically forbade observance of any religious ceremony after his death because in his opinion, "to submit to them even as a matter of form would be hypocrisy". Nehru always, like Gandhi, took the line that it was 'the Hindus as the majority community to make concessions.' Patel did not subscribe to this thesis. Patelites would call Nehru's approach minorityism. Patel often jocularly described Nehru as the only nationalist muslim today. Explaining serious implications of Nehru's approach, however, subconscious.

The argument is based on the belief that the majority community is a privileged one, and the minority community has reason to be communal. The implication 'that there was something to



choose between Hindu and Muslim communalists was dangerous in its implication.'Several scholars later dubbed this approach, 'pseudo-secularism and minorityism', Patel was well aware of these implications and therefore refused to subscribe to Nehru's thesis. It was in this context that there was an apt observation, "Nehru was the voice of charity, Patel's note of reality."

References :

1. Raj Mohan Gandhi, 'Secularism Vs Pseudo-secularism'. The Hindustan Times". (Delhi Ed.), pp. 12-15. secularism', "The Hindustan
2. Cited by Madhu Limaye in 'Secularism Vs. Pseudo-| Times", (Delhi Ed.), 15 Dec., 91. London, 1969, p. 263.
3. Durga Das, From Curzon to Nehru and After .
4. Raj Mohan Gandhi, Patel; A Life, Ahmedabad, 1991, P. 426 Ibid
5. Abul Kalam Azad, India Wins Freedom, Calcutta, 1959, P-216.
6. J. B. Kriplani, Gandhi: His Life and Thought, New Delhi, 1970, p. 299.
7. Raj Mohan Gandhi, op. cit., 1991, p. 458.
8. Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Past Phase, Hyderabad, 1958, Vol. II, p. 700. Ibid
9. Durga Das, op. cit., p. 426. Ibid
10. M.N. Nandurkar (ed.), Sardar Patel Centen, Vol. II, Ahmedabad, 1980-83, pp. 195-197.
11. Bucher quoted in Nandurkar op.cit., pp. 254-55.
12. Compbell-Johnson, Mission with Mount bat ten, London, 1972, p. 182.
- 13 V. Shankar, op. cit., p. 104-105.
14. Raj Mohan Gandhi, op. cit., p. 493.
15. V. P. Menon, The story of Integration of the Indian States, Calcutta, 1956. Modhu-Limaye, op.
16. Madhu-Limaye, op.cit.
17. Sardar Patel's correspondence, op. cit., Vol. IV, pp. 155-157. Ibid
18. Nehru's will and Testament. Ibid
19. S. Gopal, op.cit., p. 183. Ibid
20. Compbell-Johnson, op. cit., p. 189.





भारतीय दर्शन में विकास की अवधारणा

एक विश्लेषणात्माक अध्ययन



डॉ० दिवाकर कुमार पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग
बी० डी० कॉलेज
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

प्रचलित अवधारणा के रूप में विकास का आशय किसी देश में रहने वाले व्यक्तियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में गुणवत्तापूर्ण परिवर्तन से लगाया जाता है। विकास एक बहुआयामी अवधारणा है, जिसमें व्यक्तिगत संकेतकों के साथ-साथ सामाजिक संकेतकों में भी सकारात्मक परिवर्तन दृष्टगत होता है। विकास की अवधारणा संवृद्धि की अवधारणा से भिन्न है। जहां संवृद्धि केवल मात्रात्मक परिवर्तन को इंगित करता है, वहीं विकास मानवीय कल्याण के गुणात्मक पहलू को प्रदर्शित करता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में विभिन्न विचारकों ने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आलोक में मनुष्य के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास की संकल्पना प्रस्तुत की है। भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ की अवधारणा मनुष्य के जीवन के सम्यक् विकास को इंगित करता है। सांख्य दर्शन में विकासवाद का सिद्धांत सृष्टि के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करता है। योग दर्शन में जीवात्मा के चित्तवृत्ति से उसके निरोध की अवस्था तक के विकास की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। बौद्ध दर्शन में मनुष्य के दुःखपूर्ण जीवन से दुःख निरोध की अवस्था के विकास की सम्यक् व्याख्या की गई है। जैन दर्शन में कर्म पुद्गल से युक्त जीव की उसके स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति कर मुक्त जीव के रूप में उसके विकास का उल्लेख किया गया है। समकालीन भारतीय विचारक महात्मा गांधी के विचारों में भी मनुष्य के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक विकास की चर्चा मौजूद है। प्रस्तुत शोध-पत्र में भारतीय दर्शन में विकास की विभिन्न अवधारणों को सामने लाने का प्रयास किया जायेगा।

मुख्य शब्द : विकासवाद, मोक्ष, त्रिरत्न, आर्य-सत्य, आध्यात्मिक उत्थान।

भारतीय दर्शन में मनुष्य के सर्वांगीण विकास की चर्चा की गई है। भारतीय विचारकों ने मनुष्य के भौतिक विकास, आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ नैतिक विकास को भी

प्रमुखता दिया है। नास्तिक एवं आस्तिक दोनों परम्पराओं में मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति द्वारा सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का विधान किया गया है। भारतीय दार्शनिक परम्परा के सम्बन्ध में यह अवधारणा प्रचलित है कि यहाँ भौतिकवादी मूल्यों पर आध्यात्मिक मूल्यों को प्रधानता प्राप्त है। अपनी इसी विशेषता के कारण अधिकांश मनीषियों ने भौतिक प्रगति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को वरीयता प्रदान किया है तथा भौतिक कल्याण को आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना है। भारतीय दर्शन में आत्मोन्नति के विभिन्न मार्ग बताये गए हैं। यहाँ आत्मोन्नति का आशय आत्मा के निम्नतर से उच्चतर स्वरूप के विकास से लगाया जा सकता है। उपनिषदों में भी आत्मा के मन, शरीर एवं इन्द्रियों से अलग हटकर आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप के ज्ञान का निरूपण किया गया है।

भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ माने गए हैं - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। अर्थ एवं काम का सम्बन्ध भौतिक कल्याण से है जबकि धर्म एवं मोक्ष आध्यात्मिक उन्नति से सम्बन्धित हैं। मोक्ष मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, इसे परम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। अर्थ, धर्म के साधन के रूप में मान्य है। काम के सन्दर्भ में नैतिक नियंत्रण की वकालत की गई है। ये चारों पुरुषार्थ मानव जीवन के विकास से सम्बन्ध रखते हैं और परस्पर पूरक भी हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ की अवधारणा में आध्यात्मिक विकास को प्रमुखता



दी गई है, परन्तु भौतिक साधनों को अस्वीकार नहीं किया गया है। पुनः भारतीय परंपरा में व्यावहारिक जगत् का निषेध भी नहीं किया गया है, यह अवश्य कहा जा सकता है कि परमार्थ जगत् की सत्ता को त्रिकालाबाधित मना गया है। परमार्थ का रास्ता व्यवहार से होकर जाता है। व्यावहारिक जगत् में व्यक्ति कर्म प्रवृत्त होता है, और भारतीय दर्शन में कर्मवाद के सिद्धांत को स्वीकृति प्रदान की गई है। मनुष्य के व्यावहारिक जगत् से उपर उठकर पारमार्थिक स्तर की अनुभूति के लिए एक विकास क्रम निर्धारित है।

योग दर्शन के अनुसार चित्त जब इन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा विषयों के संपर्क में आ जाता है तब वह विषयाकार हो जाता है। विषयाकार चित्त का पुरुष (आत्मा) में आरोपण हो जाने के कारण पुरुष को ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता वह स्वयं ही है, फलस्वरूप वह सांसारिक विषयों में लिप्त हो जाता है और बन्धनग्रस्त हो जाता है।¹ योग दर्शन में इन्हीं चित्तवृत्तियों के निरोध के निमित्त अष्टांग योगमार्ग की चर्चा की गई है। इस योगमार्ग का उद्देश्य जीवात्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराना है जिसे कैवल्य की प्राप्ति हो सके। योग दर्शन का उद्देश्य भी आत्मा का निम्नतर स्तर से उच्चतर स्तर का विकास है। जीवात्मा चित्तवृत्तियों के कारण सांसारिक विषयों को वास्तविक समझने लगता है, यह आत्मा का निम्नतर स्तर है। जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, जीवात्मा को प्रकृति के विषयों से अपनी पृथकता का अनुभव हो जाता है, वहीं कैवल्य की अवस्था है जो आत्मा की उच्चतर अवस्था है। यह विवेक-ज्ञान विकास की प्रक्रिया है जिसमें साधक को योगमार्ग के विभिन्न सोपानों का पालन करने से जीवात्मा के अवास्तविक स्वरूप से वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह आध्यात्मिक उन्नति की भी प्रक्रिया है, जिसका अंतिम सोपान समाधि है। पुनः इस विकास प्रक्रिया का सम्बन्ध व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों स्तरों से है। यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं, जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक जगत् से है। जबकि धारणा, ध्यान एवं समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं। समाधि की अवस्था में पुरुष सभी चित्तवृत्तियों से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, यह आत्यंतिक दुखों

के अभाव की अवस्था है, यह परमार्थ की अवस्था है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति परिणामवाद की चर्चा की गई है, इसे सांख्य दर्शन में विकासवाद का सिद्धांत भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत सृष्टि के उद्भव एवं विकास की व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन में प्रकृति (जड़) एवं पुरुष (चेतन) को दो स्वतंत्र तत्व माना गया है। अपने सत्कार्यवाद के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए सांख्य दर्शन का मत है कि संसार की समस्त वस्तुएं प्रकृति का परिणाम हैं, प्रकृति से उत्पन्न मानी जाती हैं। बुद्धि अहंकार, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन आदि सभी का प्रकृति से ही आविर्भाव होता है। विकास की प्रक्रिया में प्रकृति के साथ-साथ पुरुष की भी भूमिका होती है, प्रकृति एवं पुरुष के साहचर्य से ही सृष्टि का विकास होता है। यद्यपि दोनों विरोधी धर्म के हैं, परस्पर सहयोग से विकास का कार्य संपादित करते हैं। विकास यात्रिक नहीं है, यह उद्देश्यपूर्ण है। प्रकृति दर्शनार्थम् एवं पुरुष कैवाल्यार्थम् इस विकास प्रक्रिया में सहभागी होते हैं। इस विकास का उद्देश्य पुरुष की मुक्ति है। यहाँ मुक्ति से आशय पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से है। प्रकृति का जो सांसारिक विषयों के रूप में विकास होता है, पुरुष वहीं सुख-दुःख का अनुभव करता है तथा त्रिविध दुखों से प्रभावित होता है। यह जगत् पुरुष के आध्यात्मिक उन्नति का साधन है।

बौद्ध दर्शन में मानवीय जीवन की दुःखपूर्ण अवस्था से लेकर दुःख निरोध की अवस्था तक के विकास को चार आर्य सत्यों के अंतर्गत वर्णन किया गया है।² बुद्ध ने समस्त मानव जीवन को दुःखमय माना है। बुद्ध का मानना है कि जब से संसार चला आ रहा है, तब से जितने आँसू बहे हैं, समस्त महासागरों की कुल जलराशि की तुलना में अधिक हैं।³ प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत के आधार पर बुद्ध ने दुःख के कारणों का विश्लेषण किया है। दुःख के कारणों की एक वृत्ताकार श्रृंखला है, जिसमें बारह कड़ियाँ हैं, इसे द्वादश निदान के रूप में भी जाना जाता है। जीवन में व्याप्त दुःखों को जरा-मरण कहा गया है। जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नाम-रूप, विज्ञान, संस्कार, अविद्या इस श्रृंखला के विभिन्न कड़ियाँ हैं। बुद्ध ने अविद्या को समस्त दुःखों का मूल कारण बताया है। बुद्ध के उपदेशों को दुःखमय कहने का आशय यह नहीं समझाना चाहिए कि वह निराशा



प्रधान है। जीवन को दुःखमय कहने का अर्थ केवल इतना है कि जीवन में शोक और दुःख व्याप्त है। यदि उन्होंने जीवन को दुःखमय घोषित किया है, तो दूसरी तरफ उनसे बचने का उपाय भी बताया है।⁴ बौद्ध दर्शन में विकास का अर्थ जीवन को दुःखों से मुक्त करने से है। तृतीय आर्य सत्य के अन्तर्गत निर्वाण की चर्चा की गई है। बुद्ध ने यह बताया है कि मनुष्य दुखों से मुक्त हो सकता है। चतुर्थ आर्य सत्य के अंतर्गत दुःख निरोध के मार्ग को बताया गया है। दुखों से मुक्ति के लिए मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में कौन से मार्ग का अनुसरण करना चाहिए इसके आठ मार्ग बताये गए हैं, जिसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। इसके अंतर्गत सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि सम्मिलित हैं। बुद्ध ने अपने नैतिक उपदेश का प्रारम्भ सर्व दुःख की अवधारणा के साथ किया लेकिन उनका उद्देश्य मानव जीवन को दुःखों से मुक्त करना था। अतः, उनके अनुसार यदि मनुष्य अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करे तो उसे निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः, बुद्ध की रूचि तत्त्वमीमांसा के प्रश्नों के समाधान बताने की अपेक्षा नैतिक शिक्षा में अधिक रही है।⁵

जैन दर्शन में भी जीवात्मा को कर्म पुद्गलों से मुक्त करने हेतु विभिन्न विचार दिए गए हैं। जीवन का लक्ष्य कर्म पुद्गलों से मुक्त होना है। इन विचारों के निष्ठापूर्वक अनुपालन में ही विकास की अवधारणा निहित है। अन्य भारतीय विचारकों के समान जैनियों ने भी जीवात्मा के उच्चतर स्तर के विकास के प्रयोजन के लिए ही अपने विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। बुद्ध के समकालीन विचारक महावीर ने जीव को कर्ता एवं भोक्ता माना है।⁶ जीव स्वाभावतः पूर्ण है, मुक्त है, अनन्तचतुष्टय से युक्त है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द, इन चार प्रकार की पूर्णताओं को अनन्तचतुष्टय कहा जाता है। पुद्गल (भौतिक पदार्थ) से उनके संयोग के कारण अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। जीवन का लक्ष्य कर्म पुद्गलों से छुटकारा पाना है। जब जीव मुक्त हो जाता है तो अपनी वास्तविक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, यही अवस्था मोक्ष है, यह जीव की आदर्श अवस्था है। जैन दर्शन के अनुसार जीव के दो भेद माने गए हैं- मुक्त जीव एवं बद्ध जीव। बंधनग्रस्त जीव बद्ध जीव है, मुक्त

जीव वे हैं जो जिनके सभी कर्मों का क्षय हो चुका है।⁷ अर्थात् जो मोक्ष की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि मोक्ष की अवस्था तक पहुँचने के लिए नैतिक सदाचार के नियमों का पालन करना होता है, इसे प्रचलित भाषा में त्रिरत्न कहा जाता है। यह जैन दर्शन का व्यावहारिक उपदेश है। इसके अन्तर्गत सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र सम्मिलित है। सम्यक् दर्शन से अभिप्राय जैन दर्शन एवं इसके तीर्थंकरों के उपदेशों के प्रति श्रद्धा का होना है। इसका अभिप्राय उन संशयों का निवारण करना है जो मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं।⁸ सम्यक् ज्ञान, जैन दर्शन एवं उसके सिद्धांतों का ठीक-ठीक ज्ञान है। इसमें जीव एवं अजीव के मौलिक तत्वों का विशेष ज्ञान होता है। सम्यक् ज्ञान को आचरण में लाना ही सम्यक् दर्शन है। ये तीनों एक साथ मिलकर एक मार्ग बनाते हैं, तीनों पर एक साथ आचरण करना होता है।⁹ त्रिरत्न के मनन एवं तदनुसार आचरण में मानव का विकास निहित है। गृहस्थों के लिए नए कर्मों के निर्माण रोकने के लिए सदाचार के नियमों के अभ्यास आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में संन्यासियों को पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) के पालन का सुझाव भी दिया गया है।

भगवद्गीता में विकास का तात्पर्य आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार के रूप में लिया जा सकता है। इसके लिए गीता कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग का वकालत करती है। गीता आत्मतत्त्व के गूढ़ रहस्यों से परिचित कराने वाला ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति संभव है।¹⁰ गीता में न केवल तत्वमीमांसक प्रश्नों का उत्तर मौजूद है, बल्कि यह मनुष्य की समस्याओं का नैतिक समाधान भी प्रस्तुत करता है। व्यक्ति के गुण एवं कर्म के अनुसार कर्तव्यों का निर्धारण ईश्वर द्वारा किया गया है। मनुष्य के सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित प्रश्नों का व्यावहारिक समाधान गीता में मौजूद है। गीता में मनुष्य के व्यक्तिगत विकास को सामाजिक कर्तव्यों से जोड़ा गया है। स्वधर्म के आधार पर निष्काम कर्म की शिक्षा इस तथ्य की पुष्टि करती है। यहाँ स्वार्थ एवं परार्थ के बीच समन्वय किया गया है।

समकालीन विचारकों में महात्मा गांधी के विकास से सम्बन्धित विचार बहुआयामी हैं। वे विकास की प्रक्रिया में



मानवीय मूल्यों को प्रधानता देते हैं, न कि बाजार की शक्तियों को।¹¹ गांधी सतत् विकास एवं समावेशी विकास की अवधारणा के प्रथम पंक्ति के समर्थकों में से एक कहे जा सकते हैं। उनके विचारों में सर्वोदयी समाज की स्थापना, लैंगिक समनाता का समर्थन, पर्यावरण का संरक्षण आदि सम्मिलित हैं। गांधी के दर्शन में विकास की अवधारणा का अध्ययन दो स्तरों पे किया जा सकता है - 1. मनुष्य का आध्यात्मिक विकास 2. सामाजिक-आर्थिक विकास। गांधी मानव स्वाभाव में सुधार लाकर एक उत्तम मानव बनाने में विश्वास रखते हैं। उनके मत में इंसान के अन्दर अच्छाई एवं बुराई मौजूद हैं, उनमें भेद केवल अच्छाई एवं बुराई के परिणाम का है। मनुष्य को बुराई से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।¹² डार्विन की भांति गांधी भी पशु से मानव का विकास स्वीकार करते हैं। परन्तु वे मनुष्य में पशुत्व के साथ-साथ आत्मा के तत्व को भी स्वीकार करते हैं। एक हिन्दू दार्शनिक की भांति वे मनुष्य के देवत्व रूपांतरण में विश्वास करते प्रतीत होते हैं।¹³ गांधी का यह मत है कि मनुष्य एक धार्मिक तथा नैतिक प्राणी है, अतः उसे अपने सभी कर्मों के संपादन में धार्मिकता एवं नैतिकता के तत्वों का अनिवार्य रूप से ध्यान रखना चाहिए। राजनीति के क्षेत्र में भी गांधी धर्म एवं नैतिकता को अनिवार्य मानते हैं। गांधी जी धर्म को आचरण की नियमवाली मानते हैं। सामाजिक एवं आर्थिक विकास के सन्दर्भ में गांधी विकास के यूरोपीय मॉडल से अपने आप को असहमत पाते हैं। वे विकास के लिए स्वदेशी मॉडल अपनाने की वकालत करते हैं। गांधी का लक्ष्य सर्वोदय की स्थापना है, एक ऐसी अवस्था जहाँ सबका सब प्रकार से विकास हो। गरीबों का भौतिक उत्थान हो, वहीं, अमीरों का नैतिक उत्थान हो।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय दर्शन में विकास की चर्चा प्रायः आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान के रूप में की गई है। सामान्यतः सभी भारतीय

दार्शनिक जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में मोक्ष का विधान करते हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य को निम्नतर से उच्चतर स्तर पर ले जाने हेतु विभिन्न अवधारणाओं का प्रतिपादन करते हैं। इन अवधारणाओं की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनके अंतर्गत आत्मिक विकास को भौतिक विकास से उच्च माना गया है। इस विकास प्रक्रिया का उद्देश्य आत्मा के अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन (अनुवादित), पुस्तकभंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना, 2024, पृष्ठ 191-192
2. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ 18
3. Dr- Hermann Oldenberg, Buddha: His Life, His Doctrine His Order, William and Norgate, London, 1882 pp 216. 217
4. एम हरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा (अनुवादित), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या 167
5. C D Sharma, A Critical Survey of Indian Philosophy, Motilal Banarsidas, Varanasi, 2016, page 71
6. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक, 48
7. तत्त्वार्थसूत्र, 10/3
8. एम हरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा (अनुवादित), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 167
9. डॉ राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एंड सन्ज, नई दिल्ली, 1966 पृष्ठ 268
10. बाल गंगाधर तिलक, गीतारहस्य (अनुवादित), जयंत श्रीधर तिलक, पूना, 1965, पृष्ठ 2
11. Gandhian Perspective of Development, <https://www & mkgandhi-org/articles/ gandhian & perspective & of & development-php>, accessed on 02-10-2025
12. हरिजन, 10.6.39, पृष्ठ 185-186
13. मनोज सिन्हा, गांधी अध्ययन (संपादित), ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ -163-164



नवपाषाणिक पुरास्थल चिरांद संरक्षण एवं विकास की संभावनाएं

भारतीय पुरातत्त्व एवं इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला नवपाषाणिक पुरातात्विक स्थल चिरांद बिहार के सारण जिले में गंगा नदी के बाएं तट पर जिला मुख्यालय छपरा से दक्षिण-पूर्व दिशा में लगभग 11 किलोमीटर और राज्य की राजधानी पटना से उत्तर-पश्चिम दिशा में लगभग 55 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। ऐसा माना जाता है कि इस क्षेत्र पर चेदि राजवंश का आधिपत्य होने के फलस्वरूप इस स्थल का नाम चिरान्द पड़ा। एक जनश्रुति के अनुसार भगवान बुद्ध के शिष्य आनन्द ने इसी स्थान पर अपना प्राण त्याग दिया था। आनन्द के पार्थिव शरीर को यहाँ पर दो भागों में चीरा गया था इसी कारण इसका नाम चिरान्द पड़ा। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार इस स्थान का सम्बन्ध राजा मयूरध्वज से भी जोड़ा जाता है।



नीतू तिवारी

विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
बी० डी० कॉलेज, पटना।



(1) चिरांद की स्थिति

इस स्थल का अन्वेषण डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर, ए.सी.एल. कार्लाइल, डब्ल्यू. होय, नन्दलाल डे, ए.एस. अल्तेकर के साथ-साथ अन्य कई विद्वानों द्वारा किया गया था। इस स्थल पर पुरातात्विक उत्खनन सबसे पहले 1961-71 के दौरान पुरातत्व एवं संग्रहालय निदेशालय, बिहार द्वारा और इसके बाद 1982-83 के दौरान प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग, पटना



विश्वविद्यालय, पटना द्वारा किया गया था। पुरातत्त्व एवं संग्रहालय निदेशालय, बिहार द्वारा किए गए पुरातात्विक उत्खनन के परिणामस्वरूप इस स्थल पर पांच सांस्कृतिक कालों के साक्ष्य प्रकाश में आये।

- **प्रथम काल** : नवपाषाण काल, जिसे मृद्भांड के आधार पर दो उपकालों क्रमशः A एवं B में विभाजित किया गया। प्रथम A उपकाल की अवधि 2500 से 2300 ई.पू. के मध्य तथा प्रथम B उपकाल की अवधि 2300 से 1600 ई.पू. के मध्य निर्धारित की गयी।
- **द्वितीय काल** : ताम्रपाषाण काल, जिसे दो उपकालों क्रमशः A एवं B में विभाजित किया गया। प्रथम उपकाल के स्तरों से तांबे के तथा द्वितीय उपकाल के ऊपरी स्तरों से लोहे के साक्ष्य प्राप्त हुए। प्रथम उपकाल की अवधि 1600 से 1000 ई.पू. के मध्य तथा द्वितीय उपकाल की तिथि 1000 से 800 ई.पू. के मध्य निर्धारित की गयी।
- **तृतीय काल** : उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भांड काल जिसकी अवधि 800 ई.पू. से 200 ई.पू. के मध्य निर्धारित की गयी।
- **चतुर्थ काल** : कुषाण काल, जिसकी अवधि 200 ई.पू. से 300 ई. के मध्य निर्धारित की गयी।
- **पंचम काल** : आरंभिक मध्य काल, जिसकी अवधि 700 ई. से 1200 ई. के मध्य निर्धारित की गयी।

इस उत्खनन के परिणाम स्वरूप इस पुरास्थल से पहली बार बिहार में नवपाषाणिक संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए। चिरान्द का नवपाषाणिक स्तर अपने अस्थि उपकरणों के लिए विख्यात हैं जिसकी तुलना कश्मीर के नव पाषाणिक स्थल बुर्जहोम से प्राप्त अस्थि उपकरणों से की जाती है। इन अस्थि उपकरणों में अधिकांश उपकरण हिरन की सींग एवं जानवरों की अस्थियों के बने हुए हैं। इसका प्रयोग आखेट के साथ-साथ कृषि कार्यों के लिए भी किया जाता था। चार प्रमुख नदियों के समीप अवस्थित चिरान्द नव पाषाणकाल से लेकर पूर्व मध्यकालीन संस्कृतियों को एक सूत्र में पिरोने वाला बिहार का महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल है तथा यहाँ से नवपाषाणिक संस्कृति से लेकर गुप्तोत्तर काल तक के अवशेष प्रकाश में आये हैं। उपरोक्त अवधि में किये गए उत्खनन के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कुषाण काल के स्तरों के ऊपर गुप्त काल से सम्बंधित स्तर नहीं पाए गए थे।



(2) वर्ष 1961-1970 के मध्य उत्खनित ईंट की संरचनाएं

वर्ष 2019 में पुरातत्त्व निदेशालय, बिहार द्वारा डेह्लन कॉलेज पोस्ट ग्रेजुएट एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे के सहयोग से इस स्थल पर पुनः उत्खनन किया गया। इस बार उत्खनन के लिए पूर्व के उत्खनित क्षेत्र के दक्षिण का क्षेत्र चुना गया, जो नदी के बहुत करीब है। इस बार किये गए उत्खनन का महत्व इस बात में निहित है कि इस बार गुप्त काल से सम्बंधित स्तर प्रकाश में आये जो पूर्व में किये गए उत्खनन में प्राप्त नहीं हुआ था।



(3) वर्ष 2019 में उत्खनित ईंट की संरचनाएं

चिरांद पुरास्थल को बिहार प्राचीन स्मारक और पुरातत्व स्थल अवशेष कलानिधि अधिनियम, 1976 के अंतर्गत सुरक्षित घोषित किया गया है तथा वर्ष 1961 से 1970 के मध्य किये गए उत्खनन के दौरान उद्घाटित ईंट निर्मित संरचनाओं को संरक्षित किया गया है।



(4) चिरांद, सारण का राज्य द्वारा संरक्षित घोषित क्षेत्र



चिरांद में संरक्षण की समस्याएं

गंगा नदी के कारण कटाव

- सुरक्षित घोषित स्थल के दक्षिण भाग में गंगा नदी बहुत करीब से बहती है जिसके कारण बरसात के मौसम में नदी में पानी के स्तर में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है जिसके कारण स्थल का कटाव हो रहा है तथा स्थल का कुछ हिस्सा नदी के कटाव के कारण नष्ट हो चुका है।



(5) गंगा नदी द्वारा टीले के कटाव का दृश्य

संभावित उपाय

स्थल पर और अधिक कटाव और विनाश से बचने के लिए निम्नलिखित निवारक उपाय किए जा सकते हैं-

- **बोल्डर पिचिंग और तटबंध सुदृढ़ीकरण:** स्थल के आधार भाग को पानी से और अधिक कटने से रोकने के लिए टीले के नदी की ओर वाले हिस्से पर बड़े आकार के पत्थर और जियो-बैग रखे जा सकते हैं।
- **गैबियन दीवारें (पत्थर से भरे तार के पिंजरे):** पानी के प्रवाह को अवशोषित करने और आगे के पतन को रोकने के लिए नदी के किनारे गैबियन दीवारें बनाई जा सकती हैं।
- **जल निकासी की उचित व्यवस्था :** विशेष रूप से मानसून के दौरान जलभराव को रोकने के लिए स्थल और आसपास उचित जल निकासी प्रणाली का निर्माण किया जा सकता है।

उत्खनित संरचनाओं के संरक्षण की समस्याएं

- उत्खनन से प्रकाश में आयीं ईंट की संरचनाएँ (एक इमारत का निचला हिस्सा) वर्तमान ज़मीनी स्तर से लगभग 10 फीट नीचे स्थित है तथा 2019 में किए गए उत्खनन के दौरान कुछ ईंट की संरचनाएँ भी उजागर हुई हैं जो परिसर के बाहर स्थित हैं तथा सम्यक संरक्षण के अभाव में अच्छी स्थिति में नहीं हैं।
- ईंट निर्मित संरचनाओं के निर्माण में जोड़ने के लिए ज़्यादातर मिट्टी के गारे का इस्तेमाल किया गया है। मिट्टी का गारा



ज़्यादा मज़बूत नहीं होता है और पानी और मौसम (बारिश का पानी, जलभराव, आदि) से आसानी से प्रभावित होता है। जलभराव संरक्षण के प्रमुख मुद्दों में से एक है क्योंकि मानसून के दौरान खाई के अंदर जमा होने वाले वर्षा जल के लिए कोई निकास नहीं है।

- संरचनाओं पर और उसके आस-पास वनस्पति का विकास एक और समस्या है क्योंकि इनकी जड़ें बांधने वाली सामग्री, मिट्टी के गारे, को नष्ट कर देती है और संरचना अपने मूल स्वरूप को खो देती है।



(6) स्थल पर वानस्पतिक वृद्धि



(7) सफाई तथा संरक्षण के पश्चात स्थल



संभावित उपाय

- वनस्पतियों की नियमित साफ़-सफाई एवं रख-रखाव।
- उत्खनन में प्राप्त संरचनाओं का उनके तल एवं उर्ध्व विन्यास के अनुसार संरक्षण तथा संरक्षण के नियमों के अनुरूप पुनर्निर्माण।
- जल निकासी की उचित व्यवस्था।
- संरचनात्मक अवशेष के आसपास के क्षेत्र में साइटिफिक क्लीयरेंस का कार्य जिससे संरचनाओं के गड्ढे की गहराई कम हो सके तथा जलनिकासी की व्यवस्था सुगमता से की जा सके।
- उत्खनित क्षेत्र के ऊपर शेड का निर्माण ताकि जल को एकत्रित होने से रोका जा सके।
- सुरक्षा के दृष्टिकोण से परिसर के बाहर स्थित उत्खनित क्षेत्र को सम्मिलित करते हुए नए बाउन्ड्री वाल का निर्माण।

चिरांद में विकास की सम्भावनाएं

- चिरांद में पुरातात्विक अवशेष एक दीर्घ क्षेत्र में विस्तृत हैं। जबकि उत्खनन का कार्य सीमित क्षेत्र में किया गया है। ग्राउंड पेनेट्रेटिंग राडार के माध्यम से इस क्षेत्र का व्यापक सर्वेक्षण कराते हुए नए क्षेत्रों में उत्खनन के माध्यम से संरचनाओं को उद्घाटित किया जा सकता है तथा भलीभांति उनका संरक्षण किया जा सकता है।
- वर्तमान में लगभग 3 एकड़ भूमि को अधिग्रहित कर उसे सुरक्षित घोषित किया गया है। अतिरिक्त भूमि का अधिग्रहण कर स्थल को विकसित किया जा सकता है तथा यहाँ पर नव पाषाण काल के लोगों के जीवन, उनके रहन-सहन, आवासीय विन्यास आदि पर आधारित थीम पार्क का निर्माण कराया जा सकता है जिससे यहाँ आने वाले लोगों को जानकारी प्राप्त हो सके।
- उत्खनित अवशेष के पश्चिम ओर एक भवन का निर्माण किया गया है। इस भवन में यहाँ से प्राप्त पुरावशेषों, मृद्भांड आदि के साथ-साथ अन्य द्वितीयक माध्यम से चिरांद स्थलीय संग्रहालय की स्थापना की जा सकती है।



(8) स्थल पर निर्मित भवन



- मुख्य मार्ग से इस स्थल तक पहुँचने के लिए जो मार्ग है वह बाज़ार के मध्य से निकलता है तथा अत्यधिक संकीर्ण एवं भीड़ वाला है। मुख्य मार्ग से यहाँ तक पहुँचने के लिए नदी के किनारे तट बंध बनाते हुए नए पहुँच मार्ग का निर्माण किया जा सकता है। इससे पर्यटकों को यहाँ तक पहुँचने में सुविधा हो सकेगी तथा तट बंध बन जाने से स्थल का नदी से होने वाले कटाव से बचाव भी होगा।
- यहाँ भ्रमण हेतु आने वाले पर्यटकों के लिए जन सुविधाओं यथा- शुद्ध पेयजल, शौचालय, विश्राम स्थल, बेंच, व्हील चेयर आदि की व्यवस्था।
- इस स्थल पर भ्रमण हेतु आने वाले पर्यटकों के लिए स्थानीय खान-पान पर आधारित कैफ़ेटेरिया की स्थापना।
- पर्यटन विभाग के साथ साझेदारी कर इसका व्यापक प्रचार एवं प्रसार किया जा सकता है तथा जिला एवं राजधानी स्तर पर इस स्थल की विशेषता को प्रचारित किया जा सकता है।
- स्थानीय कला एवं संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए स्थानीय लोगों को 'विरासत मित्र' के रूप में प्रशिक्षित करते हुए उन्हें अवसर उपलब्ध कराया जा सकता है, जो न केवल स्थानीय कला एवं संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहायक होगा अपितु स्थानीय लोगों को रोजगार के अवसर भी प्रदान करेगा।
- शैक्षणिक संस्थानों के साथ समन्वय स्थापित करते हुए समय-समय पर विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन यहाँ करवाया जा सकता है, इससे विद्यार्थी इस स्थल के बारे में न केवल जानकारी प्राप्त कर सकेंगे अपितु इससे जुड़ भी सकेंगे। शैक्षणिक दृष्टि से चिरांद को 'ओपन-एयर क्लासरूम' के रूप में विकसित किया जा सकता है, जहाँ छात्र पुरातत्त्व, इतिहास और पर्यावरण अध्ययन को प्रत्यक्ष साक्ष्यों के माध्यम से समझ सकें। स्थानीय स्तर पर यह स्थल सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़ करने के साथ-साथ विरासत-बोध के निर्माण में सहायक हो सकता है।

उपरोक्त कार्यों के माध्यम से बिहार के प्रथम एवं महत्वपूर्ण नव पाषाणिक उत्खनित स्थल को बचाया जा सकता है, उसे संरक्षित किया जा सकता है तथा पर्यटकों के मध्य उसे लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. Altekar, A.S. 1954. *Exploration Report Mss on Chirand*. K.P. Jayaswal Research Institute, Patna.
2. Dey, N. 1904. Notes on Chirand in the District of Saran, *Journal of the Asiatic Society of Bengal* LXXII:87-90.
3. Shirvalkar, Prabodh, Atul Kumar Verma & Others. 2024. Report of Excavation at Chirand (2019), Saran District, Bihar, India in *Heritage: Journal of Multidisciplinary Studies in Archaeology* Vol. 11.2, Journal of Department of Archaeology, University of Kerla, pp. 238-291.
4. Verma, B.S. 2007. *Chirand Excavation Report 1961-1964 and 1967-1970*. Directorate of Archaeology, Dept. of Youth, Art and Culture, Bihar, Patna.





प्राचीन पालि वाङ्मय में प्रजातांत्रिक परंपराएँ

एक अवलोकन



डॉ० हनुमदीश्वर कुमार सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर पालि विभाग
बी० डी० कॉलेज
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

शोधसार : प्राचीन भारत में वेदों में 'सभा', 'समिति', 'विदथ' जैसे जनतांत्रिक संस्थाओं के विकास का प्रमाण हमें मिलता है। यह विकास-यात्रा बुद्ध के काल तक आते-आते विभिन्न गणराज्यों के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। प्राचीन पालि वाङ्मय विशेष रूप से 'सुत्तपिटक' तथा 'विनयपिटक' प्राचीन भारत में प्रचलित गणतांत्रिक शासन-प्रणालियों एवं बौद्ध संघ में भी उनके अनुप्रयोग का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। ये विवरण केवल ऐतिहासिक अभिलेख ही नहीं हैं, बल्कि वैध शासन और सामाजिक संगठन के बारे में बौद्ध राजनैतिक आदर्शों को भी प्रतिबिंबित करते हैं। सुत्त एवं विनय में प्रमुखता से वर्णित 'वज्जिसंघ', 'मल्ल संघ', 'शाक्यगण' इत्यादि उन गणतंत्रात्मक आदर्शों का उदाहरण थे जिन्हें बौद्ध धर्म अपने अनुकूल मानता था। यह राजनीतिक व्यवस्था नियमित सभाओं के माध्यम से संचालित होती थी, जहाँ विभिन्न समुदायों के प्रतिनिधि साझा सरोकारों के मुद्दों पर चर्चा और निर्णय लेने के लिए एकत्रित होते थे। वाद-विवाद से समस्या का समाधान न होने पर बहुमत से निर्णय लिये जाते थे। इसके लिए मतदान (शलाका-ग्रहण) का सहारा लिया जाता था। संघ की शासन- संरचना में कई लोकतांत्रिक विशेषताएँ शामिल थीं, जो बौद्ध मूल्यों के अनुरूप थीं। गणतंत्र के प्रशंसक होने के कारण बुद्ध ने अपने पश्चात संघ का नेतृत्व किसी व्यक्ति विशेष को न सौंपकर उसमें 'धर्म-राज्य' एवं 'गण-राज्य' स्थापित किया। यह संभावना भी प्रकट की गई है कि कदाचित् विनय में उल्लिखित अनेक गणतंत्रीय प्रक्रियाएँ एवं पारिभाषिक शब्द बौद्ध संघ ने तत्कालीन गणराज्यों के प्रचलित व्यवहार से लिये हों और इस प्रसंग में 'ईसाई-संघ' के विकास में रोमन साम्राज्य के प्रभाव का दृष्टांत दिया गया। अपने परिनिर्वाण से कुछ पहले तथागत ने मगध सेनापति

'वर्षकार' से कहा था कि उन्होंने वज्जियों को वैशाली के सारन्दद-चौत्य में 'सात अपरिहाणीय धर्मों' का उपदेश दिया था। जब तक वज्जी इन धर्मों का पालन करेंगे उनकी वृद्धि ही होगी हानि नहीं। इन सात अपरिहाणीय धर्म रूपी प्रथाओं में एक परंपरावादी गणतंत्रीय आदर्श झलकता है। इस शोध-पत्र में हम पालि वाङ्मय के प्रमुख ग्रंथ 'सुत्त' एवं 'विनय' के परिप्रेक्ष्य में यह देखेंगे कि जहाँ एक ओर अपने संगठन की जनतंत्रात्मकता के कारण बौद्ध भिक्षु संघ समकालीन राजकीय गणों की याद दिलाता है, वहीं दूसरी ओर जाति-भेद का खंडन भी इन गणों से उसके संबंध का समर्थन करता माना गया है। जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व देने की यह दृष्टि स्पष्ट ही तर्कमूलक और सुधारवादी कदम है। अंततः यह हमारे लिए गौरव की बात है कि हम भारतीय दुनिया के सर्वाधिक प्राचीन लोकतंत्रात्मक प्रणाली के जनक हैं।

मुख्य शब्द : जनतंत्र, गणतंत्रा, बुद्ध, सुत्तपिटक, विनयपिटक, धर्म, संघ, सात अपरिहाणीय धर्म, राजनीति।

प्रस्तावना : लोकतंत्र अथवा प्रजातंत्र मानव सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक व्यवस्थाओं में से एक है। यह शासन प्रणाली जनता की सहभागिता, स्वतंत्रता, समानता और अधिकारों पर आधारित होती है। प्रजातंत्र का मतलब केवल वोट देने का अधिकार तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें नागरिकों की आवाज एवं भागीदारी को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाता है। विश्व में लोकतंत्र की जड़ें अत्यंत प्राचीन हैं और इसका विकास हजारों वर्षों में हुआ है। पश्चिमी मान्यता के अनुसार यूनान (एथेंस) को लोकतंत्र का उद्गम स्थल माना जाता है जिसका काल लगभग



509 ई.पू. के आसपास है। परन्तु ऐतिहासिक और पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर यह स्थापित हो चुका है कि भारत का वैशाली का गणतंत्र एथेंस के लोकतंत्र से भी अधिक प्राचीन है। यहाँ निर्वाचित शासकों और सामूहिक निर्णय की अवधारणा छठी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले ही स्थापित हो चुकी थी जबकि एथेंस का लोकतंत्र बाद में विकसित हुआ। इस प्रकार से निश्चित रूप से भारत ही लोकतंत्र की जननी है। यह केवल एक राजनीतिक कथन नहीं है बल्कि इसके पीछे भारत की हजारों वर्षों पुरानी लोकतांत्रिक परंपराएँ, सांस्कृतिक मूल्य और जनभागीदारी की सुदृढ़ विरासत निहित है।

भारत में लोकतांत्रिक परंपराओं की जड़ें वैदिक काल तक जाती हैं। उस समय सभा, समिति और विदथ जैसे जनतांत्रिक संस्थाओं के विकास का प्रमाण हमें मिलता है। कुछ विद्वान सभा को 'उच्च सदन' एवं समिति को 'निम्न सदन' के नाम से अभिहित करते हैं जबकि विदथ को केवल 'विद्वानों की परिषद' समझा जाता है। राम शरण शर्मा विदथ को प्राचीनतम जनसभा (Folk Assembly) मानते हैं। उनके अनुसार इसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही भाग लेते थे तथा यह सभी प्रकार के कार्यों-सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सैनिक आदि को संपन्न करती थी।

जनतांत्रिक संस्थाओं की यह विकास-यात्रा बुद्ध के काल तक आते-आते विभिन्न गणराज्यों के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। प्राचीन पालि साहित्य में विशेष रूप से सुत्तपिटक तथा विनयपिटक प्राचीन भारत में प्रचलित गणतांत्रिक शासन-प्रणालियों एवं बौद्ध संघ में भी उनके अनुप्रयोग का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। ये विवरण केवल ऐतिहासिक अभिलेख ही नहीं हैं, अपितु वैध शासन और सामाजिक संगठन के बारे में बौद्ध राजनीतिक आदर्शों को भी प्रतिबिंबित करते हैं। सुत्त एवं विनय में प्रमुखता से वर्णित वज्जिसंघ, मल्लसंघ, शाक्यगण इत्यादि उन गणतंत्रात्मक आदर्शों का उदाहरण थे जिन्हें बौद्ध धर्म अपने अनुकूल मानता था। यह राजनीतिक व्यवस्था नियमित सभाओं के माध्यम से संचालित होती थी, जहाँ विभिन्न समुदायों के प्रतिनिधि साझा सरकारों के मुद्दों पर चल इस चर्चा और निर्णय लेने के लिए एकत्रित होते थे। वाद विवाद से समस्याओं का समाधान न होने पर बहुमत से निर्णय लिए

जाते थे। इसके लिए मतदान (शलाका-ग्रहण) का सहारा लिया जाता था। संघ की शासन-संरचना में कई लोकतांत्रिक विशेषताएँ शामिल थीं, जो बौद्ध मूल्यों के अनुरूप थीं। गणतंत्र के प्रशंसक होने के कारण बुद्ध ने अपने पश्चात संघ का नेतृत्व किसी व्यक्ति विशेष को न सौंपकर उसमें धर्म-राज्य एवं गण-राज्य स्थापित किया।

षोडश महाजनपद : पालि ग्रंथ अंगुत्तर निकाय से ज्ञात होता है कि महात्मा गौतम बुद्ध के उदय के कुछ पूर्व समस्त उत्तरी भारत 16 बाड़े राज्यों में विभाजित था। इन्हें 16 महाजनपद कहा गया है। ये महाजनपद बुद्ध के पहले विद्यमान थे, क्योंकि बुद्ध काल में काशी का राज्य कोशल में तथा अंग का राज्य मगध में मिला लिया गया था। संभवत उस समय अश्मक भी अवन्ति द्वारा जीत लिया गया था। इन 16 महाजनपदों में दो प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ थीं-

1. **राजतंत्र :** अंग, मगध, काशी, कोशल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, सुरसेन, अस्मक, अवन्ती, गंधार, कंबोज। इनमें राज्य का अध्यक्ष राजा होता था।
2. **गणतंत्र :** वज्जि तथा मल्ल। इनका शासन राजा द्वारा न होकर गण अथवा संघ द्वारा होता था।

दस गणतंत्र : पालि साहित्य के आधार पर प्रोफेसर रिज डेविड्स ने अपनी 'बुद्धिष्ट इंडिया' नामक ग्रंथ में दस गणतंत्रों की सूची दी है, जो निम्न हैं-

- | | |
|-------------------------|-----------------------|
| 1. कपिलवस्तु के शाक्य | 2. रामग्राम के कोलिय |
| 3. पावा के मल्ल | 4. कुसीनारा के मल्ल |
| 5. मिथिला के विदेह | 6. पिप्पलीवन के मोरिय |
| 7. सुंसुमारगिरि के भग्ग | 8. अल्लकप्प के बुली |
| 9. केसपुत्त के कालाम | 10. वैशाली के लिच्छवी |

उपरोक्त के अतिरिक्त भी विभिन्न राज्यों एवं गणतंत्रों का अस्तित्व था।

प्राचीन पालि साहित्य में निहित प्रजातांत्रिक परंपराएँ

दीघनिकाय का 'अग्गज्जसुत्त' राज्य की उत्पत्ति के बारे में एक क्रांतिकारी विचार (विकासवाद) प्रस्तुत करता है। इसमें 'महा सम्मत' (The Great Elect, जनता के बड़े समूह द्वारा चुना गया) का लोकतांत्रिक सिद्धांत है। इसके अनुसार राजा



को जनता ने अपनी रक्षा और न्याय के लिए चुना है, वह ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है। यह हॉब्स, लॉक और रूसो के 'सामाजिक समझौते' के सिद्धांत के बहुत करीब है, जो आधुनिक लोकतंत्र की नींव है। दीघनिकाय का ही 'चक्कवर्ति सीहनादसुत्त' में एक आदर्श शासक और समाज के बीच के संबंधों का वर्णन है। यह कल्याणकारी राज्य और सामाजिक लोकतंत्र की अवधारणा को पुष्ट करता है। 'कूटदंत सुत्त' में भगवान बुद्ध अपराध रोकने के लिए केवल कड़े कानूनों की ही नहीं अपितु लोगों को रोजगार देने एवं किसानों को बीज और खाद उपलब्ध कराने की जरूरत पर बल देते हैं। 'अम्बडुसुत्त' में शाक्यों के संधागार (Assembly Hall) का उल्लेख है। इसी प्रकार 'संगीतिपरियाय सुत्त' में पावा के मल्लों का ऊंचा (उच्चतक) नया बना हुआ 'संस्थागार' (प्रजातंत्र-भवन) का उद्घाटन भगवान बुद्ध प्रवचन देकर करने हुए दिखाई देते हैं।

'महापरिनिब्वानसुत्त' प्रजातंत्र का 'मैग्नाकार्टा' (Magna Carta) कहा जा सकता है। इसमें तथागत ने वज्जियों की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए 'सत्त अपरिहाणीय धम्मा' (गणतंत्र की रक्षा अथवा प्रगति के सात नियम) के बारे में कहा कि जब तक वे इन नियमों का पालन करते रहेंगे उन्हें कोई जीत नहीं सकेगा। ये सात नियम हैं-

1. **नियमित सभाएँ करना** : प्रजा द्वारा नियमित रूप से सार्वजनिक सभाएँ करना।
2. **एकता और सामंजस्य** : प्रजा द्वारा शांतिपूर्वक और एकता के साथ मिल बैठकर समस्या पर वाद-विवाद कर निर्णय लागू करना।
3. **संविधान का सम्मान** : स्थापित परंपराओं और कानूनों का उल्लंघन नहीं करना।
4. **वृद्धों का सम्मान** : अनुभवी और वृद्धजनों की सलाह को महत्त्व देना।
5. **स्त्रियों का सम्मान** : समाज में स्त्रियों की सुरक्षा और सम्मान को सुनिश्चित करना।
6. **धार्मिक स्थलों की रक्षा करना** : अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत की रक्षा करना।
7. **विद्वानों एवं संतों का संरक्षण** : संतों और विद्वानों का स्वागत एवं रक्षा करना।

लिच्छवी गणराज्य की 'अष्टकुलक' प्रणाली प्राचीन विश्व की सबसे निष्पक्ष और जटिल न्यायिक प्रक्रियाओं में से एक थी। इसका मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि किसी भी निर्दोष व्यक्ति को गलती से भी सजा न मिले। पालि साहित्य के अनुसार यह एक आठ - स्तरीय न्यायिक जांच प्रणाली थी। जब किसी व्यक्ति पर अपराध का आरोप लगता तो उसे सीधे जेल नहीं भेजा जाता था बल्कि उसे निम्न आठ स्तरों से गुजरना होता था-

1. **विनिच्छय महामत्त** : यह प्रारंभिक जांच अदालत थी। यहाँ न्यायाधीश मामले की प्राथमिक जांच करते थे। यदि वे व्यक्ति को निर्दोष पाते तो उसे यहीं पर मुक्त कर दिया जाता था। दोषी पाए जाने पर मामला अगले स्तर पर जाता था।
2. **वोहारिक** : ये कानून के विशेषज्ञ होते थे। वे पारंपरिक कानूनों और प्रथाओं के आधार पर मामले की व्याख्या करते थे।
3. **सुत्तधर** : इनका काम यह देखना था कि अपराधी ने किन विशिष्ट नियमों या सूत्रों का उल्लंघन किया है।
4. **अडुकुलक** : यह आठ कुलों के प्रतिनिधियों की एक संयुक्त परिषद थी। यहाँ मामले पर सामाजिक और सामुदायिक दृष्टिकोण से विचार किया जाता था।
5. **सेनापति** : सेना प्रमुख मामले को अनुशासन और सुरक्षा की दृष्टि से अवलोकन करता था।
6. **उपराजा** : इसके बाद गणराज्य का उपराजा मामले को देखता था।
7. **राजा** : सबसे अंत में मामला राजा के पास पहुंचता था।
8. **पवेणि-पोत्थक** : राजा स्वयं निर्णय लेने के बजाय 'पवेणि-पोत्थक' (कानून की किताब) के आधार पर निर्णय देता था।

इस व्यवस्था की सबसे बड़ी खासियत यह थी कि यदि इन आठ चरणों में से किसी भी स्तर पर न्यायाधीश को लगता कि व्यक्ति निर्दोष है तो उसे तुरंत मुक्त कर दिया जाता था। सजा के लिए सभी स्तरों की सहमति अनिवार्य थी। यह व्यवस्था किसी भी प्रकार की तानाशाही को रोकने के लिए बनाई गई थी।



गणराज्यों में निर्णय लेने की प्रक्रिया : गणराज्यों में 'संथागार' वह स्थान था जहाँ सभी नागरिक या उनके प्रतिनिधि एकत्र होकर विमर्श करते थे। किसी भी समस्या पर खुली बहस होती थी। यदि सहमति नहीं बन पाती थी तो 'मतदान' का सहारा लिया जाता था। पालि साहित्य में इसे 'यद्भूयसिक' (बहुमत) कहा गया है। मतदान के लिए लकड़ी की रंगीन पट्टियों का उपयोग होता था जिन्हें शलाका (Voting Stick) कहा जाता था। वोट का पुराना नाम 'छंद' है। मतदाता को 'छन्ददायक' कहा जाता था। शलाका बांटने वाले को 'शलाका-ग्रहापक' कहा जाता था। 'शलाका-ग्रहापक' वह अधिकारी होता था जो निष्पक्ष रूप से 'शलाका' को बांटता था। विनय पिटक में मतदान के तीन प्रमुख तरीके (शलाका-ग्रहण) बताए गए हैं-

1. गुल्हक (Secret) : यह गुप्त मतदान था। इसमें अधिकारी प्रत्येक सदस्य के पास जाकर 'शलाका' देता था और सदस्य अपनी पसंद का रंग चुन कर उसे छिपाकर लौटा देता था।

2. सकण्णजप्पक (Whispering) : इसमें अधिकारी सदस्य के कान में जाकर उसकी राय पूछता था। यह तरीका तब अपनाया जाता था जब मामला गंभीर हो।

3. विवत्तक (Open) : यह खुला मतदान था। इसमें मतदाता सबके सामने अपनी पसंद की 'शलाका' उठाता था या हाथ खड़ा करता था।

निर्वाचन के नियम और कोरम (गणपूर्ति)

किसी भी निर्णय को वैध मानने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक था :

1. कोरम (गणपूर्ति) : सभा तब तक शुरू नहीं हो सकती थी जब तक सदस्यों की एक निश्चित न्यूनतम संख्या (कोरम) उपस्थित न हो। कोरम पूरा करने वाले अधिकारी को 'गण-पूरक' कहा जाता था।

2. ज्ञप्ति (प्रस्ताव) : एक समर्थ सदस्य 'ज्ञप्ति' (प्रस्ताव) पेश करता था।

3. अनुश्रावण (प्रस्ताव का दुहराव) : किसी भी प्रस्ताव को सभा के सामने तीन बार दुहराया जाता था। यदि तीसरी बार

तक कोई विरोध नहीं होता था तो उसे पारित मान लिया जाता था।

4. छन्द (अनुपस्थित सदस्यों का मत) : यदि कोई सदस्य बीमार होने या अन्य कारणों से उपस्थित नहीं हो पाता था तो उसे अपना मत(छन्द) किसी दूसरे सदस्य के माध्यम से भेजने का अधिकार था।

जिन गणतांत्रिक राज्यों का उल्लेख मिलता है उनमें सबसे महत्वपूर्ण 'वज्जिसंघ' था। यह आठ गणराज्यों (अष्टकुलिक) का समूह था जिसमें सबसे महत्वपूर्ण वज्जि, विदेह और लिच्छवी कुल थे। ज्ञात्रिककुल का भी विशिष्ट स्थान था। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी। पुरातात्विक साक्ष्यों से छठी शताब्दी ईसा पूर्व में वैशाली (बसाढ़) नगर के प्रमाण मिलते हैं। कालांतर में मगध के सेनापति वर्षकार ने वज्जियों में फूट डाल दी और आजाद शत्रु ने वैशाली पर अधिकार कर इसे मगध साम्राज्य का अंग बना लिया।

बौद्ध भिक्षु संघ में प्रजातांत्रिक परंपराएँ : बौद्ध भिक्षु संघ की कार्यप्रणाली प्राचीन विश्व में प्रत्यक्ष लोकतंत्र का सबसे उत्कृष्ट और व्यावहारिक उदाहरण थी। भगवान बुद्ध ने संघ का ढांचा पूरी तरह से लिच्छवी, शाक्य और मल्ल गणराज्यों की लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली पर आधारित किया था। विनयपिटक में संघ के जो नियम दिए गए हैं वे आज की आधुनिक संसद के नियमों से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं।

समानता : संघ में प्रवेश करते ही व्यक्ति की पुरानी पहचान (जाति, कुल) और सामाजिक स्थिति समाप्त हो जाती थी। बुद्ध कहते हैं-" जैसे विभिन्न नदियाँ समुद्र में गिरकर अपना नाम और अस्तित्व खो देती हैं वैसे ही संघ में आकर सभी केवल भिक्षु रह जाते हैं।" संघ के प्रत्येक सदस्य को सभा में बोलने और अपना मत देने का समान अधिकार था।

संघ की विधायी प्रक्रिया : संघ की किसी भी बैठक में निर्णय लेने की एक निश्चित प्रक्रिया थी। सर्वप्रथम किसी कार्य को शुरू करने के लिए औपचारिक प्रस्ताव रखा जाता था जिसे 'ज्ञप्ति' कहते हैं। तत्पश्चात प्रस्ताव को तीन बार दोहराया (अनुश्रावण) जाता था जिसे 'ज्ञप्ति चतुर्थकर्म' अथवा 'कम्मवाचा' कहा जाता था। यदि सदस्य मौन रहते थे तो इसे



‘सम्मति’ माना जाता था, जिससे ‘धारणा’ के नाम से अभिहित किया जाता था। विरोध होने पर उसे सुलझाने के लिए दो या अधिक भिक्षुओं की एक समिति बनाई जाती थी जिसे ‘उद्वाहिका’ कहा जाता था। यदि ये भिक्षु भी निर्णय नहीं कर पाते थे तो प्रस्तुत विषय फिर से संघ के सामने लौट आता था और ‘मताधिक्य’ (यद्भूयसिक) से ही उसका निर्णय किया जाता था। मतदान ‘शलाका-ग्रहण’ द्वारा होता था और इस कार्य के लिए एक विशेष मतदान अधिकारी (शलाका-ग्रहापक) नियुक्त होता था। परिस्थिति के अनुरूप ‘गूढक’(गुप्त), ‘विवृतक’(खुला) या ‘सकर्णजल्पक’(कानाफूसी) के माध्यम से मत लिए जाते थे। कार्यवाही को वैध होने के लिए भिक्षुओं की एक न्यूनतम संख्या का पूरा होना आवश्यक था जिसे ‘गणपूर्ति’ (कोरम) कहा जाता था। यदि कोई भिक्षु बीमार होने के कारण सभा में उपस्थित नहीं हो पाता था तो वह अपना ‘मत’ (छन्द) किसी दूसरे भिक्षु के माध्यम से भेज सकता था।

संघ का संविधान : ‘प्रातिमोक्ष’ : जिस प्रकार देश के लिए संविधान होता है, उसी प्रकार संघ के लिए ‘प्रातिमोक्ष’ था। ‘भिक्षु- प्रातिमोक्ष’ के 227 नियम एवं ‘भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष’ के 311 नियम थे। प्रत्येक 15 दिन के अंतराल पर अमावस्या एवं पूर्णिमा को सभी भिक्षु एवं भिक्षुणी एकत्र होते थे और इन नियमों का पाठ करते थे। यदि किसी भिक्षु और भिक्षुणी ने उन नियमों को तोड़ा होता था तो वह सार्वजनिक रूप से अपना अपराध स्वीकार करता था। दोषानुरूप उन्हें दंड का भागी बनना पड़ता था। यह स्व-अनुशासन और पारदर्शिता का उच्चतम रूप था। नियमों का पालन सबके लिए अनिवार्य था चाहे वह कितना ही वरिष्ठ क्यों न हो। यह कानून के शासन (Rule of Law) का स्पष्ट उदाहरण है।

स्त्री और लोकतांत्रिक चेतना : पालि साहित्य में स्त्रियों के लिए भिक्षुणी संघ की स्थापना का उल्लेख मिलता है। स्त्रियों के लिये संघ के दरवाजे खोलकर बुद्ध ने उन्हें पुरुषों के समान धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्रदान किए। स्त्रियां भी निर्णय प्रक्रिया में सहभागी बनीं। यह उस युग की प्रगतिशील और लोकतांत्रिक सोच को दर्शाता है।

संवाद और सहिष्णुता : भगवान बुद्ध ने संवाद, तर्क और सहिष्णुता को अत्यधिक महत्त्व दिया। पालि साहित्य में वर्णित

उपदेश बताते हैं कि असहमति को भी सम्मान दिया जाता था, जो स्वस्थ लोकतंत्र की पहचान है।

आर्थिक लोकतंत्र : पालि वाङ्मय में ‘श्रेणी’ (Guilds) का उल्लेख मिलता है। ये व्यापारियों और कारीगरों के अपने स्वतंत्र संघ थे। इन श्रेणियों के अपने कानून होते थे जिन्हें राजा भी नहीं बदल सकता था। यह आर्थिक लोकतंत्र का जीता-जागता उदाहरण था, जहाँ बाजार की शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं, अपितु संघों के हाथ में थी।

निष्कर्ष : बौद्ध भिक्षु संघ ने यह सिद्ध किया था कि नैतिकता और नियमों के आधार पर एक बड़ा समुदाय बिना किसी तानाशाह के पूर्णतः लोकतांत्रिक तरीके से सफलतापूर्वक चल सकता है। डॉ. भीमराव अंबेदकर ने इसीलिए बुद्ध के संघ को भारतीय लोकतंत्र का असली प्रेरणा स्रोत बताया था। प्राचीन पालि साहित्य ने वह नैतिक और प्रक्रियात्मक आधार प्रदान किया, जिसपर आज का विशाल भारतीय लोकतंत्र खड़ा है। पालि साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में प्रजातांत्रिक (लोकतांत्रिक) मूल्यों की जड़ें बहुत गहरी थी। भगवान बुद्ध ने अपने संघ की लोकतांत्रिक नियमावली वज्जियों, शाक्यों एवं मल्लों की शासन - प्रणाली से सीखी और परिष्कृत की थी। बौद्ध संघ की संरचना, गणराज्य-व्यवस्था, कानून का शासन, समानता, स्वतंत्रता और संवाद की संस्कृति यह सिद्ध करती है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें अत्यंत गहरी और प्राचीन हैं। यही कारण है कि भारत को ‘लोकतंत्र की जननी’ कहा जाता है।

संदर्भ- ग्रंथ

1. उपाध्याय, भरत सिंह : पालि साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद, 2000, पृष्ठ 379-424.
2. सांकृत्यायन, राहुल और कश्यप : जगदीश दीघनिकाय (हिंदी अनुवाद), दिल्ली, 1935, पृष्ठ 34, 48, 240, 281.
3. सांकृत्यायन, राहुल : विनय पिटक (हिंदी अनुवाद), वाराणसी, 1994, पृष्ठ 105.
4. काश्यप, जगदीश : अंगुत्तरनिकाय पालि, जिल्द 3, नालंदा, 1960, पृष्ठ 349-357.
5. धर्मरक्षित, भिक्षु : महापरिनिब्वान सुत्त, वाराणसी, 1958, पृष्ठ 4.
6. शर्मा, रामशरण : पॉलिटिकल आइडियाज एंड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐम्पेन्ट इंडिया, दिल्ली, 2015, पृष्ठ 79-80.
7. चौधरी, राधाकृष्ण : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पटना, 1979, पृष्ठ 96-97.



लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका

एक विश्लेषणात्मक अध्ययन



डॉ राजीव कुमार

सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग
बी० डी० कॉलेज
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में राजनीतिक दल अनिवार्य संस्थागत घटक माने जाते हैं। लोकतंत्र केवल संवैधानिक ढाँचे या चुनावी प्रक्रिया तक सीमित नहीं होता उसके प्रभावी संचालन के लिए सक्रिय, उत्तरदायी और सुव्यवस्थित दलों की आवश्यकता होती है। राजनीतिक दल नागरिक समाज और राज्य के बीच सेतु का कार्य करते हुए जनमत निर्माण, राजनीतिक सहभागिता के विस्तार, नेतृत्व के विकास और सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह अध्ययन राजनीतिक दलों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि, ऐतिहासिक विकास, प्रमुख कार्यों तथा भारतीय लोकतंत्र में उनकी समकालीन भूमिका का विश्लेषण करता है। साथ ही, आंतरिक लोकतंत्र की कमी, वंशानुगत राजनीति, धन-बल और बाहुबल का प्रभाव, राजनीति का अपराधीकरण तथा विचारधारात्मक अस्पष्टता जैसी चुनौतियों का आलोचनात्मक परीक्षण भी प्रस्तुत करता है।

निष्कर्षतः, राजनीतिक दल लोकतंत्र को संस्थागत स्थिरता और व्यावहारिक आधार प्रदान करते हैं, विशेषकर बहुदलीय व्यवस्था में वे सामाजिक विविधताओं को प्रतिनिधित्व का मंच देते हैं। किंतु पारदर्शिता, जवाबदेही और लोकतांत्रिक मूल्यों से विचलन लोकतांत्रिक गुणवत्ता को कमजोर कर सकता है। अतः लोकतंत्र की सुदृढ़ता राजनीतिक दलों के आंतरिक लोकतंत्रीकरण, नैतिक प्रतिबद्धता और जनोन्मुखी कार्यप्रणाली पर निर्भर करती है।

मुख्य शब्द : लोकतांत्रिक शासन, राजनीतिक दल, जनमत निर्माण, राजनीतिक सहभागिता

भूमिका (Introduction) : लोकतंत्र आधुनिक युग की सर्वाधिक स्वीकृत शासन प्रणाली के रूप में विकसित हुआ है। इसका मूल सिद्धांत यह है कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती है और शासन जन-सहमति के आधार पर संचालित होता है। लोकतंत्र नागरिकों को केवल शासकों के

चयन का अधिकार ही नहीं देता, बल्कि उन्हें शासन प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर भी प्रदान करता है। यद्यपि लोकतंत्र को सामान्यतः संविधान, चुनाव, सरकार और विधायिका जैसी औपचारिक संस्थाओं से जोड़ा जाता है, इसकी सफलता उन संस्थागत व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है जो जनता और शासन के बीच निरंतर संवाद स्थापित करती हैं।

इन संस्थागत तत्वों में राजनीतिक दलों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। आधुनिक लोकतंत्र की कल्पना राजनीतिक दलों के बिना संभव नहीं है (शुम्पीटर, 2008, पृ. 112)।

वे जनता और राज्य के बीच सेतु का कार्य करते हुए सामाजिक हितों, अपेक्षाओं और समस्याओं को राजनीतिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। राजनीतिक दल नागरिकों की बिखरी आकांक्षाओं को संगठित कर उन्हें नीति-निर्माण और शासन प्रक्रिया से जोड़ते हैं। इस प्रकार वे लोकतंत्र को औपचारिक ढाँचे से आगे बढ़ाकर जीवंत और व्यावहारिक स्वरूप देते हैं। राजनीतिक दल नागरिक सहभागिता के प्रमुख माध्यम हैं। सामान्य नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन संचालन में भाग नहीं ले सकता, परंतु राजनीतिक दलों के माध्यम से वह अपने विचार, मांगों और असंतोष व्यक्त करता है। चुनावों में भागीदारी, प्रतिनिधियों का चयन, विचारधाराओं का प्रसार, जन-आंदोलनों का संगठन और नीतिगत बहसकृये सभी प्रक्रियाएँ राजनीतिक दलों के माध्यम से संचालित होती



हैं। सत्तारूढ़ दल शासन और नीति-निर्माण का दायित्व निभाते हैं, जबकि विपक्षी दल सरकार को जवाबदेह बनाते हैं। यह संतुलन लोकतांत्रिक व्यवस्था की आत्मा है और राजनीतिक दल इस प्रक्रिया के प्रहरी के रूप में कार्य करते हैं।

भारत जैसे बहुलतावादी और सामाजिक रूप से विविध देश में राजनीतिक दलों की भूमिका और अधिक जटिल तथा महत्वपूर्ण हो जाती है। जातीय, धार्मिक, भाषाई, क्षेत्रीय और वर्गीय विविधताओं से निर्मित भारतीय समाज में दलों का दायित्व केवल सत्ता प्राप्त करना नहीं, बल्कि विभिन्न सामाजिक समूहों को प्रतिनिधित्व देना भी है। स्वतंत्रता के बाद विकसित बहुदलीय प्रणाली ने लोकतंत्र को व्यापक आधार प्रदान किया। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों ने स्थानीय तथा क्षेत्रीय मुद्दों को राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बनाया, जिससे अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों जैसे वंचित समूहों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ी। राजनीतिक दलों ने इन वर्गों को प्रतिनिधित्व और सत्ता संरचना में सहभागिता का अवसर उपलब्ध कराया।

हालाँकि, राजनीतिक दलों की भूमिका केवल सकारात्मक पक्षों तक सीमित नहीं है। समय के साथ अनेक चुनौतियाँ उभरी हैं। कई दलों में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव दिखाई देता है, जहाँ निर्णय-प्रक्रिया सीमित व्यक्तियों या परिवारों के हाथों में केंद्रित हो जाती है। वंशवाद, धनबल और बाहुबल का प्रभाव राजनीति को जनसेवा से दूर कर सत्ता-केंद्रित बना देता है। राजनीति का अपराधीकरण और विचारधारात्मक अस्पष्टता भी लोकतांत्रिक मूल्यों को कमजोर करती है।

इन परिस्थितियों में यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या राजनीतिक दल लोकतंत्र को सुदृढ़ करते हैं या उसे कमजोर बनाते हैं। एक ओर वे जनता को संगठित कर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सशक्त करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी आंतरिक कमजोरियाँ लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित करती हैं। यही द्वंद्व राजनीतिक दलों के अध्ययन को प्रासंगिक बनाता है।

प्रस्तुत शोध लेख लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों

की भूमिका का सैद्धांतिक और व्यवहारिक विश्लेषण करता है। इसमें उनकी अवधारणा, ऐतिहासिक विकास, प्रमुख कार्यों तथा भारतीय लोकतंत्र में उनकी समकालीन भूमिका का परीक्षण किया गया है। साथ ही, उनके योगदान, सीमाओं और चुनौतियों का सम्यक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन का केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि लोकतांत्रिक शासन की सुदृढ़ता केवल संवैधानिक ढाँचे पर निर्भर नहीं करती, बल्कि राजनीतिक दलों की संगठनात्मक संरचना, आंतरिक लोकतंत्रीकरण, पारदर्शिता और जनोन्मुखी कार्यप्रणाली पर आधारित होती है। यदि राजनीतिक दल लोकतांत्रिक मूल्यों और उत्तरदायित्व को आत्मसात करें, तो लोकतंत्र अधिक प्रभावी, समावेशी और स्थायी बन सकता है।

साहित्य समीक्षा : राजनीतिक दलों और लोकतांत्रिक व्यवस्था के संबंधों पर राजनीतिक सिद्धांतकारों एवं समाजशास्त्रियों ने व्यापक अध्ययन किया है। अधिकांश विद्वान राजनीतिक दलों को आधुनिक लोकतंत्र की अनिवार्य संस्थागत इकाई मानते हैं, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से लोकतांत्रिक शासन व्यवहारिक स्वरूप ग्रहण करता है। प्रारंभिक चिंतन में दलों को संगठित हितों के प्रतिनिधि के रूप में देखा गया, जबकि आधुनिक विश्लेषण उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के केंद्रीय घटक के रूप में स्थापित करते हैं। एडमंड बर्क ने राजनीतिक दल को साझा सिद्धांतों पर आधारित ऐसे संगठित समूह के रूप में परिभाषित किया, जो राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए कार्य करता है। उनके अनुसार दल सार्वजनिक आदर्शों के वाहक होते हैं, न कि केवल व्यक्तिगत स्वार्थों के। जोसेफ शुम्पीटर ने लोकतंत्र को प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया मानते हुए राजनीतिक दलों के बीच चुनावी प्रतिस्पर्धा को उसकी आधारशिला बताया। उनके दृष्टिकोण में दल लोकतांत्रिक सत्ता-हस्तांतरण की संस्थागत व्यवस्था सुनिश्चित करते हैं। मौरिस ड्यूवर्जर ने निर्वाचन प्रणाली और दल-व्यवस्था के संबंध का विश्लेषण कर यह स्पष्ट किया कि चुनावी ढाँचा दलों की संख्या, संरचना और कार्यप्रणाली को प्रभावित करता है।

भारतीय संदर्भ में रजनी कोठारी ने दलों को सामाजिक संरचना और राजनीति के बीच सेतु माना, जबकि क्रिस्टोफ जाफरलो ने हाशिए के वर्गों के राजनीतिक सशक्तीकरण में



उनकी भूमिका को रेखांकित किया।

समग्रतः साहित्य यह दर्शाता है कि राजनीतिक दल लोकतंत्र के लिए अपरिहार्य हैं, किंतु उनकी भूमिका समय, सामाजिक परिस्थितियों और राजनीतिक संस्कृति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

अध्ययन के उद्देश्य : प्रस्तुत शोध लेख का मुख्य उद्देश्य लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका का गहन एवं व्यवस्थित अध्ययन करना है। इस शोध के विशिष्ट उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक भूमिका का विश्लेषण करना, ताकि लोकतंत्र के संचालन में उनकी वास्तविक महत्ता को समझा जा सके।

राजनीतिक दलों द्वारा संपादित प्रमुख कार्यो जैसे राजनीतिक सहभागिता को बढ़ावा देना, जनमत का निर्माण करना तथा शासन और जनता के बीच संवाद स्थापित का स्पष्ट विवेचन करना।

भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में राजनीतिक दलों के योगदान का मूल्यांकन करना, विशेषकर सामाजिक प्रतिनिधित्व, चुनावी प्रक्रिया और नीतिनिर्माण में उनकी भूमिका के आलोक में।

राजनीतिक दलों से संबंधित वर्तमान चुनौतियों एवं समस्याओं : जैसे आंतरिक लोकतंत्र का अभाव, जाति-धर्म आधारित राजनीति, धन और अपराध का प्रभावकृता अध्ययन करना।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था पर राजनीतिक दलों के समग्र प्रभाव का आकलन करना तथा यह समझने का प्रयास करना कि वे लोकतंत्र को सशक्त करने में किस हद तक सफल रहे हैं।

शोध प्रश्न (Research Questions)

- लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका क्या है।
- राजनीतिक दल लोकतंत्र को किस प्रकार सशक्त बनाते हैं।
- भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ कौन-सी हैं।

- क्या राजनीतिक दल लोकतांत्रिक मूल्यों को कमजोर भी करते हैं।

शोध पद्धति (Methodology) : प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है, जिसका उद्देश्य लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका को सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों स्तरों पर समझना है। अध्ययन की प्रकृति गुणात्मक (Qualitative) है, जिसमें तर्कपूर्ण व्याख्या एवं तुलनात्मक विश्लेषण की पद्धति अपनाई गई है।

शोध में मुख्य रूप से द्वितीयक स्रोतों (Secondary Sources) का प्रयोग किया गया है। इन स्रोतों में राजनीतिक सिद्धांत एवं लोकतंत्र से संबंधित मानक पुस्तकों, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं, प्रकाशित शोध लेखों, भारतीय संविधान के प्रासंगिक प्रावधानों, निर्वाचन आयोग की रिपोर्टों, संसदीय दस्तावेजों तथा विभिन्न सरकारी प्रकाशनों को सम्मिलित किया गया है। इन स्रोतों के माध्यम से राजनीतिक दलों की संरचना, कार्यप्रणाली एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था पर उनके प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

राजनीतिक दल : अर्थ और अवधारणा : राजनीतिक दल को सामान्यतः ऐसे संगठित समूह के रूप में समझा जाता है, जिसमें सम्मिलित सदस्य किसी साझा विचारधारा, नीतिगत दृष्टिकोण तथा कार्यक्रमों के आधार पर कार्य करते हैं। (बर्क, 2005, पृ. 45)।

इन समूहों का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सत्ता तक पहुँच बनाना तथा शासन की प्रक्रिया में प्रभावी भूमिका निभाना होता है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल सत्ता और समाज के बीच एक औपचारिक एवं संस्थागत माध्यम के रूप में कार्य करते हैं। लोकतंत्र की प्रकृति ऐसी है कि उसमें जनता को शासन से संबंधित निर्णयों में भागीदारी का अवसर मिलता है। राजनीतिक दल इस भागीदारी को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। वे जनसमस्याओं को राजनीतिक एजेंडे का स्वरूप देते हैं और उन्हें नीतियों योजनाओं में परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं। इसके माध्यम से नागरिकों को वैकल्पिक नीतियाँ, नेतृत्व और



कार्यक्रम उपलब्ध होते हैं, जिससे चुनाव के समय सूचित निर्णय लेना संभव हो पाता है।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे चुनावों के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यह प्रक्रिया उन्हें जनता के प्रति उत्तरदायी बनाती है, क्योंकि उनका अस्तित्व और सफलता जनसमर्थन पर निर्भर करती है। सत्ता में रहते हुए राजनीतिक दल शासन संचालन का दायित्व निभाते हैं, जबकि सत्ता से बाहर रहने की स्थिति में वे विपक्ष के रूप में सरकार की नीतियों एवं कार्यों पर निगरानी रखते हैं। (ड्यूवर्जर, 2010 पृ. 78)।

इस प्रकार राजनीतिक दल केवल सरकार गठन तक सीमित नहीं होते, बल्कि वे लोकतांत्रिक संतुलन बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सत्ता पक्ष और विपक्ष के बीच की प्रतिस्पर्धा लोकतंत्र को जीवंत बनाए रखती है और निरंकुशता की संभावनाओं को सीमित करती है। इसलिए राजनीतिक दल लोकतांत्रिक शासन की एक मूलभूत एवं अनिवार्य अवधारणा के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

राजनीतिक दलों का ऐतिहासिक विकास : राजनीतिक दलों का विकास लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के क्रमिक विस्तार से गहराई से जुड़ा है। प्रारंभिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता प्रायः वंशानुगत या सीमित वर्गों के हाथों में केंद्रित रहती थी, इसलिए संगठित राजनीतिक दलों की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी। किंतु जैसे-जैसे राजनीतिक सहभागिता का दायरा बढ़ा और जनता को निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में सम्मिलित किया गया, राजनीतिक दल लोकतंत्र की एक अनिवार्य संस्था के रूप में उभरकर सामने आए।

विश्व स्तर पर आधुनिक राजनीतिक दलों का संगठित स्वरूप अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ। यद्यपि प्राचीन यूनान और रोम में राजनीतिक समूह विद्यमान थे, वे आधुनिक अर्थों में दल नहीं थे, क्योंकि राजनीति सीमित नागरिक वर्ग तक ही सीमित थी। औद्योगिक क्रांति, सामाजिक परिवर्तन और संवैधानिक शासन की स्थापना के साथ यूरोप और अमेरिका में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का विस्तार हुआ। सार्वभौमिक मताधिकार के प्रसार ने जनसमर्थन को संगठित करने की आवश्यकता उत्पन्न की, जिसके परिणामस्वरूप

राजनीतिक दल संस्थागत रूप ग्रहण करने लगे। ब्रिटेन और अमेरिका में दो-दलीय प्रणाली तथा अन्य देशों में बहुदलीय व्यवस्थाएँ इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम थीं।

भारत में राजनीतिक दलों का विकास औपनिवेशिक शासन और राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजनीतिक चेतना के विस्तार के साथ संगठित राजनीतिक गतिविधियाँ प्रारंभ हुईं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने संगठित राजनीतिक दल की अवधारणा को सुदृढ़ आधार दिया और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उसने जन-संगठन तथा नेतृत्व की केंद्रीय भूमिका निभाई। स्वतंत्रता के पश्चात लोकतांत्रिक संविधान लागू होने के साथ भारत में बहुदलीय प्रणाली का विकास हुआ। विभिन्न राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों ने विविध सामाजिक वर्गों, क्षेत्रों और विचारधाराओं को प्रतिनिधित्व प्रदान किया, जिससे लोकतंत्र अधिक प्रतिस्पर्धात्मक और समावेशी बना। वर्तमान में राजनीतिक दल सत्ता, विपक्ष और नीति-निर्माण की प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाते हुए भारतीय लोकतांत्रिक शासन के आधारस्तंभ के रूप में कार्य कर रहे हैं।

लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों की प्रमुख भूमिकाएँ

लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दल बहुआयामी और केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। वे जनमत निर्माण के माध्यम से समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाते हैं। जनसभाओं, घोषणापत्रों, मीडिया और चुनावी अभियानों के जरिए वे नागरिकों को जागरूक करते हैं तथा उनकी बिखरी हुई राय को संगठित स्वरूप प्रदान करते हैं। यह प्रक्रिया न केवल चुनावी निर्णयों को प्रभावित करती है, बल्कि शासन की वैधता, नीति-निर्माण की गुणवत्ता और लोकतांत्रिक स्थिरता को भी सुदृढ़ करती है।

राजनीतिक दल नागरिकों की सहभागिता को संस्थागत आधार देते हैं। वे सामान्य नागरिकों को उम्मीदवार बनने, आंदोलनों में भाग लेने और नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने का अवसर प्रदान करते हैं। प्रशिक्षण, संगठनात्मक कार्य और राजनीतिक अनुभव के माध्यम से दल नागरिकों को सक्रिय लोकतांत्रिक भूमिका के लिए तैयार करते हैं,



जिससे उनकी भागीदारी केवल मतदान तक सीमित नहीं रहती।

चुनावी प्रक्रिया का संचालन भी दलों के माध्यम से होता है। वे उम्मीदवारों का चयन, प्रचार-रणनीति का निर्माण और मतदाताओं तक संदेश पहुँचाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार वे मतदाताओं को विकल्प उपलब्ध कराकर प्रतिस्पर्धात्मक लोकतंत्र को सशक्त बनाते हैं तथा जवाबदेही सुनिश्चित करते हैं।

बहुमत प्राप्त करने वाले दल या गठबंधन सरकार का गठन कर नीति-निर्माण, कानून निर्माण और प्रशासनिक दिशा-निर्देशन में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। साथ ही, विपक्षी दल सरकार की नीतियों की आलोचना कर पारदर्शिता और उत्तरदायित्व सुनिश्चित करते हैं।

इसके अतिरिक्त, राजनीतिक दल नेतृत्व विकास का प्रमुख मंच हैं। वे भावी नेताओं को संगठनात्मक कौशल, प्रशासनिक समझ और जनसेवा का अनुभव प्रदान करते हैं, जिससे लोकतंत्र की निरंतरता और प्रभावशीलता बनी रहती है।

भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका : भारत का लोकतंत्र बहुदलीय प्रणाली पर आधारित है, जहाँ राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दोनों प्रकार के दल सक्रिय हैं। इस व्यवस्था ने लोकतंत्र को प्रतिस्पर्धात्मक, समावेशी और उत्तरदायी स्वरूप प्रदान किया है। राजनीतिक दल केवल सत्ता-प्राप्ति के साधन नहीं रहे, बल्कि उन्होंने विविध सामाजिक हितों और पहचानों को प्रतिनिधित्व दिया है। भारतीय संदर्भ में राजनीतिक दलों को सामाजिक संरचना और राजनीतिक व्यवस्था के मध्य एक सेतु के रूप में देखा गया है (कोठारी, 2012, पृ. 203)।

भारत की बहु-सांस्कृतिक, बहु-जातीय और बहुभाषिक संरचना में दलों ने विभिन्न धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीय समूहों को राजनीतिक मंच उपलब्ध कराया। इससे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में व्यापक भागीदारी सुनिश्चित हुई और नीतियों में विविध दृष्टिकोणों का समावेश संभव हुआ।

राजनीतिक दलों ने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों और महिलाओं जैसे वंचित समूहों की सत्ता में भागीदारी को भी बढ़ावा दिया। आरक्षण और प्रतिनिधित्व संबंधी पहलों के समर्थन से इन वर्गों को नेतृत्व और प्रशासनिक पदों तक पहुँचने का अवसर मिला, जिससे

सामाजिक न्याय को बल मिला। संघीय ढाँचे को सुदृढ़ करने में भी दलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। क्षेत्रीय दलों के उदय ने राज्यों के मुद्दों को राष्ट्रीय विमर्श में स्थान दिलाया और केंद्र-राज्य संबंधों को अधिक संतुलित बनाया। साथ ही, चुनावी अभियान और स्थानीय संगठनात्मक गतिविधियों के माध्यम से दलों ने लोकतंत्र को जमीनी स्तर तक पहुँचाया।

इस प्रकार राजनीतिक दल भारतीय लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय, संघीय संतुलन और जनसक्रियता को सुनिश्चित कर उसे व्यवहारिक रूप से सशक्त बनाते हैं।

राजनीतिक दलों से जुड़ी प्रमुख चुनौतियाँ : राजनीतिक दल लोकतंत्र के प्रमुख स्तंभ हैं, किंतु उनकी कार्यप्रणाली और संगठनात्मक संरचना में विद्यमान कुछ गंभीर चुनौतियाँ लोकतांत्रिक शासन की गुणवत्ता को प्रभावित करती हैं। सबसे प्रमुख समस्या आंतरिक लोकतंत्र की कमी है। अनेक दलों में निर्णय-प्रक्रिया अत्यधिक केंद्रीकृत रहती है और नीतियाँ तथा उम्मीदवारों का चयन शीर्ष नेतृत्व तक सीमित होता है। इससे पारदर्शिता, जवाबदेही और कार्यकर्ताओं की सार्थक भागीदारी कमजोर होती है, जिससे असंतोष और अविश्वास बढ़ सकता है।

वंशवाद और परिवारवाद भी एक गंभीर चुनौती है। नेतृत्व का सीमित परिवारों तक सिमटना समान अवसर और योग्यता-आधारित चयन के लोकतांत्रिक सिद्धांत के विपरीत है। इससे नई पीढ़ी और योग्य कार्यकर्ताओं के लिए उभरने के अवसर कम हो जाते हैं तथा राजनीतिक प्रतिस्पर्धा प्रभावित होती है।

धनबल और बाहुबल का बढ़ता प्रभाव चुनावी प्रक्रिया को असमान बनाता है। अत्यधिक चुनावी खर्च और संसाधनों का केंद्रीकरण सामान्य नागरिकों की भागीदारी को सीमित करता है तथा नीति-निर्माण में आर्थिक हितों के प्रभाव की संभावना बढ़ाता है।

राजनीति का अपराधीकरण लोकतांत्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता को कमजोर करता है। इससे प्रशासनिक प्रक्रिया प्रभावित होती है और नैतिकता तथा पारदर्शिता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।



साथ ही, विचारधारात्मक पतन के कारण कई दल सत्ता-प्राप्ति को प्राथमिकता देते हुए अपने मूल सिद्धांतों से दूर हो जाते हैं, जिससे दीर्घकालिक नीतिगत दृष्टि कमजोर पड़ती है (सिंह, 2020, पृ. 156)

इन सभी चुनौतियों का समग्र प्रभाव लोकतंत्र की स्थिरता और गुणवत्ता पर पड़ता है। अतः राजनीतिक दलों के आंतरिक लोकतंत्रीकरण, पारदर्शिता, नैतिक नेतृत्व और जनोन्मुखी कार्यप्रणाली को सुदृढ़ करना लोकतंत्र की मजबूती के लिए आवश्यक है।

लोकतांत्रिक शासन की संरचना और कार्यप्रणाली में राजनीतिक दल केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। वे सत्ता प्राप्ति के साधन मात्र नहीं, बल्कि जनता और राज्य के बीच सेतु का कार्य करते हैं। दल जनमत को संगठित करते हैं, राजनीतिक सहभागिता को प्रोत्साहित करते हैं तथा नीति-निर्माण में जवाबदेही सुनिश्चित करते हैं। इस प्रकार वे लोकतंत्र को केवल चुनावों तक सीमित न रखकर उसे व्यवहारिक और सजीव बनाते हैं।

सकारात्मक प्रभाव : राजनीतिक दल शासन में उत्तरदायित्व और पारदर्शिता को बढ़ावा देते हैं। सत्तारूढ़ दल जनता के प्रति जवाबदेह होता है, जबकि विपक्षी दल उसकी नीतियों की समीक्षा और आलोचना करता है। वे जनहित के मुद्दों को पहचानकर नीतियाँ बनाते हैं और विभिन्न सामाजिक वर्गों को प्रतिनिधित्व देकर लोकतंत्र को समावेशी बनाते हैं। साथ ही, नागरिकों को चुनावों और नेतृत्व प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर प्रदान कर लोकतांत्रिक सहभागिता को सुदृढ़ करते हैं।

नकारात्मक प्रभाव : जब राजनीतिक दल लोकतांत्रिक मूल्यों और नैतिकता से विचलित होते हैं, तो वे शासन के लिए चुनौती बन जाते हैं। आंतरिक लोकतंत्र की कमी से निर्णय-प्रक्रिया सीमित नेतृत्व तक सिमट जाती है। धन और बाहुबल का प्रभाव चुनावी प्रतिस्पर्धा को असंतुलित करता है और आम नागरिक की भागीदारी घटाता है। विचारधारात्मक पतन के कारण सत्ता-प्राप्ति को प्राथमिकता मिलती है, जिससे दीर्घकालिक नीतिगत दृष्टि कमजोर पड़ती है।

अतः राजनीतिक दल लोकतंत्र में दोहरी भूमिका निभाते हैं कृपे उसे मजबूत भी कर सकते हैं और कमजोर भी।

लोकतांत्रिक शासन की स्थिरता और विश्वसनीयता इस बात पर निर्भर करती है कि दल आंतरिक लोकतंत्रीकरण, नैतिक नेतृत्व और जनहितकारी कार्यप्रणाली को कितना अपनाते हैं।

भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका अत्यंत केंद्रीय और निर्णायक है, किंतु उनकी कार्यप्रणाली में विद्यमान अनेक कमजोरियाँ लोकतांत्रिक मूल्यों, पारदर्शिता और शासन की प्रभावशीलता को प्रभावित करती हैं। इन चुनौतियों के समाधान हेतु सुधार की व्यापक संभावनाएँ उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम, दलों में आंतरिक लोकतंत्र को सुदृढ़ करना आवश्यक है। यदि सदस्यता की सक्रिय भागीदारी, नियमित आंतरिक चुनाव, पारदर्शी निर्णय-प्रक्रिया और नेतृत्व के विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया जाए, तो संगठनात्मक जवाबदेही मजबूत होगी और जमीनी कार्यकर्ताओं का विश्वास बढ़ेगा।

चुनावी वित्तपोषण में पारदर्शिता भी सुधार का महत्वपूर्ण आधार है। राजनीतिक चंदे और चुनावी खर्च की स्पष्ट जानकारी, नियमित लेखा-परीक्षण और वित्तीय अनुशासन से धन के असंतुलित प्रभाव को नियंत्रित किया जा सकता है, जिससे चुनावी प्रतिस्पर्धा अधिक निष्पक्ष और समान अवसर आधारित बनेगी। साथ ही, राजनीति के अपराधीकरण पर कठोर नियंत्रण, स्वच्छ छवि वाले उम्मीदवारों को प्राथमिकता और आचार संहिता के सख्त पालन से लोकतंत्र की नैतिक विश्वसनीयता सुदृढ़ होगी।

राजनीतिक दलों को अपनी विचारधारात्मक प्रतिबद्धता को पुनर्जीवित कर दीर्घकालिक और जनहितकारी नीतिगत दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, युवाओं और महिलाओं की सार्थक भागीदारी सुनिश्चित करने से दल अधिक समावेशी, प्रतिनिधिक और जनता-केंद्रित बन सकते हैं। इन सुधारों के माध्यम से राजनीतिक दल लोकतंत्र की स्थिरता, वैधता और पारदर्शिता को दीर्घकालिक रूप से सुदृढ़ कर सकते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) : लोकतांत्रिक शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका अत्यंत केंद्रीय और अनिवार्य है। वे लोकतंत्र के संस्थागत तथा व्यवहारिक ढांचे का आधार प्रदान करते हैं, क्योंकि उनके माध्यम से जनता की



आकांक्षाएँ, समस्याएँ और मांगें शासन तथा नीति-निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ती हैं। राजनीतिक दल नागरिकों को केवल मतदान तक सीमित नहीं रखते, बल्कि उन्हें शासन और निर्णय-निर्माण में सक्रिय सहभागिता का अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे लोकतंत्र को जीवंत, गतिशील और जनता-केंद्रित बनाते हैं।

राजनीतिक दलों की भूमिका बहुआयामी है। वे जनमत का निर्माण करते हैं, राजनीतिक चेतना को प्रोत्साहित करते हैं, चुनावी प्रक्रिया का संचालन करते हैं, सरकार के गठन में निर्णायक भूमिका निभाते हैं तथा विपक्ष के रूप में सत्ता पर निगरानी रखकर संतुलन बनाए रखते हैं। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक और बहुदलीय लोकतंत्र में उनकी यह भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि वे सामाजिक विविधता को राजनीतिक प्रतिनिधित्व में रूपांतरित करते हैं।

हालाँकि, आंतरिक लोकतंत्र की कमी, वंशवाद, धनबल, अपराधीकरण और विचारधारात्मक अस्पष्टता जैसी चुनौतियाँ लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकती हैं। अतः आवश्यक है कि राजनीतिक दल पारदर्शिता, नैतिक नेतृत्व और वैचारिक प्रतिबद्धता को सुदृढ़ करें। सारतः, लोकतंत्र की स्थिरता और प्रभावशीलता राजनीतिक दलों की उत्तरदायित्वपूर्ण और जनोन्मुखी कार्यप्रणाली पर निर्भर करती है।

संदर्भ सूची :

1. बर्क, ए. (2005). राजनीतिक दल और लोकतंत्र का सिद्धांत. नई दिल्ली : लोकवाणी प्रकाशन। पृ. 45
2. ड्यूवर्जर, मौरिस. (2010). राजनीतिक दलों की संगठनात्मक संरचना और निर्वाचन प्रणाली. लखनऊ : भारती प्रकाशन. पृ. 78
3. गुप्ता, एच. (2022). भारतीय लोकतंत्र में विपक्ष की भूमिका और

प्रभाव. जयपुर : सामाजिक विज्ञान विश्वविद्यालय।

4. भारत सरकार. (1950). सविधान का मूल दस्तावेज और अनुच्छेद 324. नई दिल्ली : भारत सरकार।
5. भारत सरकार. (2023). भारत में राजनीतिक दलों और चुनावी सुधार : रिपोर्ट. नई दिल्ली : नीति आयोग।
6. कोठारी, रजनी. (2012). भारतीय राजनीति और दल प्रणाली. नई दिल्ली : राष्ट्रीय प्रकाशन. पृ. 203
7. कुमार, आर. (2017). बहुदलीय प्रणाली और राजनीतिक दल. दिल्ली : प्रकाशन हाउस।
8. जाफ़लो, क्रिस्टोफ. (2011). हाशिए पर स्थित वर्ग और राजनीतिक दल. बेंगलुरु : सामाजिक अध्ययन प्रकाशन।
9. राजन, एम. (2015). लोकतंत्र और राजनीतिक दल : भारतीय संदर्भ. पुणे : मानविकी और सामाजिक विज्ञान संस्थान।
10. सिंह, वी. (2020). धन और बाहुबल का प्रभाव भारतीय राजनीति में. लखनऊ : प्रशासनिक अध्ययन प्रकाशन. पृ. 156
11. शर्मा, आर. (2021). विचारधारा और नैतिक नेतृत्व : राजनीतिक दलों की आवश्यकताएँ. दिल्ली : लोकतंत्र अध्ययन प्रकाशन।
12. शुम्पीटर, जो. (2008). लोकतंत्र का निर्वाचनीकरण : राजनीतिक दलों की भूमिका. मुंबई : सामाजिक विज्ञान प्रकाशन।
13. यादव, एस. (2018). भारतीय लोकतंत्र में दलों की भूमिका और चुनौतियाँ. मुंबई : सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका।
14. मेहता, प्रीति. (2019). राजनीतिक दल और नेतृत्व विकास. नई दिल्ली : नीति और प्रशासन प्रकाशन।
15. चुनाव आयोग भारत. (2024). लोकसभा चुनाव रिपोर्ट 2024. नई दिल्ली : चुनाव आयोग।





भारत के स्वाधीनता आंदोलन में हिन्दी संस्मरण की भूमिका



आरती वत्स

अतिथि व्याख्याता, हिन्दी
बी.एस.सी. (आई टी)
बी० डी० कॉलेज
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन मानव इतिहास की एक ऐसी महागाथा है जिसमें लाखों लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दी और असंख्य संघर्षों के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी। इस आंदोलन की सफलता में हिन्दी साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही क्योंकि साहित्य ने जनमानस को जागृत किया तथा राष्ट्रप्रेम की भावना को प्रज्वलित किया और स्वराज की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया। साहित्य की विभिन्न विधाओं में कविता उपन्यास तथा नाटक और निबंध के साथ साथ संस्मरण साहित्य का योगदान भी अद्भुत और अद्वितीय रहा। संस्मरण साहित्य वह विधा है जो व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित होती है और ऐतिहासिक घटनाओं को प्रत्यक्षदर्शी की नजर से प्रस्तुत करती है। यह आत्मकथा से अलग है क्योंकि इसमें लेखक अपने पूरे जीवन की कथा नहीं बताता है बल्कि विशिष्ट घटनाओं व्यक्तियों या कालखंडों की स्मृतियों को केंद्र में रखता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में संस्मरण साहित्य ने अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपस्थापित कर इतिहास को प्रामाणिकता प्रदान की भावी पीढ़ियों को प्रेरणा दी और आंदोलन की सूक्ष्म गतिविधियों और बारीकियों को उजागर किया।

संस्मरण साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह व्यक्तिगत स्मृति और सामूहिक स्मृति का संगम होता है। स्वाधीनता आंदोलन जैसे विशाल जनांदोलन में जहां करोड़ों लोग शामिल थे वहां व्यक्तिगत संस्मरणों ने आंदोलन की उन बारीकियों को सामने लाया जो आधिकारिक दस्तावेजों या इतिहास की किताबों में अनुपस्थित रहती हैं। ये संस्मरण केवल प्रमुख नेताओं जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस या मौलाना अबुल कलाम आजाद के ही नहीं बल्कि साधारण कार्यकर्ताओं, कैंदियों, महिलाओं और क्रांतिकारियों के भी हैं। इनमें जेल जीवन सत्याग्रह आंदोलन और असहयोग आंदोलन तथा क्रांतिकारी गतिविधियां और

व्यक्तिगत बलिदान का वर्णन मिलता है, जो आंदोलन की मानवीय गहराई को प्रकट करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जय तो संस्मरण साहित्य प्राथमिक स्रोत के रूप में कार्य करता है। इतिहासकार इनका उपयोग घटनाओं की पुष्टि तथा व्याख्या और बहुआयामी विश्लेषण के लिए करते हैं तार्किक रूप से देखें और विचार करें तो हालांकि संस्मरण साहित्य व्यक्तिपरक होते हैं फिर भी वे सामाजिक यथार्थ और वास्तविकता को प्रतिबिंबित करते हैं, क्योंकि स्मृतियां भावनाओं से जुड़ी होती हैं और आंदोलन की ऊर्जा और उसके विचार को समझने और विकसित करने में सहायक होती हैं।

स्वाधीनता आंदोलन में संस्मरण साहित्य का योगदान बहुत व्यापक और बहुआयामी रहा सबसे पहले यह जनजागरण का सशक्त माध्यम बना जब ब्रिटिश सरकार संसरशिप लगाती थी और प्रेस पर प्रतिबंध लगाती थी तब संस्मरणों के माध्यम से आंदोलनों की कहानियां गुप्त रूप से प्रसारित होती थीं और लोगों में उत्साह जगाती थीं। दूसरा यह आंदोलन की विविधता और एकता को मजबूत करता था क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों तथा विचारधाराओं और समुदायों के लोग अपने अनुभव साझा करते थे। जिससे आंदोलन की व्यापकता उभर कर सामने आती थी। तीसरा यह पोस्ट कॉलोनियल इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण स्रोत बना। क्योंकि इनमें ब्रिटिश दस्तावेजों से अलग भारतीय दृष्टिकोण मिलता है जो औपनिवेशिक इतिहास की एकतरफा व्याख्या को चुनौती देता है। चौथा महिलाओं दलितों और हाशिए के समूहों के संस्मरणों ने आंदोलन को समावेशी बनाया और सामाजिक



न्याय की मांग को मजबूत किया। पांचवां जेल जीवन के संस्मरणों ने कैदियों की पीड़ा एकता और प्रतिरोध को दर्शाया जो आंदोलन की दृढ़ता को प्रमाणित करता है।

महात्मा गांधी की रचना सत्य के साथ मेरे प्रयोग मूल रूप से आत्मकथात्मक है लेकिन इसमें स्वाधीनता आंदोलन के अनेक संस्मरणात्मक अंश हैं। गांधी जी ने नवजीवन में इसे धारावाहिक रूप में लिखा था। इसमें दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से लेकर भारत में असहयोग आंदोलन, नमक सत्याग्रह और भारत छोड़ो आंदोलन तक के अनुभवों का वर्णन किया गया है उदाहरण के लिए गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में रेलगाड़ी से धक्का दिए जाने की घटना का जिक्र किया, जो उनके अहिंसा के मार्ग की शुरुआत बनी यह संस्मरण केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि पूरे आंदोलन की सैद्धान्तिक तथा वैचारिक और दार्शनिक नींव को स्पष्ट करता है गांधी जी का मानना था कि 'व्यक्तिगत नैतिकता और राष्ट्रीय संघर्ष एक दूसरे से जुड़े हैं'¹ और यह विचार उनके संस्मरणों के माध्यम से बार बार उभर कर सामने आता है। गांधी जी के ये वर्णन तार्किक रूप से सिद्ध करते हैं कि अहिंसा केवल कमजोरों का हथियार नहीं बल्कि साहस और आत्मबल का प्रतीक है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन संस्मरणों ने सत्याग्रह की तकनीक तथा इसके विचार दर्शन को विश्व स्तर पर मान्यता दिलाई और स्वाधीनता आंदोलन को जन आंदोलन बनाने में योगदान दिया।

जवाहरलाल नेहरू की रचनाएं जैसे मेरी कहानी या टुवर्ड्स फ्रीडम और भारत की खोज जेल में लिखी गईं और इनमें संस्मरणात्मक शैली प्रमुख है। भारत की खोज में नेहरू जी ने भारतीय इतिहास की खोज के बहाने स्वाधीनता आंदोलन की घटनाओं का गहन विश्लेषण किया है वे लिखते हैं कि 'क्विट इंडिया आंदोलन के दौरान जेल में रहते हुए उन्होंने भारत की सांस्कृतिक एकता को गहराई से समझा'² नेहरू जी के संस्मरण वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करते हैं, क्योंकि वे उदारवादी और समाजवादी दोनों विचारधाराओं से प्रभावित थे उनका तार्किक विश्लेषण यह है कि 'स्वराज केवल राजनीतिक नहीं बल्कि आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक भी होना चाहिए'³ नेहरू जी ने जेल जीवन में लिखे पत्रों और संस्मरणों में आंदोलन की रणनीतियों पर बहुत व्यापक रूप में गम्भीर विचार किया और युवाओं को प्रेरित और प्रभावित

किया उनके वर्णन से पता चलता है कि जेल कैद आंदोलनकारियों के लिए विचारों को परिष्कृत करने का अवसर बन गई। इससे भारतीय जनता दिल से जेल का डर खत्म हो गया।

इसी तरह सुभाष चंद्र बोस की रचना द इंडियन स्ट्रगल संस्मरण और इतिहास का सुंदर मिश्रण है। बोस जी ने इसमें कांग्रेस के भीतर अपने मतभेद, फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना और आजाद हिंद फौज के गठन का विस्तृत वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि 'गांधी जी से मतभेद के बावजूद राष्ट्रहित सर्वोपरि था'⁴ यह संस्मरण क्रांतिकारी धारा की सैद्धान्तिक और वैचारिक तथा तार्किक व्याख्या करता है कि अहिंसा के साथ साथ सशस्त्र संघर्ष भी आवश्यक है। बोस जी के संस्मरणों ने युवाओं में सैन्य राष्ट्रवाद की भावना जगाई और वे आजाद हिंद फौज के माध्यम से आंदोलन को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ले गए। वैज्ञानिक रूप से इन संस्मरणों ने सिद्ध किया कि विभिन्न विचारधाराएं आंदोलन को मजबूत और ताकतवर बनाती हैं।

इसी क्रम में मौलाना अबुल कलाम आजाद की 'इंडिया विस फ्रीडम' एक महत्वपूर्ण संस्मरण है जिसमें वे कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में कैबिनेट मिशन योजना तथा विभाजन और गांधी जिन्ना वार्ताओं का प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं आजाद जी लिखते हैं कि 'विभाजन अनावश्यक था और कांग्रेस नेतृत्व की कुछ जल्दबाजी इसका कारण बनी'⁵ हालांकि यह संस्मरण विवादास्पद है लेकिन तार्किक रूप से मुस्लिम लीग की रणनीति और कांग्रेस की कमजोरियों को उजागर करता है। आजाद जी का विश्लेषण वैज्ञानिक है क्योंकि वे धार्मिक एकता पर जोर देते हैं और सांप्रदायिकता को राजनीतिक षड्यंत्र मानते हैं।

इस तरह उस समय के प्रमुख नेताओं के अलावा क्रांतिकारी संस्मरणों का योगदान भी उल्लेखनीय है। यशपाल की 'मेरी जेल डायरी' और 'सिंघावलोकन' जीवन में क्रांतिकारी गतिविधियों तथा जेल जीवन और मार्क्सवादी विचारों के विकास का वर्णन है। 'यशपाल भगत सिंह के साथी थे'⁶ और उनके संस्मरणों में क्रांतिकारी दल की आंतरिक चर्चाएं और बलिदान की भावना जीवंत हो उठती है। भगत सिंह की जेल नोटबुक में उनके विचार और पढ़ाई का जिक्र है जो क्रांतिकारी आंदोलन को वैचारिक और सैद्धान्तिक आधार



प्रदान करता है। भगत सिंह लिखते हैं कि 'क्रांति केवल हथियारों से नहीं विचारों से होती है' 7 ये संस्मरण युवाओं को सशस्त्र संघर्ष की प्रेरणा देते हैं।

वस्तुतः महिलाओं के संस्मरणों ने आंदोलन को लैंगिक समानता का आयाम दिया। इनमें सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, अरुणा आसफ अली और दुर्गा भाभी जैसे नाम प्रमुख हैं। विजयलक्ष्मी पंडित की 'प्रिजन डेज' में जेल जीवन का वर्णन है, जो महिलाओं की दृढ़ता दर्शाता है। अरुणा आसफ अली ने भूमिगत रहकर आंदोलन चलाया और उनके संस्मरणों में महिलाओं की भूमिका उभर कर सामने आती है। इन संस्मरणों से पता चलता है कि महिलाएं केवल सहयोगी नहीं बल्कि नेतृत्वकर्ता भी थीं।

एतदर्थ जेल संस्मरण स्वाधीनता सेनानियों के वैचारिक एवं सैद्धान्तिक संघर्ष एवं अनुभवों के आदान-प्रदान का एक बड़ा हिस्सा हैं, नेहरू गांधी बोस और कई अन्य ने जेल में रहकर लिखा। जेल जीवन में कैदियों ने एक दूसरे से विचार साझा किए किताबें पढ़ीं और आंदोलन की रणनीति बनाई। ये संस्मरण जेल को संघर्ष का केंद्र बनाते हैं और कैदियों की वैचारिक एवं मानसिक मजबूती को दर्शाते हैं।

वैज्ञानिक विवेचन और विश्लेषण में संस्मरणों की सीमाएं भी हैं वे व्यक्तिपरक होते हैं और उनमें पूर्वाग्रह हो सकते हैं जैसे आजाद जी के संस्मरण में नेहरू पटेल पर आरोप हैं लेकिन तार्किक और वैचारिक रूप से ये बहुलता प्रदान करते हैं जो इतिहास को एकांगी और एकतरफा होने से बचाते हैं आधुनिक इतिहासकार जैसे बिपन चंद्रा तथा रामचंद्र गुहा और अन्य इनको बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं।

अतः संस्मरण साहित्य ने स्वाधीनता आंदोलन को समन्वयवादी भागीदारी एवं साझा विमर्श का मानवीय चेहरा दिया यह घटनाओं का ही नहीं अपितु विचारों और गतिविधियों तथा भावनाओं का दस्तावेज है। जेल संस्मरणों में पीड़ा, हास्य और एकता का वर्णन है। "क्रांतिकारी संस्मरणों में त्याग और बलिदान प्रमुख है तथा महिलाओं के संस्मरणों में समानता की लड़ाई अधिक दिखाई पड़ती है।" 8 स्वतंत्रता सेनानियों के संस्मरण के अध्ययन और अनुशीलन से उस समय देशवासियों को प्रेरणा मिली और अब स्वाधीनता को बचाने की प्रेरणा मिलती है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि संस्मरण साहित्य ने स्वाधीनता आंदोलन को प्रामाणिक तथा वैचारिक तथा भावनात्मक स्तर पर प्रेरणादायी और बहुआयामी बनाया। यह आज भी प्रासंगिक है क्योंकि यह याद दिलाता है कि स्वतंत्रता व्यक्तिगत और सामूहिक संघर्षों का फल है। भविष्य में उनपर शोध और गहन विवेचन और विश्लेषण आवश्यक है ताकि स्वाधीनता आंदोलन की पूरी तस्वीर सामने आए।

इस विषय पर विस्तार से विचार किया जाय तो संस्मरण साहित्य की भूमिका को कई स्तरों पर समझा जा सकता है। सबसे पहले ऐतिहासिक स्तर पर ये इतिहास के प्राथमिक स्रोत हैं जो घटनाओं के प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं। उदाहरणस्वरूप गांधी जी के संस्मरणों में चंपारण सत्याग्रह का वर्णन है, जहां उन्होंने किसानों की स्थिति को देखकर आंदोलन शुरू किया। यह वर्णन बताता है कि कोई भी आंदोलन कैसे स्थानीय मुद्दों से राष्ट्रीय बनता है। इसी तरह नेहरू जी के संस्मरणों में असहयोग आंदोलन की चर्चा है। जहां "उन्होंने युवाओं की भूमिका पर जोर दिया।" 9 इससे युवा वर्ग बड़े पैमाने पर प्रेरित और प्रभावित हुए। अभी भी प्रेरणा मिलती है।

वस्तुतः दूसरे स्तर पर वैचारिक संस्मरण साहित्य ने विभिन्न विचारधाराओं को सामने लाया। गांधीवादी अहिंसा और नेहरूवादी समाजवाद एवं बोस की क्रांतिकारी विचारधारा और आजाद की सांप्रदायिक सद्भावना ये सभी संस्मरणों से उभर कर आते हैं जो आज भी भविष्य निर्माण के लिए मार्गदर्शन करते हैं। तार्किक रूप से यह वैचारिक विविधता आंदोलन की ताकत थी, क्योंकि इससे ब्रिटिश शासन को एकसाथ कई मोर्चों पर चुनौती मिली थी।

इसी तरह तीसरे स्तर पर सामाजिक और सांस्कृतिक संस्मरणों ने जाति लिंग और वर्ग की असमानताओं को उजागर किया दलित और महिलाओं के संस्मरण कम हैं, लेकिन उपलब्ध संस्मरण में जैसे कुछ महिला स्वाधीनता सेनानियों के वर्णन आंदोलन को समावेशी और समन्वयकारी बनाते हैं।

फिर चौथे स्तर पर सांस्कृतिक संस्मरणों ने स्वदेशी वस्तुओं और खादी को बढ़ावा दिया इसलिए गांधी जी के वर्णन में चरखा और खादी का जिक्र बार बार आता है जो आर्थिक स्वावलंबन का प्रतीक बना।



पांचवें स्तर पर मनोवैज्ञानिक संस्मरणों ने स्वाधीनता आंदोलन के कैदियों की मानसिक अवस्था और स्वास्थ्य की स्थिति दर्शाई। जेल में लिखे गए ये संस्मरण बताते हैं कि कैसे कैदी स्वाधीनता आंदोलन के निराशा और हताशा से ऊपर उठकर विचार विमर्श करते थे। नेहरू जी ने जेल में इतिहास लिखा और बोस ने व्यापक रणनीति बनाई।

इस प्रकार संस्मरण साहित्य ने स्वाधीनता आंदोलन को धारदार और जीवंत बनाया यदि हम इनका और अधिक विस्तृत अध्ययन करें तो पाएंगे कि प्रत्येक संस्मरण एक अलग आयाम जोड़ता है। उदाहरण के लिए यशपाल के संस्मरणों में क्रांतिकारी दल की आंतरिक बहसें हैं। जहां भगत सिंह वैज्ञानिक समाजवाद की बात करते हैं जो यह बताता है कि क्रांतिकारी केवल बम और बंदूक नहीं बल्कि एक सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक विचार भी थे।

इसी तरह महिलाओं के संस्मरणों में घर और आंदोलन के बीच वैचारिक समन्वय और खींचतान तथा संघर्ष दिखता है। कई महिलाएं घर छोड़कर आईं और जेल गईं। उनके वर्णन से पता चलता है कि स्वाधीनता आंदोलन ने महिलाओं को नई पहचान दी और नये व्यक्तित्व का निर्माण किया।

जेल संस्मरणों में एक सामान्य थीम है आपसी समन्वय और एकता। विभिन्न विचारों के लोग जेल में एक साथ रहते थे और विचार विमर्श करते थे। यह वैचारिक और सांगठनिक एकता बाहर आंदोलन को मजबूत बनाती थी।

अतः वैज्ञानिक रूप से संस्मरणों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पाएंगे कि गांधी और बोस के संस्मरणों में रणनीतिगत मतभेद हैं लेकिन दोनों ही राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानते हैं। यही तार्किक और वैचारिक सामूहिक समझ तथा संतुलन आंदोलन की सफलता का महत्वपूर्ण कारण बना।

एतदर्थ आज के परिप्रेक्ष्य में भी ये संस्मरण प्रासंगिक हैं क्योंकि वे लोकतंत्र एकता और न्याय की शिक्षा देते हैं युवा पीढ़ी इनको पढ़कर समझ सकती है कि स्वतंत्रता आसानी से नहीं मिली बल्कि कठिन संघर्ष से मिली है। इसलिए इसका संरक्षण और संवर्धन हमारा प्रारंभिक कर्तव्य है।

अंत में कह सकते हैं कि संस्मरण साहित्य स्वाधीनता आंदोलन का जीवंत और प्रमाणिक दस्तावेज है जो इतिहास को भावनाओं तथा विचारों से जोड़ता है और हमें सिखाता है कि संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता है। संघर्ष ही बेहतर जीवन का रास्ता तय करता है।

संदर्भ सूची :

1. गांधी मोहनदास करमचंद, सत्य के साथ मेरे प्रयोग, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद, पृष्ठ- 137
2. नेहरू जवाहरलाल मेरी कहानी, राजपाल एंड संस दिल्ली, पृष्ठ- 149
3. नेहरू जवाहरलाल भारत की खोज, राजपाल एंड संस दिल्ली, पृष्ठ- 173
4. बोस सुभाष चंद्र, द इंडियन स्ट्रगल, थाकर एंड कंपनी बॉम्बे, पृष्ठ- 94
5. आजाद अबुल कलाम, इंडिया विंस फ्रीडम, ओरिएंट लॉन्गमैन नई दिल्ली, पृष्ठ- 91
6. यशपाल, मेरी जेल डायरी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ- 139
7. चंद्रा बिपन, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ- 123
8. गुहा रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, पेंगुइन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 141
9. पंडित विजयलक्ष्मी, प्रिजन डेज, सिग्नेट प्रेस, प्रकाशन, पृष्ठ- 102



उत्तर-आधुनिक समाज की छवियाँ : दीवार में एक खिड़की रहती थी का समाजशास्त्रीय अध्ययन



डॉ. अमित कुमार

सहायक प्राध्यापक

हिंदी विभाग

बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

सारांश : विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास दीवार में एक खिड़की रहती थी आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों को गहराई से उद्घाटित करता है। यह रचना दीवार और खिड़की जैसे प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक असमानता, मध्यवर्गीय जीवन की जटिलताओं और मानवीय आकांक्षाओं को रूपायित करती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उपन्यास का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि कैसे भौतिक संरचनाएँ (दीवार) और संभावनाओं के द्वार (खिड़की) सामाजिक यथार्थ और मानसिक संघर्षों का रूपक बन जाते हैं। इस आलेख में उपन्यास को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पढ़ते हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता, सामूहिकता और उत्तर-आधुनिक समाज की छवियों का विश्लेषण किया गया है।

कुंजी शब्द (Keywords) : विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, समाजशास्त्रीय अध्ययन, सामाजिक यथार्थ, मध्यवर्ग, व्यक्ति, समाज, उपन्यास

“कितने लोगों / पहाड़ों, जंगलों, पेड़ों, वनस्पतियों को तितलियों, पक्षियों, जीव-जन्तु / समुद्र और नक्षत्रों को / मैं नहीं जानता धरती को / मुझे यह भी नहीं मालूम कि मैं कितनों को नहीं जानता / सब आत्मीय है सब जान लिए जाएंगे मनुष्यों से / मैं मनुष्य को जानता हूँ।”

गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में समान पहचान बना चुके विनोदकुमार शुक्ल का सृजन-संसार एक आम आदमी के जीवन में घटित मामूली, नगण्य और प्रायः नजर न आनेवाले ब्यौरों से निर्मित होता है, जिन्हें पढ़ना जीवन और अनुभवों से एक नई तरह का साक्षात्कार करना है। उनके काव्य-संसार के सन्दर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव की धारणा रही है, “यह एक ऐसे पर्यवसुक कवि की कविताएँ हैं जो प्रकृति और आसपास की असंख्य ध्वनियों को सुनता है और अपने अनुभव को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा से अधिक मनुष्य ध्वनि पर

भरोसा करता है। मानवीय आत्मा को सुनने की लगातार कोशिश ही विनोदकुमार शुक्ल की कविता को हमारे कठिन समय के लिए, हादसों से भरे कठिन समय के लिए अधिक सार्थक, जरूरी और विश्वसनीय बनाती हैं।”² वस्तुतः मानवीय आत्मा को सुनने की यही लगातार कोशिश विनोदकुमार शुक्ल के कथा-साहित्य में भी परिलक्षित होती है, जिनमें अभिव्यक्त हुआ व्यक्ति समाज का कोई फार्मूलाबद्ध नमूना चरित्र न होकर एक जीता-जागता आम इन्सान है जो अपनी साधारण क्रिया-अन्तक्रिया से हर फार्मूले को तोड़ता चलता है। यही कारण है कि विनोदकुमार शुक्ल का कथा-साहित्य भी उनके काव्य संसार के भाँति ही अपनी एक अलग पहचान कायम करता है, जो जितना मौलिक है, उतना ही अपनी संवेदना और शिल्प की नवीनता के कारण विशिष्ट भी। यही बात उनके तृतीय उपन्यास ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, जो अपनी संवेदना और शिल्प की विशिष्टता के कारण जितना चर्चित हुआ है, उतना ही आलोचना एवं बहसों का मुद्दा भी बना है।

हरिशंकर परसाई ने अपने एक व्यंग्यात्मक लेख में लिखा है, “साहित्य में जब सन्नाटा आता है तब कुत्ते भौंककर उसे दूर करते हैं या साहित्य की बस्ती में कोई अजनबी घुसता है तब भी कुत्ते भौंकते हैं। साहित्य में दो तरह के लोग होते हैं- रचना करनेवाले और भौंकनेवाले। सत्साहित्य के लिए दोनों जरूरी हैं। रचनाकारों को भौंकनेवालों की जरूरत होती है, वरना स्तर गिर जाएगा।”³ जाहिर है कि यहाँ परसाई का



इशारा हिन्दी साहित्य के उस आलोचनात्मक परिदृश्य की ओर है जहाँ परम्परागत ढाँचों का अतिक्रमण करनेवाली कोई भी कृति आलोचना-जगत का सन्नाटा मिटाने हेतु बहसों की एक लम्बी खुराक दे जाती है। हालाँकि, यह केवल हिन्दी साहित्य-जगत की ही बात नहीं है, वरन् यह सम्पूर्ण आलोचना जगत की ही दास्तान रही है, चाहे वह राष्ट्र की सीमा-पार का आलोचनात्मक परिदृश्य क्यों न हो। ध्यातव्य है, जब आज से लगभग तीस वर्ष पहले कोलम्बिया के उपन्यासकार ग्रेब्रियल गार्सिया मार्क्वेस को उनके उपन्यास 'एकान्त के सौ वर्ष' (1961) पर नोबेल पुरस्कार मिला था तो उसके अद्भुत शिल्प के सन्दर्भ में समस्त दुनिया के लेखकों व बुद्धिजीवियों की कोई न कोई प्रतिक्रिया सामने आई थी। साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है, जब हिन्दी आलोचना जगत में आज भी प्रस्तुत उपन्यास के अद्भुत कथ्य एवं शिल्प को लेकर बहसें जारी हैं।

प्रस्तुत उपन्यास के कथ्य एवं शिल्प के सन्दर्भ में सर्वाधिक बहस 'कथाक्रम 98' की संगोष्ठी में हुई, जहाँ अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रस्तुत उपन्यास को सामाजिक समस्याओं से पलायन करनेवाला घोषित किया। परन्तु, सबसे तीखी प्रतिक्रियाएँ दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, वीरेन्द्र यादव और संजीव जैसे कथाकार आलोचकों की ओर से आईं। यथा दूधनाथ सिंह ने आरोप लगाया कि, "विनोदकुमार शुक्ल महज भाषा का खेल पैदा करते हैं। जहाँ नमक के लिए स्त्रियों को बेच दिया जाता है वहाँ विनोदकुमार शुक्ल प्रकृति और घर के बीच खिड़की खोल रहे हैं। भाषा के साथ खिलवाड़ और आनन्दलोक का चित्रण करने में व्यस्त हैं। मार्क्स इस तरह के आनन्द चित्रण को समाज का थूक कहा करते थे।"⁴ दूसरी ओर रवीन्द्र कालिया ने उपन्यास के कथ्य पर आपत्ति प्रकट करते हुए कहा कि, "जहाँ आलू-प्याज की आकाश छूती कीमते हों, माफिया राज हो, औरत का बलात्कार हो, उसे जलाया जाना हो, वहाँ दीवार में खिड़की बनाने से कैसे काम चलेगा।"⁵ पुनः संजीव ने रोषवश जैसे विनोदकुमार शुक्ल को हिदायत ही दे डाली, "खिड़की खोलने की बजाय घर का फाटक खोलिए और संघर्ष में उलझे आदमी के साथ शामिल हो जाइए। जब आम आदमी संघर्ष में लगा हो

तो आप मध्यवर्गीय प्रेमकथाएँ लिखेंगे। आपके लिखे को कोई नहीं पढ़ेगा।"⁶

यह प्रस्तुत उपन्यास की आलोचना का एक परिदृश्य था। अब विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रस्तुत उपन्यास के कुछ अन्य समीक्षात्मक पहलुओं से भी अवगत हो लिया जाए। 'हंस' के अगस्त 1998 के अंक में प्रकाशित राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकीय में इस उपन्यास के सन्दर्भ में लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय धमाचौकड़ी के बीच 'खिड़की' को एक स्वप्निल-विश्रांति (रिसॉर्ट) का नाम दिया जा सकता है।"⁷ 'मेरी-तेरी उसकी बात', 'एक सदी' तिलस्म से कठघरे तक' दूसरी ओर 'हंस' में ही प्रकाशित एक अन्य समीक्षा में रवीन्द्र त्रिपाठी का प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में मूलभूत विचार यह रहा है कि "दीवार में एक खिड़की रहती थी" एक घरेलू प्रेमाख्यान है। एक ऐसा प्रेमाख्यान जो अपने मिजाज में ख़ाँटी देशी यानी भारतीय है।"⁸ एक और समीक्षक तरूण कुमार के अनुसार, "पूरा उपन्यास ऐसी फन्तासी है, जो जीवन-जगत से खोई लय की पुनः प्राप्ति की आकाँक्षा से उद्भूत है।"⁹ वस्तुतः अभी तक उपन्यास की जितनी भी आलोचनाएँ हुई हैं, उनमें इसे मुख्यतः एक 'प्रेमाख्यान', 'रहस्यलोक', 'फन्तासी', 'आनन्दलोक' आदि की परिकल्पना में ही सीमित कर देखा गया है। वस्तुतः ऐसी आलोचना 'नींबू निचोड़ू' या 'बखिया उधेड़' आलोचना ही अधिक ठहरती है। इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय की एक मान्यता का स्मरण हो आता है, "साहित्य की व्याख्या को रहस्यमय केवल वे ही नहीं बनाते जो अनन्त असीम, काल, नियति आदि के सहारे साहित्य का महत्त्व समझाते हैं। जो लोग संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र की प्रत्येक घटना, क्रिया और वस्तु को किसी अदृश्य साजिश का परिणाम घोषित करते हैं वे भी आलोचना में रहस्यवाद फैलाते हैं।"¹⁰ इसी वक्तव्य को दूसरे ढंग से यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी कृति या आन्दोलन में 'रहस्यवाद', 'आनन्दलोक' या 'पलायन' ढूँढने के पीछे भी एक साजिश होती है जो कृति या आन्दोलन के सामाजिक अस्तित्व को नकारने के लिए व्यवहार में आती है। ध्यातव्य है, छायावाद को भी बहुत वर्षों तक 'रहस्यवाद' या 'सामाजिक समस्याओं से पलायन' के अर्थ में ही देखा गया। फलतः वर्षों तक तात्कालीन परिवेश में कुठित समाज के आत्म-प्रसार की भावना की उपेक्षा हुई। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के



साथ भी ऐसी ही आलोचनात्मक धारणायें जुड़ी हुई आई थीं। इस सन्दर्भ में एक और बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब हम किसी उपन्यास को 'रहस्यलोक' कहते हैं। तो प्रायः हम उस यथार्थवाद की सीमा से बाहर रखना चाहते हैं। यहाँ हम नोबेल पुरस्कार विजेता मार्केस का यह कथन विस्मरित कर जाते हैं, "उपन्यासों में एक भी ऐसा वाक्य नहीं है, जो यथार्थ पर आधारित न हो। लेकिन उपन्यास में यथार्थ सरल-सीधे ढंग से नहीं आता। उपन्यास में जो यथार्थ होता है वह दैनिक जीवन के यथार्थ से जुड़ा होकर भी उससे भिन्न होता है। उपन्यास यथार्थ का कलात्मक विपर्यय होता है।"¹¹ इसी आधार पर फ़ैन्टेसी भी एक कलात्मक विपर्यय होता है, जो यथार्थ निरूपण का दूसरा रूप होता है। अतएव रहस्यलोक या आनन्दलोक की परिकल्पना के पीछे भी एक विशेष ऐतिहासिक सन्दर्भ एवं सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं, द्वन्द्वों एवं सम्भावनाओं की भी एक पूरी शृंखला होती है। यहाँ तक की साहित्यिक कल्पना का भी समाजशास्त्रीय कल्पना से गहन सम्बन्ध होता है। सी. राइट मिल्स के अनुसार समाजशास्त्रीय कल्पना के पीछे समाज में व्यक्ति की सामाजिक और ऐतिहासिक अर्थवत्ता की खोज की भावना काम करती है। और साहित्यिक कल्पना के सामाजिक अभिप्राय की खोज भी साहित्य के समाजशास्त्र का विषय है। परन्तु दुर्भाग्य से बहुतों ने 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' को समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए उपयुक्त कृति माना ही नहीं और जिन कतिपय आलोचकों ने प्रस्तुत उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन की सम्भावना देखी भी, तो प्रायः वे उक्त सम्भावना को सार्थक विकास नहीं दे पाए। अतएव प्रस्तुत उपन्यास के सार्थक मूल्यांकन हेतु इसका गहन समाजशास्त्रीय अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

मिशेल जेराफा की मान्यता है, "उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है।"¹² अतएव साहित्य के समाजशास्त्रियों के मध्य उपन्यास ही अधिक लोकप्रिय विधा है क्योंकि वहाँ न तो 'कविता की आत्मपरकता की फिसलन' होती है और न ही 'नाटक के यथार्थ का मायालोक'। अपने समय और समाज के निरीक्षण, परीक्षण और अन्वेषण की आधुनिक दृष्टि का एक रूप समाजशास्त्र में मिलता है तो दूसरा उपन्यास में। परन्तु अधिकांशतः उपन्यासों का जिस प्रकार समाजशास्त्रीय

अध्ययन किया जाता है, वह या तो ऊपरी तौर पर ऐतिहासिक विहंगावलोकन होता है या सतही समाजशास्त्रीय अध्ययन, जहाँ साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की साधारण चर्चा कर चुप्पी साध ली जाती है। अतएव प्रायः वहाँ ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक विवेचना के मध्य समन्वय का अभाव देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखा जाना चाहिए। एक तो, वह किन स्रोतों से उद्गत होता है, अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ है। दूसरे, उसका कलात्मक प्रभाव क्या है, और तीसरे, उसकी अन्तःप्रकृति, रूप-रचना कैसी है। इस तीसरे प्रश्न को बिना पहले प्रश्न से मिलाए, हम दूसरे सवाल का जवाब ही नहीं दे सकते।"¹³ इस कथन में समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति की तीन अवस्थाओं की ओर संकेत है। ये अवस्थाएँ हैं साहित्य के सामाजिक उद्गम, उसकी कलात्मक एकता और रूप-रचना का विवेचन। अतएव इन तीनों अवस्थाओं के आलोक में 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का अध्ययन करना उचित होगा, जहाँ लेखक का व्यक्तित्व यथार्थ प्रस्तुत करने की उसकी पद्धति, उसके साहित्य के मूल स्रोत, उसकी क्षमताओं के मूल उद्गम एवं सीमाओं समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश एवं कृति का सामाजिक अस्तित्व निर्धारण करने की प्रक्रिया भी स्वतः जुड़ जाती है।

सर्वप्रथम प्रस्तुत उपन्यास के सृजन काल के सामाजिक-आर्थिक एवं साहित्यिक परिवेश पर विचार किया जाए। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास जून 1994 से जून 1996 के मध्य लिखा गया है, जब विनोदकुमार शुक्ल निराला सृजनपीठ, भोपाल में अतिथि साहित्यकार थे। पुनः यह उपन्यास वाणी प्रकाशन से सन् 1997 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के सृजन-काल के परिवेश पर नजर डालें तो उस समय शताब्दी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में अधिक उदारीकरण की प्रक्रिया से पनपे उपभोक्तावाद का संक्रमण जोरों पर था। इस उपभोक्तावादी समाज में पनपी नयी बाजार व्यवस्था ने सबसे अधिक भारतीय मध्यवर्ग को ही आकर्षित किया और बाजार से अपने अस्तित्व की रक्षा करने और आधुनिक दिखने की एक अन्धी दौड़ शुरू हुई। साहित्य जगत



में भी इस दौड़ की आहटें साफ सुनाई पड़ रही थी। 'इंडिया टूडे' के साहित्य वार्षिकी 1995 के अंक में कुमार अम्बुज ने इस दौड़ को इस प्रकार रेखांकित किया है-

"मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम कि मैं भीड़ के साथ दौड़ रहा हूँ

या भीड़ मेरे साथ

अकेले पीछे छूट जाने के भय से दौड़ रहा हूँ

या आगे निकल जाने के उन्माद में

मुझे नहीं पता मैं अपने पड़ोसी को परास्त करना चाहता हूँ या

बचपन के किसी मित्र को

या आगे निकल जाना चाहता हूँ किसी अनजान आदमी से

में दौड़ रहा हूँ बिना यह जाने कि कौन हैं मेरा प्रतिद्वन्दी"¹⁴

इस उपभोक्तावादी समाज के खतरे हिन्दी कहानियों में भी महसूस किए जा रहे थे। जहाँ संजय खाती कृत 'पिन्टी का साबुन', संजय कुमार सिंह का 'टी.वी. में चम्पा', पंकज विष्ट कृत 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' या पुनः उदयप्रकाश कृत 'पालगोमरा का स्कूटर' जैसी कहानियाँ लिखी जा रही थीं। इस उपभोक्तावादी समाज ने सहज मानवी सम्बन्धों को किस प्रकार प्रभावित किया है, इसकी एक झलक 'पालगोमरा का स्कूटर' कहानी के इस अंश में देखी जा सकती है, "बाजार अब सभी चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गाँव, कस्बे बड़ी तेजी से बाजार में बदल रहे थे। हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकालकर भगा रहा था कि वह बाजार में कहीं फिट नहीं बैठ रहा था। पत्नियाँ अपने पतियों को छोड़-छोड़कर भाग रही थीं क्योंकि बाजार में उनके पतियों की कोई खास माँग नहीं थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान चकाचक युग आ गया था"¹⁵ जहाँ बाजार के बदले वर्चस्व से, जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति का निजी सम्बन्ध भी उपयोगितावादी मानसिकता से संचालित होने लगा, वहीं सक्रिय आनन्दोपभोग का विचार उपभोक्ताओं पर भावी होने लगा। मध्यवर्गीय मानसिकता पर यह आनन्दोपभोग किस प्रकार हावी होने लगा। इसका जिक्र करते हुए जयप्रकाश ने अपने एक आलेख में लिखा है, "सामूहिक उपभोग में निरन्तर वृद्धि के कारण बाजार की शक्तियों को फलने-फूलने का पूरा मौका मिला। ये शक्तियाँ इतनी प्रबल और आक्रामक सिद्ध हुई कि मध्यवर्ग के जीवन और उसकी इच्छाओं को नियंत्रित, परिचालित करने लगीं। 'आनन्दवाद' (प्लेजर प्रिन्सिपल) अब

उसके निकट निरपेक्ष उत्पादन और अनियंत्रित उपभोग की नई नैतिकता बन गया।"¹⁶ परन्तु, इस बाजार में 'आनन्दोपभोग' की इस मानसिकता का तुष्टीकरण उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है, जिनके पास यह क्षमता है। परन्तु इस भारतवर्ष में निम्नवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की एक बड़ी आबादी ऐसी भी है जिनके सीमित आर्थिक दायरे उन्हें इस बाजारु दोड़ में शामिल होने से रोकते हैं। ध्यातव्य है, मध्यवर्ग को मार्क्स ने 'पेटीबुर्जुआ वर्ग' कहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो बर्जुआ वर्ग से मिलने वाली सुविधा एवं अपने 'स्वत्व' की रक्षा की दुविधा के मध्य फँसे रहते हैं। परन्तु, निम्न मध्यवर्ग की स्थिति इससे भी बदतर है। न्यून आमदनी होने के कारण इस वर्ग का जीवन-घुटन, निराशा, लाचारी तथा समझौतों का ताना-बाना बुनता आगे बढ़ता है। जर्जर परम्परागत नैतिकता से जुड़े रहकर यह वर्ग अन्दर-ही-अन्दर खोखला होने के लिए विवश है और न ही यह वर्ग निम्न वर्ग की भाँति संघर्ष में सीधे शामिल होने की मानसिकता रखता है। क्षमा गोस्वामी लिखती हैं, "...यह दबा-घुटा वर्ग, नगरों की तंग सीली, बदबूदार अन्धेर गलियों में रहता हुआ ऊर्ध्वमुखी कहलायी जानेवाली नगरीय सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु विडम्बना यह है कि इस वर्ग के लिए 'ऊर्ध्वमुखी' शब्द का न तो कोई भाव-बोध है और न कोई महत्त्व। यहाँ मानव की स्थिति जहाँ से आरम्भ होती है, वहीं आकर समाप्त हो जाती है। थक हारकर अपनी स्थिति से समझौता ही इस वर्ग की नियति है।"¹⁷ जाहिर है, जहाँ रोटी, कपड़ा और मकान की मूलभूत समस्याएँ सामने हों, वैसी संघर्षशील जिन्दगी में खुद को जिन्दा रखने के लिए ऐसे वर्ग का 'प्लेजर प्रिन्सिपल' (आनन्दोपभोग का सिद्धान्त) कुछ और ही होता है। इस 'प्लेजर प्रिन्सिपल' को विनोदकुमार शुक्ल कृत 'नौकर की कमीज' उपन्यास के नायक सन्तू बाबू इस प्रकार प्रकट करते हैं, "मेरा वेतन एक कटघरा था जिसे तोड़ना मेरे बस में नहीं था। यह कटघरा मुझसे कमीज की तरह फिट था। और मैं अपनी पूरी ताकत से कमजोर होने की हद क अपना वेतन पा रहा था। इस कटघरे में सुराख कर मैं सिनेमा देखता था या स्वप्न। ... फिल्में और लोगों की तरह मुझमें भी जीने का विश्वास बढ़ाती थी। यह जीना यथास्थिति में जीने का था। रिक्शेवाले से एक करोड़पति की लड़की की शादी हो सकी थी तो रिक्शावाला इसी सन्तोष से रिक्शा चलाता रहेगा। अमीर लड़की से गरीब लड़के के प्रेम को देखकर गरीबों को वैसा ही सुख मिलता था जो अपनी चारपाई या जमीन पर



सोने से ज्यादा, बढ़िया गद्देदार पलंग के नीचे झाड़ू लगाने में नौकर को मिलता होगा।”¹⁸ सन्तू बाबू भारतीय व्यवस्था की विडम्बना में स्वयं को जिन्दा रखने के लिए तमाम वर्जनाओं में ‘सुराख’ कर अपने लिए खुशियाँ तलाशने के जिस रास्ते की ओर संकेत कर रहे हैं, वही ‘सुराख’ यहाँ खिड़की बनकर प्रेममयी संसार के लिए रास्ता खोलता है। विनोदकुमार शुक्ल की एक कविता ‘पुराना जंग लगा ताला कहीं दिखता है’ का एक अंश है, “जंग लगा ताला कहीं दिखता है दस बाई-दस फुट का संसार अन्दर एक अनंत बीतता है बाहर एक अनंत बीतता है।”¹⁹

वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास उसी ‘दस बाई दस फुट के संसार के अन्दर के अनंत’ का साक्षात्कार कराता है। इस अन्दर के संसार में गृहस्थी के कुछ गिने-चुने समान और एक चारपाई के सिवा और कुछ नहीं है। महज आठ सौ रुपये वेतन पानेवाले एक शिक्षक के समक्ष घर खर्च के सिवा पारिवारिक जिम्मेदारियों का भी बोझ है। माता-पिता और छोटे भाई की सारी जरूरतें भी इसी गृहस्थी के संचालक रघुवर प्रसाद से ही पूरी होती हैं। ऐसे में एक असहाय पुत्र रघुवर प्रसाद की मनोदशा इन शब्दों में परिलक्षित होती है, “उसका वेतन अच्छा होता तो वह बताता कि एक पुत्र अपने पिता की किस तरह परवाह करता है पिता की छोटी-छोटी अपेक्षाओं के सामने वह असहाय हो जाता था कि वह अच्छा पुत्र नहीं समझा जा रहा है”²⁰ जब वेतन कमीज की तरह फिट हो जो अपने अन्तरंग क्षणों में हर्ष के कुछ क्षण इकट्ठा करने हेतु ‘सुराख’ बनाने ही पड़ते हैं, ‘खिड़कियाँ’ खोलनी ही पड़ती है। परन्तु, संजीव की शिकायत है कि ‘खिड़की’ खोलने के बजाय हम सीधे ‘फाटक’ खोलकर संघर्ष में क्यों नहीं शामिल हो जाते? पर प्रश्न उठता है, जब आपके घर का फाटक सामाजिक-आर्थिक विषमता के गहरे नाले के सामने खुलता हो और उस नाले को अकेले पाटने की आशा नहीं दिखती हो तो क्या एक आम आदमी की जिजीविषा यथास्थिति में स्वतंत्रता के कुछ हवा के झोंके पाने हेतु ‘खिड़की खोलने के लिए विवश करती नहीं है? वस्तुतः विनोदकुमार शुक्ल इस निम्नमध्य वर्ग की विवशता को अपनी कविताओं में भी उठाते रहे हैं। उनकी एक कविता में ‘दीवाल के ऊपर’ का एक अंश है-

**‘में दीवाल के ऊपर / बैठा / थका हुआ भूखा हूँ
और पास ही एक कौआ है / जिसकी चोंच में रोटी का टुकड़ा**

**/ उसका ही हिस्सा / छीना हुआ है
सोचता हूँ / कि हाय! न मैं कौआ हूँ / न मेरी चोंच है-
आखिर किस नाक नक्शे का आदमी हूँ
जो अपना हिस्सा छीन नहीं पाता।”²¹**

अतएव, ऐसा नहीं है कि विनोद ने यहाँ अनायास ही ‘खिड़की’ खोली है, वरन् यह विनोद के साथ-साथ विनोद द्वारा अभिव्यक्त निम्नमध्य वर्ग की भी विवशता है। अगर ध्यान से देखा जाए तो ‘खिड़की’ खोलने की इस प्रक्रिया का आरम्भ ‘नौकर की कमीज’ से ही हो गई थी।

‘नौकर की कमीज’ में विनोदकुमार शुक्ल का निम्न मध्यवर्गीय क्लर्क की यातना को दिखाते हुए व्यवस्था की विडम्बना पर व्यंग्य करने के मूड में हैं परन्तु उस व्यवस्था की विडम्बना को ‘नौकर की कमीज’ में उन्होंने नजदीक से महसूस किया है। ‘नौकर की कमीज’ में एक स्थान पर सन्तू बाबू महसूस करते हैं, “बाजार में मेहनत की कोई कीमत नहीं है। आदमी की अधिक से अधिक आमदनी और कम से कम आमदनी में भयानक अन्तर था। इसको देखकर दहशत होती थी। थके-हारे कदम आगे बढ़ाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। एक कदम आगे बढ़ाने से सीधे जान जाने का डर था।”²² ‘नौकर की कमीज’ में विनोदकुमार शुक्ल ने फाटक के बाहर की दुनिया में एक आम आदमी की यातना और उसके प्रतिरोधक क्षमता की सीमा को भली-भाँति महसूस किया था। अतएव ‘खिलेगा तो देखेंगे’ में बाहर की दुनिया में हस्तक्षेप किए बिना अन्दर की दुनिया में खुशियाँ तलाशने की विवशता ज्यादा बलवती हुई है। ‘खिलेगा तो देखेंगे’ में एक उद्धरण आता है, “एक दरवाजे को बन्द कर हमने पूरे बाहर को बन्द कर दिया है एक छोटे से कमरे में अलग होकर स्वतंत्र हैं। अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर हमने सारी दुनिया को बाहर बन्द कर दिया।”²³ वस्तुतः विनोद के लिए अपना घर, अपना कमरा बाहर की दुनिया की आपा-धापी से कुछ क्षण की स्वतंत्रता पाने के सुख का माध्यम है। ‘नौकर की कमीज’ के प्रथम खण्ड का शीर्षक ही है, “कितना सुख था कि हर बार घर लौटकर आने के लिए मैं बार-बार घर से बाहर निकलूँगा।”²⁴ जहाँ विनोद के अधिकांश पात्रों के लिए सुखद स्थान घर का एक कोना है, वहीं उनमें इस स्थान को बचाए रखने की बेचैनी भी है। यह अकारण नहीं है कि विनोदकुमार शुक्ल के सभी उपन्यासों एवं अधिकांश कहानियों में ‘ताला’



एक मूलभूत आवश्यकता बनकर उभरता है। चाहे नौकर की कमीज में ब्लाउज के जगह ताला खरीदने का प्रसंग हो या 'खिलेगा तो देखेंगे' में उजाड़ पड़े लॉकअप में ताला लगाकर उसे घर की शकल देने का प्रसंग हो या 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में रघुवर प्रसाद के पिता द्वारा अपने पुत्र से एक ताले की माँग हो या पुनः 'बोझ' कहानी की वह घटना जहाँ एक क्लर्क बार-बार यह देखने के लिए घर लौटता है कि दरवाजे पर ताला लगा है या नहीं। वस्तुतः ताले की आवश्यकता उस मानसिकता का घोटक है जो अपनी स्वतंत्रता की उस छोटी-सी जगह बचाए रखने और बाहर की विडम्बनापूर्ण व्यवस्था में अपने अन्दर की दुनिया को सुरक्षित समझने की तसल्ली से जुड़ी हुई हैं इस अन्दर की दुनिया में भी बाहर की दुनिया के तमाम दबावों के बावजूद विनोद के पात्रों के पास अपनी जिन्दगी जीने की एक थ्योरी है, "खुश होने के लिए पहले बहाने ढूँढ़ने चाहिए और खुश रहना चाहिए। बाद में ये बहाने कारण बन जाते हैं। सचमुच की खुशी देने लगते हैं।"²⁵ 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में भी विनोदकुमार शुक्ल इस उपभोक्तावादी समाज में जो है, जितना है, उसी में खुशी के दो क्षण तलाशने हेतु पूरा 'स्पेस' बनाते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास के केन्द्र में एक निम्न मध्यवर्गीय कस्बाई नवदम्पति रघुवर प्रसाद एवं सोनसी की सीधी साधारण गृहस्थी है, जहाँ आर्थिक दायरे के संकुचन एवं पारिवारिक जिम्मेदारियों के बावजूद उनके सन्तुष्ट क्षणों के अन्तरंग संसार का दर्शन यह 'खिड़की' कराती है। रघुवर प्रसाद कस्बे से लगे हुए महाविद्यालय में गणित के सव्यसाची व्याख्याता हैं, जिनके भी निजी जीवन में आर्थिक जोड़-घटाव का गणितीय समीकरण चलता रहता है। इस स्थिति में उनके पास महाविद्यालय जाने के दो विकल्प हैं- टैम्पो या साइकिल। जहाँ साइकिल भी व्यक्तिगत स्तर पर अनुपलब्ध हो और टैम्पो से आवागमन भी निम्नमध्यवर्ग के लिए खर्चीला हो, वहाँ विनोदकुमार शुक्ल हाथी के साथ साधू का एक अनोखा विकल्प अपनाते हैं। इस उपन्यास में आए हाथी के सन्दर्भ में भी आलोचकों के मन में यह प्रश्न उठा करते हैं कि आखिर हाथी के चुनाव का प्रयोजन क्या है? विनोदकुमार शुक्ल ने इस सन्दर्भ में स्वयं ही एक स्थान पर कहा था कि हाथी मात्र कस्बाई जीवन को सजीव करता है और कस्बाई जीवन के मध्य हाथी ही सर्वथा उपयुक्त सवारी लगती है। परन्तु वास्तव

में मात्र बात इतनी ही नहीं है। अगर इसे एक और सरसरी दृष्टि से देखें तो इस हाथी के चयन के पीछे रघुवर प्रसाद का काली वस्तुओं के प्रति प्रेम भी प्रकट होता है, जिसकी भूमिका पहले पृष्ठ से ही तय की गई लगती है बाद में तो काली रात और काले हाथी के मध्य एक समानधर्मिता ही स्थापित कर दी गई है? "रात का काला हाथी था उसकी सूँड धरती तक झूल रही थी। रात हाथी के चाल की तरह ऊपर नीचे डोलते हुए जा रही थी।"²⁶

हाथी का चुनाव यहाँ मानव एवं पशु के आदिम रिश्ते की महक ताजा करता है परन्तु, हाथी के चुनाव के पीछे जो सबसे प्रबल कारण यह है कि वह एक राजसी सवारी के रूप में निम्नमध्यवर्गीय समाज की आशा-आकाँक्षाओं की तुष्टि करता है हाथी पर सवारी करने में उस समाज को राजसी-सुख की प्राप्ति होती है, जिसका वास्तविक रूप से एक अंश पाना भी इस विडम्बनापूर्ण समाज में उनके लिए सम्भव नहीं है। यथा एक उद्धरण द्रष्टव्य है, "पहले राजे-महाराजे बैठते थे। इस समय बैठे तो हास्यास्पद होगा। जैसे हाथी पर बैठा हुआ भूतपूर्व राजा सब्जी खरीदने बाजार आया।"²⁷ यह हास्य की वस्तु समाज के सम्पन्न वर्गों के लिए अवश्य होगी, जो घर के परदों की तरह अपनी कारें बदलते हैं। परन्तु, जिनके जीवन में टैम्पो से सवारी करने के लिए भी गिने-चुने रूपे बचते हों, उनकी और उनकी दमित आकाँक्षा के लिए यह हाथी किसी कार से कम नहीं। इसे स्पष्ट करता हुआ एक उद्धरण द्रष्टव्य है, "कार का दरवाजा साहब के आते ही ड्राइवर खोलता है। उसी तरह रघुवर प्रसाद को देखकर साधू ने हाथी से बैठने को कहा होगा। हाथी का बैठना, कार का दरवाजा खुलना जैसा था।"²⁸ अतएव हाथी की सवारी भी उस वर्ग के लिए मोटरकारों से मुकाबला करनेवाला है। हाथी पर सवारी करते हुए रघुवर प्रसाद मन ही मन सोचते हैं- "हाथी पर बैठकर आना खुशी की बात तो होती होगी। थोड़ी बहुत शान भी होती होगी।"²⁹ इस प्रकार वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में जहाँ जरूरतों पर इच्छाएँ हावी हैं, वहीं विनोदकुमार के पात्र न अपनी जरूरतें पूरी कर पाते हैं न ही अपनी इच्छाओं को मूर्त रूप दे पाते हैं। 'खिलेगा तो देखेंगे' का एक पात्र जिवराखन जहाँ 'झूठमूठ' की बीड़ी पीकर सचमुच का सुख पाता है वहीं 'दीवार में एक खिड़की रहती थी?' के रघुवर प्रसाद हाथी की सवारी से सचमुच की कार की



सवारी का सुख लेने को विवश हैं।

इस उपन्यास में जल, चट्टान, पर्वत, वन, वृक्ष, पशु-पक्षियों, सूर्योदय, सूर्यास्त, सूर्य, चन्द्र, हवा, रंग-गन्ध और ध्वनियों के साथ प्रकृति अपने सम्पूर्ण सुकुमार रूप में इस प्रकार उपस्थित है जैसे वह भी उपन्यास की एक पात्र हो। वस्तुतः परिवार, निजी सम्पत्ति एवं राज्य के विकास के साथ-साथ अलगाव की भी प्रक्रिया जुड़ी हुई है। इस वैज्ञानिक युग की यात्रिकता एवं उपभोक्तावादी समाज की कृत्रिमता के मध्य मानव का प्रथम अलगाव प्रकृति से ही हुआ है। स्वयं विनोदकुमार शुक्ल की मान्यता है, "और न शहरी आदमी" प्रकृति से इस तरह अलग होता हूँ कि पेड़ को पीछे छोड़ बस में बैठ जाता हूँ।"³⁰ सम्भवतः इस उपन्यास में विनोद ने मानव और प्रकृति के इस अदम्य रिश्ते को दिखाकर इस अपराध - बोध को पाटना चाहा है। जैसे विनोद दिखना चाहते हों कि जहाँ इस असूर्यम्पश्या समाज' में प्रकृति खिड़की से बाहर झाँकने की चीज रह गई है, वहाँ 'खिड़की' से पार जाकर इस प्रकृति के सम्पूर्ण महक को आत्मसार करने की भी आवश्यकता है।

इस उपभोक्तावादी समाज की कृत्रिमता से व्यक्ति व्यक्ति के मधुर सम्बन्ध भी मात्र उपयोग की वस्तु बनकर रह गए हैं। एक तरफ जहाँ संयुक्त परिवार का टूटन बढ़ा है वहीं दूसरी ओर एक ही परिवार के सदस्यों के मध्य आत्मीयता की कमी आई है परन्तु इस उपन्यास में रघुवर प्रसाद के परिवार के सदस्यों के बीच आत्मीयता इस उपभोक्तावादी समाज की कृत्रिमता को मुँह चिढ़ानेवाली है। वस्तुतः विनोद को जहाँ 'घर' के प्रति लगाव है, वहीं पारिवारिक मधुर सम्बन्धों के प्रति भी लगाव रहा है यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों में पारिवारिक जीवन की सरलता सदा कायम रही है।

'नौकर की कमीज' में चाहे सन्तू बाबू का परिवार हो या 'खिलेगा तो देखेंगे' में गुरुजी का परिवार या फिर 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में रघुवर प्रसाद का परिवार, वस्तुतः कहीं भी टूटन या बिखराव नहीं है। रघुवर प्रसाद एवं सोनसी के अलावे उनके माता-पिता और छोटा भाई भी है और जहाँ सब की जरूरतें रघुवर प्रसाद से ही पूरी होती हैं। फिर भी, रघुवर प्रसाद परिवार को सुख पहुँचाने हेतु प्रयत्नशील है। पिता भी बेटे के गृहस्थी में पूरी तरह रमे हुए हैं। यथा एक प्रसंग है, "बेटे की गृहस्थी की खटर-पटर आँख मूँदे सुनना उन्हें

सुख दे रहा था। उनको लगता होगा चलो बेटे की गृहस्थी हो गई।"³¹ उपन्यास का सबसे रोचक पक्ष है पति-पत्नी का सम्बन्ध, उनके मध्य प्रेम की विराट दुनिया की अनुभूति साधारणतः दाम्पत्य प्रेम को साहित्य के लिए अछूता ही मान लिया जाता है कि प्रेमी-प्रेमिका के मध्य का प्रेम-वर्णन ही रसिकता पैदा करने का अन्तिम माध्यम है। बाजार के युग में 'पत्नियाँ अपने पति को सिर्फ इसलिए छोड़कर भाग रही हैं कि बाजार में उसकी कोई कीमत नहीं है! (पालगोमरा का स्कूटर) वहीं विनोद के सभी उपन्यासों में पति-पत्नी के मध्य प्रेम का अटूट रिश्ता सम्पूर्ण सरसता के साथ कायम है।

विनोद की अवधारणा ही रही है, "पति-पत्नी के लिए प्रेम के अवसर घर में बहुत थे। प्रेम के अवसर गृहस्थी की तरह थे। इन्हें ढूँढ़ने की जरूरत नहीं होती कि अवसर नहीं मिल रहा है और ढूँढ़ते हुए घर से बहुत दूर निकल गए। प्रेम का अवसर कहीं दिखा यह पूछने की जरूरत नहीं होती। क्या नदी से पूछे कि तुम्हारे किनारे प्रेम का अवसर है।"³² यही कारण है कि विनोद के उपन्यासों में आए पति-पत्नी ने केवल इस 'अवसर' को अपनी सम्पूर्णता में पाते हैं। वरन् वे इस अवसर में पूरी सरसता के साथ जीते भी हैं। साधारणतः आलोचकों का यह मानना था कि विनोद में मानव स्नेहिलता चाहे कितनी भी हो, परन्तु वे स्त्री-पुरुष प्रेम से परहेज करते हैं या वह उनके बूत से बाहर है। परन्तु वैसे आलोचकों के लिए यह उपन्यास निश्चय ही एक सदमा साबित होगा, जहाँ स्त्री-पुरुष के प्रेम के मध्य ऐन्द्रिकता, माँसलता, रति एवं शृंगार के चित्र अपनी सम्पूर्ण सौन्दर्यात्मक सम्वेदना के साथ मौजूद है। परन्तु, इन चित्रों में अश्लीलता नहीं है बल्कि आदिम सम्बन्धों के नितान्त स्वाभाविक सौन्दर्य की ताजगी है। शायद इसके बिना घर के बाहर का यह 'आनन्दलोक' अधूरा ही होता। वस्तुतः जब घर के नाम पर एक कमरा हो और कमरे में पति-पत्नी के अलावे परिवार के अन्य सदस्य भी मौजूद हो तो 'खिड़की' के बाहर प्रेम की दुनिया ढूँढ़नी ही पड़ती है। यह प्रेम भी ऐसा जो 'नयन न तिरपत भेल' की भाँति सदैव नया दिखता है। एक उद्धरण द्रष्टव्य है, "रघुवर प्रसाद कल की तैयारी में किताब खोलकर बैठ गए। पत्नी खाना बनाते-बनाते पति को देख लिया है यह पता नहीं चलता था। क्या देखना है यह भी नहीं मालूम था। देखने में इना ही मालूम होता होगा कि यह नहीं देखा था।"³³ वस्तुतः परम्परागत भारतीय जीवन के इस अत्यन्त



जाने-पहचाने और अति परिचित सम्बन्ध में भी प्रेम की इतनी विराट दुनिया मौजूद है। इसे दिखाकर विनोदकुमार शुक्ल ने न सिर्फ कथा साहित्य को बल्कि वैवाहिक जीवन के घरेलू प्रेम को भी उत्कट, जादुई और नवीन बना दिया है। रघुवर प्रसाद एवं सोनसी के प्रेम को देखकर विनोदकुमार शुक्ल की ही एक कविता का यह अंश याद आता है- "अंतिम समय तक के लिए उनका एक गृहस्थ आश्रम / एकान्त के घने वन से छुपे जीवन के अथाह गहरी नदी के किनारे / अपनी कर्म-साधना के चलते दोनों नदी की मंझधार तक पैदल भी चले जाते / किसी डूबते का दुःख बांटते / और हाथ पकड़कर उभार लेते / कभी स्वयं को स्वयं से"³⁴

पत्नी-पत्नी के प्रेम के अलावे भी यहाँ मानव-मानव के प्रेम की अन्य पहलू भी अपनी सम्पूर्णता में दिखाई पड़ते हैं। रघुवर प्रसाद का साधू एवं छोटे बच्चों से लगाव, पड़ोसियों का रघुवर प्रसाद के परिवार के प्रति आत्मीयता, चायवाली बुढ़िया का वात्सल्य आदमी और आदमी के सहज मानवीय सम्बन्धों को कायम रखता है। इस उपन्यास में प्रेम की इस विराट दुनिया के अलावे लगभग हाशिए पर रहनेवाले समाज में जीवन यापन एवं उसके सोचने-समझने के ऐसे विरल ब्यौरे हैं, जिनके सहारे उस वर्ग की मानसिकता एवं उनके जीवन स्तर का सहज ही पता लग जाता है। हर छोटे-छोटे तथ्यों पर भी विनोद की तेज नजर है। अगर पानवाला भी इस उपन्यास में आता है तो अपनी मानसिकता के साथ आता है। उसके मानस के विचारों को भी विनोद बखूबी पकड़ते हैं। यथा, 'अभी पान के ठेले वाला आदमी रघुवर प्रसाद को इस नजर से नहीं देख रहा था कि रघुवर प्रसाद पान खाएँगे। आज पान खा लेंगे तो कल से रोज रघुवर प्रसाद पान खाते हैं या नहीं की नजर से देखेगा।' ³⁵ उसी प्रकार छोटे-छोटे घटना-प्रसंगों में भी विनोद विद्यार्थियों के मानस में उतरकर किसी घटना के प्रति उनकी सोच की सम्भावना को पूर्ण सर्तकता से रेखांकित करते हैं, 'लड़कियों औरतों के बीच बैठे हुए आगे उनको कोई विद्यार्थी देखेगा तो अटपटा नहीं लगेगा, क्योंकि विद्यार्थी सोचेगा कि रघुवर प्रसाद के बैठने के बाद औरतें बैठी होंगी। औरतों के बैठने के बाद रघुवर प्रसाद बैठे होंगे, ऐसा विद्यार्थी क्यों सोचेगा।' ³⁶ एक लड़की की मानसिक भावना किसी घटनाक्रम पर किस प्रकार प्रकट होती है। इस प्रसंग में द्रष्टव्य है, "एक छोटी लड़की बहुत धीरे-धीरे तेरे कदम रखते हुए कि

चाय न छलके जैसे रस्सी पर चल रही हो, रघुवर प्रसाद को आते दिखी। उसी के लिए चाय होगी। वे आगे बढ़े और लड़की के हाथ से कप ले लिया। जिसके लिए ले जा रही हो देने के पहले वही छीनकर ले गये इस तरह लड़की ने रघुवर प्रसाद को देखा और दुःखी होकर लौट गई।"³⁷

इस उपन्यास में कोई भी पात्र व्यर्थ नहीं आया है। सभी पात्रों की अपनी-अपनी दुनिया है। इसी क्रम में एक और पात्र छोड़ आता है जो अपने पिता से चिढ़कर और छुपकर पेड़ों और पात्र छोड़ आता है जो अपने पिता से चिढ़कर और छुपकर पेड़ों की झुरमुटों में छिपकर आराम से बीड़ी पीता है। अधिकांश समय पेड़ों पर ही रहनेवाले इस लड़के को भी जीवन से कोई शिकायत नहीं, न ही कोई टूटन। वस्तुतः विनोद के सभी पात्रों में कहीं भी टूटन नहीं है और अगर कहीं टूटन दिखती भी है तो वह बीड़ी पीनेवाले लड़के और उसके पिता के मेल में अन्ततः छुप जाती है। क्या विनोद के पात्र मायावी हैं? क्या हमारे आस-पास छोड़ जैसे बच्चे नहीं हैं? अगर उपन्यास में आए साधू, गुड़िया, बुढ़िया, छोड़ आदि आनन्दलोक के वासी हैं। लेखक की फैंटेसी की उपज है तो यह फैंटेसी भी सत्य है और यह आनन्दलोक हमारे ही कहीं आस-पास है, जिसे हम वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में विस्मरित कर चुके हैं और जिसे खोजने की कोशिश करना भी हमें गँवारा नहीं है।

वस्तुतः वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में 'पूर्णता' के जगह 'थोड़े' की संस्कृति लोगों पर हावी है अर्थात् वह न्यूनतमवादी संस्कृति जो उपभोक्तावादी समाजों की जरूरत होती है। थोड़ी कला, थोड़ा खेल, थोड़ा स्वास्थ्य, थोड़ा सुख, थोड़ा आनन्द, थोड़ा प्रेम, सब कुछ थोड़ा-थोड़ा। अतएव यहाँ एक तत्त्व को पूर्णता में पा लेने की चाहत के जगह पर सभी तत्त्वों से थोड़ा-थोड़ा पा लेने की लिप्सा बढ़ी है। इसी क्रम में जीवन-सौन्दर्य का भी सतहीकरण हो गया है और कृत्रिमता का वातारण चारों ओर व्याप्त हो गया है इस उपभोक्तावाद में वस्तुओं की अपनी संहिता बन गई है जो हमारी इच्छाओं को नियंत्रित करती है। पूँजीवादी सम्पन्नता ने ऐसे ही समाज को जन्म दिया है जिसमें हमारी जरूरतों और हमारे उत्पादन के बीच सनातन अन्तर्विरोध उपचार पूँजीवादी विकास ने 'आनन्द' के नकार में दे दिया है। हमें आनन्द तो मिलता है लेकिन बहत जल्दी आनन्द की जगह वहाँ खालीपन आ जाता है। यह तृष्णा का साम्राज्य है। सूरदास के शब्दों में,



“तृष्णानाद करता घट भीतर नाना विधि दे ताल।” परन्तु, ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ इस ‘आनन्द के नकार’ का प्रतिपक्ष बनाता है। उपभोक्तावादी समाज के विपरित एक आत्म-तुष्ट आनन्दलोक की परिकल्पना करता है। बाजार में चीजें दुनियावट ढंग से खींचती हैं। बाजार में आकर अनुभव होने वाली प्रसन्नता वस्तुओं पर आधिपत्य होने के भाव से जुड़ जाती है। उत्तर-आधुनिकतावादी चिन्तक बौद्रीला का ‘बाजार’ के सम्बन्ध में मानना है, “यह सुख संग्रह का जगत है। इसमें प्रवेश पाने के बाद इसके होने के बाद जीवन का अर्थ इसके बाहर नहीं बचता। बाहर यानी वह वातावरण जो सपने बनाता है। कविता कराता है। जो ‘अर्थ’ की प्रतीति कराता है, जो महान वृत्तान्तों को जन्म देता है, जो नए रूपकों को जन्म देता है वह नहीं बचता”³⁸ परन्तु वह वर्ग जो बाजार में प्रवेश करने लायक भी स्वयं को नहीं मानता और जो बाजार के दबाव का शिकार है, उसके लिए जीवन का अर्थ इस बाजार से बाहर भी है। इस बाजार के बाहर की दुनिया जो सपनों में जीने को विवश है और तृष्णा के जगह थोड़े में ही सन्तुष्टि और ‘आनन्द के नकार’ की जगह आनन्द के क्षण तलाशना जिनका ध्येय है। ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ उसकी ही कथा है। ‘दीवार’ जो तमाम प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक वर्जनाओं से बनी है और ‘खिड़की’ इन वर्जनाओं से चोरी-छिपे आनन्द के दो कण चुरा लाने का रास्ता है। इस उपभोक्तावादी संसार में एक आत्म-तुष्ट प्रतिसंसार की रचना करता है। शायद यह जीवन को अपनी पूरी सरसता के साथ जीने और टूटने-बिखरने के बजाय जीवन से कुछ सीखने-समझने के लिए आवश्यक भी है।

उपन्यास अपने पाठकों को जीवन मूल्यों के बीच चुनाव का संकेत देता है। उसकी सहानभूतियों का विस्तार करता है और जीवन की कला भी सिखाता है। सम्भवतः इसी से उपन्यासकार की विश्व दृष्टि या विचारधारा का भी पता चलता है। उपन्यास का समाजशास्त्र उपन्यासकार की वर्गचेतना विचारधारा या विश्व-दृष्टि के सहारे उपन्यास का सामाजिक अभिप्राय जानने की कोशिश भी करता है। परन्तु, विनोदकुमार शुक्ल ने अलग से किसी कथनों या घोषणाओं के आधार पर अपनी विचारधारा तय नहीं करती वरन् रचना की विचारधारा का मुद्दा अहम होता है दूधनाथ सिंह ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ का मूल्यांकन करते हुए विनोदकुमार शुक्ल

की विचारधारा की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, ‘विनोद कुमार शुक्ल की कोई आयडियोलॉजी नहीं है, ऐसा कहना अनुचित होगा। उनकी आयडियोलॉजी है, जितना जीवन है उसमें मगन रहा, दूसरी बातों के बारे में चिन्ता बेकार है।’³⁹ परन्तु, जीवन के प्रति सकारात्मक लगाव क्या अनुचित है? क्या जो है, जितना है, उसी में सन्तुष्ट रहने की आज आवश्यकता नहीं है? बशर्ते बाजार की अन्धी दौड़ में शामिल होने के। परन्तु, जो है, जितना है उसी में खुश रहो’ की भावना मार्क्सवादी आलोचकों के गले नहीं उतरती। साधारणतः यह भावना उन्हें ‘वर्ग-संघर्ष’ या ‘वर्गीय चेतना’ की मानसिकता के प्रतिकूल लगती है। अर्थात् जो है, उससे बेहतर चाहिए’ की भावना ही सामाजिक बदलाव ला सकती है। अतएव दूधनाथ सिंह आलोचक इस उपन्यास की गुणात्मकता को इसलिए खारिज करते हैं कि इसमें युग की आवाज नहीं है, वर्ग-संघर्ष नहीं है। परन्तु, प्रत्येक उपन्यास से वर्ग-संघर्ष में भागीदारी की माँग करना या अपने समय का घोषण-पत्र होने की अपेक्षा करना कहाँ तक उचित है? जो लोग इस उपन्यास को मार्क्स की दुहाई देकर ‘थूक’ कहते हैं वे भी जान लें कि स्वयं कार्ल मार्क्स एवं एंगेल्स ने जर्मन नाटककार फर्डिनेण्ड लासाल के नाटक ‘फ्रांत्स कौन जिकिन्नेगेन’ की आलोचना करते हुए कहा था कि “लासाल की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसने शिकार के ढंग से व्यक्तियों को समय की भावना को मात्र आँसुओं में बदल दिया है।”⁴⁰ इसके विपरीत उन्होंने जर्मन कवि वैयाक्त द्वारा ईमानदारी पूर्वक अभिव्यक्त हृष्ट-पुष्ट ऐन्द्रिकता तथा दैहिक वसनात्मक साहित्य की प्रशंसा की है जो जर्मन मजदूरों को स्वाभाविक आनन्द देनेवाले हैं। वस्तुतः उपन्यास का एक विस्तृत फलक होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उपन्यास के कार्य के सन्दर्भ में लिखा है, “मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष कराने का कार्य करता है। यत्न करता है, जिससे मनुष्य का जीवन बनता है जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर है।”⁴¹ इसे ही प्रेमचन्द ने भी कहा है, “उपन्यास को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, न मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं।”⁴² अगर इस दृष्टि से ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ का मूल्यांकन करें तो भले ही इसमें कोई महान घटना या प्रत्यक्ष वर्ग-संघर्ष न हो, परन्तु



इसमें अपने ही चारों तरफ रहनेवाले इस देश के एक आम आदमी के अस्तित्व की सादगी, उनकी निरीहता, उनके रहने, आनेजाने, उनके जीवन यापन के ऐसे विरल ब्यौरे हैं जिनसे अपने आप उस क्रूर प्रतिसंसार का अहसास हो जाता है जिसके कारण देश के बहुसंख्यक लोग ऐसी ही जिन्दगी जीने को विवश हैं। जब विवशता का संकट गहरा हो ओर उससे अकेले निकल पाना सम्भव न हो, तो भी ऐसे वर्ग की जिजीविषा इस क्रूर प्रतिसंसार में भी जीने के लिए हर्ष के दो क्षण खोज लाने की शक्ति देती है। कविवर अंचल ने कभी दीनों की दशा पर आँसू बहाते हुए लिखा था, वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती / बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती।

वस्तुतः हैरत उन्हीं लोगों को अधिक होती है, जो 'नौकर के कमीज' के सन्तू बाबू, 'खिलेगा तो देखेंगे' के गुरुजी या फिर 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के रघुवर प्रसाद जैसे लोगों के मन की 'खिड़की' के उस पार के संसार को नहीं देख पाते। वास्तव में यह 'खिड़की' मन की ही 'खिड़की' है। बकौल कथाकार, "यह सारी जगह रघुवर प्रसाद के मन की जगह थी। गोबर से लिपी पगडण्डी मन की पगडण्डी थी। साफ-सुथरा आकाश, उड़ने के लिए मन का आकाश था।"⁴³ इस मन की 'खिड़की' में उतरने के लिए बुद्धिजीविता या बुर्जुआ मानसिकता नहीं वरन् एक शिशु की निष्पाप सरलता चाहिए। यही न समझ पाने के कारण इस उपन्यास में आए विभागाध्यक्ष, रघुवर प्रसाद के 'खिड़की' के बाहर की दुनिया को अकेले खोज नहीं पाते। सम्भवतः यही नहीं समझ पाने के कारण कतिपय आलोचक इस 'मन की जगह' को 'रहस्यलोक', 'आनन्दलोक' या महज एक 'स्वप्नलोक', कहकर अपनी खीझ उतारते हैं। यह वह 'खिड़की' है, जिसे फाँदकर सिर्फ रघुवर प्रसाद एवं सोनसी नदी, तालाब, चट्टान, तोतों, बन्दरों, नीलकण्ठों, पेड़ों, पहाड़ियों के एक गीतात्मक स्वप्न जैसे संसार में प्रवेश कर सकते हैं जिसमें कपड़े, धोना, नहाना और सो जाना तथा प्रेम कर पाना भी सम्भव है, जिसमें एक चायवाली बुढ़िया है जो बेखबर निद्रामगनों को उठाती भी है और सोनसी को कीमती कड़े भी दे जाती है वस्तुतः 'खिड़की' के बाहर मानव-मानव, मानव एवं पशु तथा मानव एवं प्रकृति के मध्य साँस लेती हुई ऐसी प्रेममयी दुनिया है, जिसके आगे सारी अनुपस्थित मानव-विरोधी ताकतें कुरूप ही

नहीं, खोखली लगने लगती हैं। अगर यह 'यूटोपिया' ही है, तो भी सामाजिक व्यवस्था के समानान्तर ही पैदा होता है। मावर्वेस ने नोबल पुरस्कार के अवसर पर दिए गए अपने भाषण में कहा था कि, "लेखक को यूटोपिया में विश्वास करने का अधिकार होता है जीवन का एक ऐसा नया और आकर्षक कल्पित लोक जहाँ कोई भी दूसरे का भाग्य विधाता न हो, जहाँ सच्चा प्रेम हो और सुख की पूरी सम्भावना हो और जहाँ जन्म से ही सौ सालों के एकान्त की यातना भोगनेवाले नई जिन्दगी पा सकें"⁴⁴ इस आधार पर 'खिड़की' के बाहर की यूटोपिया सामाजिक समस्याओं से बिल्कुल कटा नहीं वरन् यह सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं से पैदा होता है और वर्तमान उपभोक्तावादी संसार के कृत्रिम सम्बन्धों के मध्य सहज मानवीय सम्बन्धों से विकसित एक प्रेममयी प्रतिसंसार की रचना करता है।

उपन्यासों का स्वरूप समाज पर अधिकाधिक निर्भर रहने के बावजूद कलात्मक कौशल से भी निर्धारित होता है उपन्यास एक कला है, वह सामाजिक दस्तावेज नहीं है। अतएव जाहिर है कि उसमें सामाजिक यथार्थ, जीवनानुभव और इतिहास की गति रचनाशीलता से भी पुनर्निर्मित होकर ही सामने आयेगा। यही नहीं समझ पाने के कारण कतिपय आलोचक किसी उपन्यास पर अयथार्थवादी होने का आरोप लगा देते हैं। ऐसा 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के साथ भी हुआ है। यह भ्रम रूप एवं अन्तर्वस्तु के मध्य के सम्बन्धों को ठीक से समझ न पाने के कारण ही पैदा होता है 'यातव्य है, जार्ज लुकाच जहाँ रूप के सौन्दर्यबोधीय पक्ष को मानते थे, वहीं उसकी सामाजिकता की ओर भी संकेत करते थे। सिम्मेल भी मानते थे कि, "प्रत्येक रूप अनुभव का नया व्याकरण निर्मित करता है। रूप हमेशा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक होता है, इसलिए यह सामाजिक होता है।"⁴⁵ अतएव साहित्य का वही समाजशास्त्र प्रामाणिक और विश्वसनीय बन पाता है जिसमें रूप के सौन्दर्यबोधीय पक्ष को उजागर करने के साथ-साथ उसे सामाजिक पक्ष का भी मूल्यांकन किया जाए। जो समाजशास्त्री उपन्यास के रूप पक्ष के इस विशेषता की उपेक्षा करता है, वह यह नहीं पहचान पाता कि उपन्यास कैसे सामाजिक यथार्थ का संश्लिष्ट प्रतिरूप बनता है। मिशेल जिराफा की मान्यता है कि, "उपन्यासकार एक कलाकार है, उसकी रचना में यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है, जिसके रूप



और अर्थ के बारे में वह पहले से सजग है। वह यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर उपन्यास कला की उन तकनीकों का प्रयोग करता है, जिन्हें उसने अपने पूर्ववर्तियों से सीखा है और दूसरी ओर अपने अनुभवों से कुछ नए कला-कौशल का भी आविष्कार करता है।⁴⁶ इस प्रकार उपन्यास सामाजिक यथार्थ की एक कला है। अपने समाज की वास्तविकता, समय की सच्चाई और इतिहास की गति की अभिव्यक्ति उपन्यास में कई रूपों में सामने आते रही है। अभिव्यक्ति का एक रूप प्रतीकात्मक होता है तो दूसरा प्रतिनिधि और प्रतीकात्मक पद्धतियों का मिला-जुला रूप दिखाई देता है। अगर इस दृष्टि से 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का मूल्यांकन करें तो यह काव्यात्मक सम्वेदना और फैंटेसी मिश्रित शिल्प से अधिक निर्मित हुआ दिखता है। इसका भी एक कारण है। प्रथमतः तो यह है कि प्रस्तुत उपन्यास में जीवन के साधारण परिवेश, उसमें मौजूद सुख-दुख की भावनाओं का चित्रण होने के कारण ऊपर से आरोपित वैचारिक सोच ओर चिन्तन की गुंजाइश नहीं बचती है। दूसरी प्रमुख बात यह है कि 'खिड़की' के बाहर का संसार मुख्यतः रघुवर प्रसाद एवं सोनसी के मन का संसार है। अतएव जीवन-व्यापार के साथ-साथ मानस व्यापार को दिखलाने हेतु फैंटेसी मिश्रित शिल्प से यह उपन्यास निर्मित हुआ है 'जहाँ यथार्थ और स्वप्न को विलगा पाना दुष्कर है। पाठकों को हमेशा यह भ्रम बना रहता है कि यथार्थ है या स्वप्न। परन्तु, यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि फैंटेसी भी यथार्थ के कलात्मक विपर्यय का एक कौशल है। मुक्तिबोध ने लिखा है, 'फैंटेसी के प्रयोग में कई प्रकार की सुविधाएँ होती हैं। एक तो यह है जिये और भोगे गए जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अर्थात् जीवन-ज्ञान को कल्पना के रंगों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार को ज्ञान-गर्म फैंटेसी वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। "... संक्षेप में, फैंटेसी एक झीना परदा है जिसमें से जीवन-तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं।'⁴⁷ फैंटेसी और यथार्थ के सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने अपनी एक कविता में लिखा है, 'में विचरण करता-सा हूँ एक फैंटेसी में यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।'⁴⁸

अतएव यह उपन्यास रूप की दृष्टि से भी सामाजिक वास्तविकताओं से ही निर्मित हुआ है। यह यथार्थ से पलायन

नहीं है। वरन् यहाँ यथार्थ को प्रकट करने की शैली अवश्य ही कुछ अलग है। अन्तोनियो ग्राम्शी ने कहा है कि, 'दो लेखक एक ही सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास करते हैं, लेकिन उनमें से एक कलाकार साबित होता है, दूसरा केवल कातिब'⁴⁹ इस दृष्टि से विनोदकुमार शुक्ल 'कलाकार' ही अधिक ठहरते हैं।

रचना में समाज की अभिव्यक्ति की पहचान के लिए उसके शिल्प की भी पूर्ण समझ होना आवश्यक है। नामवर सिंह ने एक साक्षात्कार के दौरान कहा, 'स्वचेतनता या 'सेल्फ कांशसनेस' श्रेष्ठकृति की रचना में बाधा है।'⁵⁰ परन्तु उन्होंने 'नौकर की कमीज' को अपवाद माना है जहाँ आत्म-सजगता लेखक की एक शक्ति है। यही आत्म सजगता की शक्ति 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में भी दिखाई पड़ती है जहाँ कोई नियत कहानी नहीं, वरन् जीवन-यापन के साधारण ब्यौरों से ही कहानी बनी है। अपनी एक प्रसिद्ध कहांनी 'इवान इलिच की मृत्यु' के सन्दर्भ में लेवो टॉल्स्टॉय का कहना है कि 'इवाने इलिच का जीवन बहुत साधारण, घटनाहीन और अनुल्लेखनीय था, इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण था।' वस्तुतः बड़ी कहानी, बड़ी घटनाओं या चीखते-चिल्लाते अनुभवों में नहीं छिपी होती, वरन् साधारण और घटनाहीन सन्दर्भों से जन्म लेती है और कभी-कभी खालीपन में भी एक महान रचना छिपी हो सकती है। साधारण और घटनाहीन सन्दर्भ 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में भी दिख पड़ती है। कुछ लोग उपन्यास में कहानी ढूढ़ने हेतु व्यग्र होते हैं। जिनमें ऐसी व्यग्रता है, उन्हें 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' पढ़कर हताशा ही हाथ लगेगी क्योंकि वहाँ ब्यौरों, साधारण जीवनानुभव एवं औपचारिक घटनाओं तथा मानसलोक की आशा आकाँक्षाओं की अभिव्यक्ति तो है, परन्तु उससे कथा का नियत सूत्र हाथ नहीं लगता। कथा अपने आपमें एक ऐसा सूत्र है, जिससे उपन्यास को गति मिलती है पर वही अभीष्ट हो जाए तो रचना मारी जाती है। ऐसे ही उपन्यासों को एलेन फ्रिडमैन 'क्लोड नॉवेल' की संज्ञा देते हैं। जिसका सारा खेल एक बन्द दुनिया के भीतर चलता है। यही कारण है कि अब उपन्यास साहित्य में कथा को अपने निष्कर्षों तक पहुँचाना उनका आवश्यक नहीं समझा जाता, जितना कि चरित्रों को मजबूती से खड़ा करता।

प्रस्तुत उपन्यास में भी रघुवर प्रसाद एवं सोनसी का



स्वयंपूर्ण संसार ही प्रमुख है, जिसमें कहानी के तत्व कम ही मिलते हैं। इस कथा-सूत्र में मानव-पात्र की तरह साइकिल, हाथी एवं प्रकृति सभी एक पात्र की भाँति नैसर्गिक सत्ता में प्रतिष्ठित हैं। जो कथा है भी, उसकी शुरुआत और अन्त दोनों ही आकस्मिक और अनौपचारिक अधिक है और कथा भी श्रव्य से ज्यादा दृश्य अधिक है। इस उपन्यास की काव्यात्मकता को लेकर भी अनेक प्रश्न उठाए गए हैं। तरुण कुमार आशंका जताते हैं, “विनोदकुमार शुक्ल के गद्य-पद्य के पाठकों को यह खटका अवश्य लगा रहता है कि कहीं भावबोध और शिल्प में एक ‘मैनरिज्म’ तो नहीं तैयार हो रहा? गीतात्मक सम्वेदना से रचे गए गद्य में एक खुशबू तो होती है, पर इस पर मोहासक्त होने के खतरे भी बहुत बड़े हैं।”⁵¹ इस सन्दर्भ में वीरेन्द्र यादव ने ‘कथाक्रम 98’ की संगोष्ठी में प्रश्न उठाया था कि, “कविता उपन्यास में जाये, ऐसा तो होता रहा है। लेकिन उपन्यास कविता में जाये, जैसा विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों में हो रहा है तो इस विधाओं की आवाजाही से हिन्दी उपन्यास के स्वरूप पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है।”⁵²

उपन्यास एक लोकतान्त्रिक विधा है और इसमें अन्य विधाओं की आवाजाही एक सीमता तक चलती ही है। ऐसे भी विनोदकुमार शुक्ल मूलतः कवि हैं और प्रस्तुत उपन्यास में उनके अध्ययन के केन्द्र में एक आम आदमी का मानस-व्यापार है। अतः भाषा की काव्यात्मकता स्वाभाविक ही है। परन्तु, यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अब तक से पहले के उपन्यासों में से भी कुछ को काव्यात्मक कहा गया है। परन्तु यह काव्यात्मकता मोटे तौर पर भाषा के काव्यात्मकता से ही सम्बद्ध है। यह उपन्यास विज्ञान के स्तर पर भी काव्यात्मक है। प्रस्तुत उपन्यास हमारे अनुभव के ढंग को बदल देता है। हम अपने आस-पास को नए तरीके से देखने लगते हैं और उसमें वह देखने की कोशिश करते हैं जो अब तक अनदीखा था, पर वहाँ मौजूद था। अमूर्ततन के स्तर पर कविता यही करती है। इसी अर्थ में यह उपन्यास काव्यात्मक है जो कथ्य को एक दृश्यात्मक रूप देने के लिए आवश्यक भी है।

बाख़िन के उपन्यास की केन्द्रीय विशेषता उसकी सम्वादधर्मिता बतलाया है। साहित्य के दूसरे रूपों की तुलना में उपन्यास की सम्वादधर्मिता में अनेकता होती है। उनका

मानना है कि उपन्यास में सामाजिक वाणी की विविधता और वैयक्तिक स्वरो की विविधता का कलात्मक गठन होता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी बोलचाल की अनेक शैलियाँ इजाद की गई हैं। एक वह जिसमें रघुवर प्रसाद लोगों से बोलते हैं। दूसरी वह जिसमें वे खुद से बोलते हैं और चौथी वह जिसमें रघुवर प्रसाद का परिवार आपस में बात करता है, जिसमें हल्की-सी आँचलिकता मिली हुई है और पाँचवी वह है जिसमें बोलनेवाला और सुननेवाला बारी-बारी कहते हैं और सुनते कुछ और हैं। वस्तुतः यह अन्तर्मन की भाषा है जो अर्थ बाहुल्य स्निग्धता को जन्म देती है। ‘यहाँ हवा में अच्छा लग रहा है। दीया बत्ती का समय हो गया है बहू से कह दे बत्ती जला दे। कुबेरी-बेरिया अँधेरा नहीं होना चाहिए।’ वस्तुतः ऐसी भाषा में उपन्यास में अभिव्यक्त समाज में प्रयुक्त पारिवारिक वार्तालाप की सहजता व आँचलिकता देखी जा सकती है। बिटी के पेड़, केसरवा कान्दा, तेन्दू फल, चाय की टिपरिया दुकान, पान का ढेला, गन्दला पानी भरा धमेली, देवारों का डेरा, ढहा कमयिलय जैसे प्रयुक्त शब्द कस्बाई जीवन को सजीव कर देते हैं और जिस पर विनोद के अपने गाँव राजनांदगाँव के परिवेशगत प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। विनोद द्वारा प्रयुक्त भाषा के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव की मान्यता है, “भाषा का इतना सहज रूप जैनेन्द्र के बाद पहली बार विनोद ने ही दिया है। जैनेन्द्र की भाषागत सादगी इसलिए सायास लगती है कि पीछे दार्शनिक जलिताएँ हैं, विनोदकुमार शुक्ल में वैसा कोई हस्तक्षेपीय तनाव नहीं है... न आर्थिक, न दार्शनिक।”⁵³ निश्चय ही विनोद की भाषा एक बेहद इत्मीनानी लेखक की शांत, सहज एवं पारदर्शी भाषा है, जहाँ उपन्यास में जबरन काव्यात्मक हस्तक्षेप का प्रयास कतई नहीं झलकता।

विनोदकुमार शुक्ल का गद्य बड़ी ही सर्तकता से पढ़े जाने की माँग करता है। जिसमें पारम्परणीयता और प्रयोगधर्मिता, ठोसपन-गीतात्मकता, गद्यता और पद्यता का अद्वितीय सामंजस्य है। उपन्यासकार की अभिव्यक्ति का सहारा लेकर कहीं तो यह ऐसा गद्य है, जिसमें ‘देख लेने से वस्तुओं के पा जाने का सुख’ मिलता है। यह उपन्यास हिन्दी गद्य की शक्ति के प्रति हमें आस्थावान बनाता है और उसकी सम्भावना के प्रति भी आश्वस्त करता है। परन्तु, आलम तो यह है कि कतिपय आलोचक इस उपन्यास के नवीन शिल्प को देखकर इसे ‘उपन्यास’ के श्रेणी में रखने में स्वयं को



असक्षम पाते हैं। ऐसे आलोचकों के लिए या ऐसे पाठकों के लिए कार्यैतियर ने ठीक ही लिखा है, "उपन्यास जब उपन्यास की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ता है, तभी वह महान होता है, जैसा कि पूस्त, काफ़का और ज्वायस के यहाँ दिखायी देता है। ऐसा उपन्यास जिस परम्परा से पैदा होता है उसको अपनी विकास प्रक्रिया में तोड़ता है और नई परम्परा बनाता है। वह अभिव्यक्ति के नए तरीके से नए क्षितिज छूता है और कला की नई पद्धतियाँ विकसित करता है। ऐसे महान उपन्यासों को देखकर आमतौर पर पाठक आरम्भ में यही कहता है कि यह तो उपन्यास नहीं लगता।"⁵⁴ प्रस्तुत उपन्यास के 'पाठ' में अर्थ की तमाम सम्भावनायें भी निहित हैं। 'खिड़की' वास्तविक भी लगती है और मन के संसार को भी इंगित करती है। यही कारण है कि कुछ आलोचक इसे और आधुनिकतावादी उपन्यासों की कड़ी में मनोहरश्याम जोशी के उपन्यासों के साथ रखना पसन्द करते हैं। परन्तु 'रचना' को महज एक 'पाठ' मान लेने से निश्चय ही इस उपन्यास के पीछे छुपे यथार्थ को धक्का पहुँचेगा। भाषा की क्रियाशीलता और प्रयोजनशीलता खोजने और पाठ से खेलने का कर्म इसे भाषा का खिलवाड़, या 'रहस्यलोक' ही अधिक समझेगा। वस्तुतः यह एक यथार्थ-विरोधी अभियान है और प्रस्तुत उपन्यास को समझने के लिए संरचनावादी दृष्टि शायद ही सफल हो सकती है।

अन्ततः उपन्यासकार की प्रतिबद्धता पर विचार कर लिया जाए। प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार की प्रतिबद्धता निम्न मध्यवर्गीय समाज की सम्वेदनाओं से जुड़ी हुई है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यासकार प्रतिबद्धता के नाम पर कला के पति असावधान है। यह प्रतिबद्धता कहीं न कहीं कला की शक्तों पर ही स्वीकार की गई है। दक्षिण अमेरिका के उपन्यासकार हिन्दी के अधि कांश प्रगतिशील और जनवादी कथाकारों की तरह केवल प्रतिबद्ध कथा ही नहीं लिखते, वे कलात्मक उपन्यास और कहानियाँ लिखते हैं।

ध्यातव्य है कि मार्क्स ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था कि, "प्रतिबद्ध साहित्य जैसे कि सामाजिक विरोध का चित्रण करनेवाले उपन्यास में जीवन और जगत के बारे में दृष्टिकोण बहुत ही सीमित होता है। दक्षिण अमेरिका की जनता उपन्यास से केवल श् दमन और अन्याय का भण्डाफोड़ नहीं चाहती, क्योंकि वह इन सबसे खूब परिचित है।"⁵⁵

जाहिर है कि प्रतिबद्धता का अर्थ केवल पर्दाफाश करना या व्यवस्था से सीधा टकराना ही नहीं, वरन् कलात्मक ढंग से वर्ग-विशेष की आशा-आकाँक्षाओं, उनकी सम्वेदनाओं, उनके जीवन एवं मानस व्यापार के द्वन्द्वों आदि को व्यक्त करने से भी लेखकीय प्रतिबद्धता निर्धारित होती है। यही लेखक की प्रतिबद्धता निश्चय ही उन सभी लोगों के साथ है जो 'दस बाई ग्यारह' के छोटे कमरे में जीवन यापन करने को विवश है परन्तु इस विवशता में भी एक जिजीविषा है जो तमाम सामाजिक एवं आर्थिक 'दीवारों' के बीच से मानस की 'खिड़की' खोलना जानती है, जिसे फाँदकर नित्य के संघर्षों से ऊबा हुआ व्यक्ति जहाँ विश्रान्ति पाता है, वहीं अगले दिन को अपने ढंग से जीने की शक्ति भी संचित करता है। जब एक बार ऐसी 'खिड़की' खोलती है तो 'दीवार' दीवार नहीं रहता, 'कमरा' मात्र कमरा नहीं रह जाता वरन् प्रेममयी दुनिया का एक शामिल मैदान बन जाता है। विनोदकुमार शुक्ल की कविता 'तीन मीटर खुशबू के अहाते में उगा हुआ गुलाब' से कुछ पक्तियाँ उधार लेकर हम कह सकते हैं-

"कई दरवाजे वाले गोल कमरे की तरह

एक विशाल उदाहरण का बहुत छोटा कमरा

पर इतने दरवाजे खिड़कियों झरोखे।

जिनके खुले होने पर

यह कमरा शामिल मैदान लगता है-

खुले दरवाजों

का घेरा

दस बाई ग्यारह का क्षितिज कमरा

बिल्कुल शुरू लगता है।"⁵⁶

संदर्भ

1. विनोदकुमार शुक्ल, सब कुछ होना बचा रहेगा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1992, पृ.2
2. साखी, इलाहाबाद, प्रवेशांक, अक्टूबर-दिसम्बर, 1992, पृ. 34
3. इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1995, नई दिल्ली, पृ.22
4. कथाक्रम, अंक-5 अप्रैल 1999, लखनऊ, पृ.94
5. हंस, जनवरी 1999, नई दिल्ली, पृ.148
6. वही, पृ.148
7. हंस, अगस्त 1998, नई दिल्ली, पृ.13
8. हंस, मार्च 1999, एक घरेलू प्रेमसाख्यान, पृ.88



9. कसौटी, अंक-2, जुलाई-सितम्बर 1999, पटना, पृ.123
10. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरि.सा. अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ.
11. वही, पृ.273
12. वही, पृ.227
13. कामायनी : एक पुनर्विचार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ.23
14. इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 1995, पृ.200
15. वही, पृ.111
16. आजकल, अप्रैल 1996, विसंस्कृतिकरण के दौर में, पृ. 8
17. नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, 1981, पृ.116
18. नौकर की कमीज, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 1990, पृ.18
19. हंस, जनवरी 1993, पृ.83.
20. दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ.30
21. वह आदमी नया गरम कोट पहिनकर चला गया विचार की तरह, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1996, पृ.18
22. नौकर की कमीज, पृ.98
23. खिलेगा तो देखेंगे, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1996, पृ.30
24. नौकर की कमीज, पृ.7
25. खिलेगा तो देखेंगे, पृ.114
26. दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृ.34
27. वही, पृ.17
28. वही, पृ.38
29. वही, पृ.27
30. वह आदमी नया गरम कोट पहिनकर चला गया विचार की तरह, पृ.35
31. दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृ.31
32. खिलेगा तो देखेंगे, पृ.168
33. दीवार में एक खिड़की रहती थी. पृ.31
34. कसौटी, अक्टूबर-दिसम्बर, 1999, पृ.40
35. दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृ.16
36. वही, पृ.17
37. वही, पृ.29
38. आलोचना से आगे, सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण, दिल्ली, 2000, पृ. 101
39. हंस, जनवरी 1999, पृ.148
40. मार्क्स एंगेल्स की नजर में साहित्य और कला, इण्डिया पब्लिशर्स, लखनऊ, 1984, पृ.106
41. उपन्यास, रामचन्द्र शुक्ल, ना. प्र.त्रिका, काशी, भाग-15, 15 जुलाई 1910, पृ.15
42. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचंद, एक. के. पब्लिशर्स, नईदिल्ली, 1991, पृ.46
43. दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृ.49
44. साहित्य का समाजशास्त्र, मैनेजर पाण्डेय, हरि.सा. अकादेमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ.273
45. J.M. Bernrtein. The Philosophy of Novel. The Harverter Press, 1994, च.78-79
46. Michel Ziraffa. Fiction. Penguin, 1976, च.9
47. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ.12
48. ग.मा. मुक्तिबोध, एक अन्तकथा मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविताएँ, 1999, पृ.60
49. Selection from Cultural Writings, Macmillan, London, 1985, च.93
50. पूर्वग्रह, मई-जून 1984, भोपाल, पृ.123
51. कसौटी, जुलाई-सितम्बर 1999, पृ.123
52. हंस, जनवरी 1999, पृ.148
53. वही, अगस्त 1998, पृ.13
54. Journal of Art and Ideas, January & June 1985, च.14
55. दी स्टेटमैन, मिससेलेनी, सितम्बर 20, 1987, पृ.14
56. वह आदमी नया गरम कोट पहिनकर चला गया विचार की तरह, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ.66





बिहार में बहुआयामी गरीबी

ऐतिहासिक अभाव से संरचनात्मक रूपांतरण तक का सफर

एक विश्लेषणात्मक अध्ययन



डॉ. अशोक कुमार साहू

सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

अर्थशास्त्र

बी० डी० कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

सारांश (Abstract) : बिहार का आर्थिक इतिहास गरीबी के विरुद्ध एक दीर्घकालिक संघर्ष की गाथा रहा है। 1970 के दशक में जहाँ राज्य की लगभग 61.9% आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही थी (Planning Commission, 1973), वहीं पिछले दो दशकों में यहाँ क्रांतिकारी बदलाव देखा गया है। नीति आयोग के बहुआयामी गरीबी सूचकांक (MPI) के अनुसार, 2015-16 से 2019-21 के मध्य बिहार ने देश में सबसे तीव्र सुधार दर्ज किया, जिसमें करीब 2.25 करोड़ लोग गरीबी के जाल से बाहर निकले हैं (NITI Aayog, 2023)। इस अवधि में राज्य की गरीबी दर 51.9% से घटकर 33.76% रह गई है (NFHS-5, 2021)। यद्यपि क्षेत्रीय असमानताएं अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बुनियादी सुविधाओं जैसे बिजली, स्वच्छता और ईंधन की सुलभता ने इस परिवर्तन में मुख्य भूमिका निभाई है।

मुख्य बिंदु (Key Points)

- **अभूतपूर्व गिरावट :** बिहार ने मात्र पांच वर्षों (2015-2021) में बहुआयामी गरीबी में 18.13% की रिकॉर्ड कमी दर्ज की है, जो देश में किसी भी राज्य द्वारा की गई सबसे तीव्र गिरावट में से एक है (NITI Aayog, 2023)।
- **अग्रणी जिले :** विश्लेषण के अनुसार, पूर्वी चंपारण 29% की गिरावट के साथ सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने वाला जिला रहा, जिसके बाद मुजफ्फरपुर और गया में भी महत्वपूर्ण सुधार देखा गया है (NITI Aayog, 2023; NFHS-5, 2021)।
- **शहरी-ग्रामीण विभाजन :** क्षेत्रीय आंकड़ों से स्पष्ट है कि पटना में गरीबी 13.71% के न्यूनतम स्तर पर पहुँच गई है, जबकि इसके विपरीत सीमांचल क्षेत्र (जैसे अररिया और पूर्णिया) में यह अनुपात अभी भी 50% से ऊपर बना हुआ है (NFHS-5, 2021)।
- **तीव्रता बनाम व्यापकता :** राज्य में गरीबों की कुल संख्या (Headcount) में तो कमी आ रही है, लेकिन बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में गरीबी की 'तीव्रता' (Intensity) अभी भी एक बड़ी संरचनात्मक चुनौती बनी हुई है (Alkire - Foster, 2011, NITI Aayog, 2023)।
- **नीतिगत प्रभाव :** सांख्यिकीय प्रमाणों के आधार पर इस सफलता का मुख्य श्रेय बिहार सरकार के 'सात निश्चय' कार्यक्रम और केंद्र सरकार की पूरक योजनाओं (जैसे PMUY और PMAY) के माध्यम से बिजली, स्वच्छता और स्वच्छ ईंधन तक पहुँच में हुए विस्तार को जाता है (Bihar Economic Survey, 2024)।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण

बिहार की गरीबी का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य केवल आर्थिक अभावों तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह औपनिवेशिक शोषण और संरचनात्मक बाधाओं की एक लंबी श्रृंखला है।

औपनिवेशिक विरासत और जमींदारी व्यवस्था :

बिहार की गरीबी की जड़ें ब्रिटिश शासन के दौरान लागू की गई 'स्थायी बंदोबस्त' (Permanent Settlement, 1793) प्रणाली में निहित रहीं। इस व्यवस्था ने एक ऐसी शोषणकारी जमींदारी प्रथा को जन्म दिया, जिसने बिहार के कृषि प्रधान समाज को ऋणग्रस्तता और अर्ध-सामंती दासता के चक्र में फंसा दिया (Sarkar, 1983)। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि इसी दौर में बिहार 'अधिशेष उत्पादन' वाले क्षेत्र से बदलकर 'दीर्घकालिक अभाव' वाले क्षेत्र में परिवर्तित हो गया।



स्वतंत्रता के बाद की स्थिरता (1973-2005) :

1970 के दशक में बिहार की 61.9% आबादी गरीबी रेखा के नीचे थी (Planning Commission, 1973)। तत्कालीन साहित्यिक विमर्श और विकास अर्थशास्त्रियों ने बिहार को 'बीमारू' (BIMARU) राज्यों की श्रेणी में रखा, जहाँ गरीबी एक 'सांस्कृतिक और संरचनात्मक स्थिरता' (Structural Stagnation) के रूप में देखी जाती थी। 1990 से 2005 के बीच, गरीबी दर में गिरावट की गति अत्यंत धीमी रही और तेंदुलकर समिति के आकलन के अनुसार यह 54.4% के उच्च स्तर पर बनी रही (Tendulkar Committee, 2009)। इस कालखंड में पलायन (Migration) बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की एक अनिवार्य नियति बन गया।

संरचनात्मक रूपांतरण और वैचारिक बदलाव (2011-2026) :

2011 के बाद, बिहार के आर्थिक विमर्श में एक बड़ा वैचारिक परिवर्तन आया। गरीबी को केवल 'न्यूनतम आय' के रूप में नहीं, बल्कि 'बहुआयामी अभावों' (Multidimensional Deprivations) के रूप में देखा जाने लगा (Alkire - Foster, 2011)। राज्य सरकार के 'सात निश्चय' कार्यक्रम और महिला स्वयं सहायता समूहों (जीविका) के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक पूंजी का निर्माण हुआ।

नवीनतम सांख्यिकी (NITI Aayog, 2023) यह सिद्ध करती है कि बिहार अब उस 'ऐतिहासिक जड़ता' को तोड़ चुका है। बिजली की उपलब्धता, स्वच्छ ईंधन और पक्के आवासों के निर्माण ने उस सामाजिक ताने-बाने को मजबूत किया है जो औपनिवेशिक काल से जर्जर था। यह ऐतिहासिक रूपांतरण दर्शाता है कि बिहार अब 'निर्वाह अर्थव्यवस्था' (Subsistence Economy) से निकलकर 'विकास अर्थव्यवस्था' (Development Economy) की ओर अग्रसर है (Bihar Economic Survey, 2024)।

बिहार के सभी जिलों में गरीबी : पहले (2015-16) बनाम अब (2019-21)

जिला	पहले गरीबी % (2015-16)	अब गरीबी % (2019-21)	कुल सुधार (कमी)
पटना	24.35%	13.71%	10.64%
पूर्वी चंपारण	64.13%	35.13%	29.00% (सबसे अधिक)
मुजफ्फरपुर	49.34%	25.21%	24.13%
गया	53.68%	29.74%	23.94%
दरभंगा	52.12%	31.11%	21.01%
भागलपुर	44.20%	27.81%	16.39%
पूर्णिमा	63.38%	50.70%	12.68%
अररिया	64.44%	52.07%	12.37%
किशनगंज	65.11%	48.31%	16.80%
सीतामढ़ी	63.46%	43.22%	20.24%
रोहतास	40.75%	26.72%	14.03%
सारण (छपरा)	40.85%	24.14%	16.71%
बेगूसराय	46.12%	25.10%	21.02%
सहरसा	59.83%	41.74%	18.09%



मधुबनी	51.52%	34.70%	16.82%
सिवान	35.84%	17.41%	18.43%
भोजपुर (आरा)	39.51%	19.31%	20.20%
बक्सर	37.15%	21.84%	15.31%
नालंदा	45.41%	23.23%	22.18%
कटिहार	61.64%	44.33%	17.31%
मुंगेर	38.60%	24.46%	14.14%

Source: MPI; PROGRESS REVIEW 2023, Peg no 106, 1070

समय के साथ, गरीबी को देखने के दृष्टिकोण में व्यापक वैचारिक बदलाव आया है। 1990 से 2005 के बीच राज्य संरचनात्मक बाधाओं से जूझता रहा, जहाँ तेंदुलकर समिति के अनुसार गरीबी दर 54.4% पर स्थिर थी (Tendulkar Committee, 2009)। वास्तविक रूपांतरण 2011 के बाद शुरू हुआ। बिजली की सुलभता, 'सात निश्चय' जैसी योजनाओं और 'जीविका' (Bihar RLPS) के माध्यम से महिला सशक्तिकरण ने उस सामाजिक ताने-बाने को मजबूत किया जो दशकों से कमजोर था (Bihar Economic Survey, 2024)।

बहुआयामी गरीबी (MPI) की अवधारणा एवं गणना पद्धति

पारंपरिक आय-आधारित गरीबी के विपरीत, MPI स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन स्तर के अभावों का सामूहिक मापन है (UNDP - OPHI, 2023)।

गणितीय सूत्र : बहुआयामी गरीबी सूचकांक की गणना अल्कायर-फोस्टर (Alkire-Foster) पद्धति पर आधारित है (Alkire - Foster, 2011) :

समय के साथ, गरीबी को देखने के दृष्टिकोण में वैचारिक बदलाव आया। 1990 से 2005 के बीच राज्य संरचनात्मक बाधाओं से जूझता रहा, जहाँ तेंदुलकर समिति के अनुसार गरीबी दर 54.4% पर स्थिर थी। वास्तविक रूपांतरण 2011 के बाद शुरू हुआ। बिजली की सुलभता, 'सात निश्चय' जैसी योजनाओं और 'जीविका' के माध्यम से महिला सशक्तिकरण ने उस सामाजिक ताने-बाने को मजबूत किया जो दशकों से कमजोर था।

बहुआयामी गरीबी (MPI) की अवधारणा एवं गणना पद्धति

पारंपरिक आय-आधारित गरीबी के विपरीत, MPI स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन स्तर के अभावों का सामूहिक मापन है।

गणितीय सूत्र : बहुआयामी गरीबी सूचकांक की गणना अल्कायर-फोस्टर (Alkire-Foster) पद्धति पर आधारित है :

$$MPI = H \times A$$

- **H (Headcount Ratio) :** उन लोगों का प्रतिशत जो बहुआयामी रूप से गरीब हैं।
- **A (Intensity of Poverty) :** गरीबी की औसत तीव्रताय यह मापता है कि गरीब परिवार औसतन कितने प्रतिशत भारित मानकों (Weighted Indicators) में वंचित है (NITI Aayog, 2023)।

शोध कार्यप्रणाली (Methodology)

इस लेख में एक व्यवस्थित मिश्रित शोध पद्धति (Mixed Research Methodology) का उपयोग किया गया है

1. **सांख्यिकीय तुलना :** 1973 से 2021 तक के योजना आयोग और नीति आयोग के आंकड़ों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन (Planning Commission, 1973; NITI Aayog, 2023)।

2. **MPI दृष्टिकोण :** स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन स्तर के 12 मानकों (जैसे पोषण, स्कूली शिक्षा, स्वच्छता, और बैंक खाते) का सूक्ष्म विश्लेषण।



3. क्षेत्रीय विश्लेषण : बिहार के सभी 38 जिलों का भौगोलिक और सांख्यिकीय वर्गीकरण ताकि क्षेत्रीय विषमताओं को समझा जा सके।

बिहार के सभी 38 जिलों का विस्तृत डेटा (Headcount और Intensity)

नीति आयोग के आंकड़ों (2019-21) के अनुसार जिला-वार स्थिति निम्नलिखित है :

जिला	Headcount (H) %	Intensity (A) %	MPI (H \times A)
पटना	13.71%	42.10%	0.058
सिवान	17.41%	43.15%	0.075
भोजपुर	19.31%	43.30%	0.084
मुजफ्फरपुर	25.21%	44.52%	0.112
रोहतास	26.72%	44.20%	0.118
गया	29.74%	45.10%	0.134
पूर्वी चंपारण	35.13%	46.20%	0.162
अररिया	52.07%	50.12%	0.261
पूर्णिया	50.70%	48.90%	0.248
किशनगंज	48.31%	49.50%	0.239
मधेपुरा	47.10%	48.20%	0.227
सहरसा	41.74%	47.10%	0.197
कटिहार	44.33%	48.40%	0.215
सीतामढ़ी	43.22%	47.50%	0.205
मधुबनी	34.70%	45.80%	0.159
बेगूसराय	25.10%	44.30%	0.111
भागलपुर	27.81%	44.80%	0.125
दरभंगा	31.11%	45.30%	0.141
नालंदा	23.23%	43.90%	0.102
सारण	24.14%	44.10%	0.106
वैशाली	23.40%	43.95%	0.103
मुंगेर	24.46%	44.25%	0.108
समस्तीपुर	30.50%	45.15%	0.138
जमुई	38.40%	46.50%	0.178
नवादा	30.20%	45.20%	0.136
औरंगाबाद	24.20%	44.15%	0.107
बक्सर	21.84%	43.70%	0.095



गोपालगंज	22.10%	43.80%	0.097
जहानाबाद	22.10%	43.90%	0.097
शेखपुरा	26.40%	44.60%	0.118
लखीसराय	31.20%	45.40%	0.142
बांका	36.50%	46.10%	0.168
खगड़िया	37.40%	46.30%	0.173
शिवहर	38.20%	46.80%	0.179
अरवल	23.50%	44.00%	0.103
कैमूर	30.10%	45.00%	0.135
पश्चिमी चंपारण	41.50%	47.40%	0.197
सुपौल	42.10%	47.60%	0.200

Source: MPI; PROGRESS REVIEW 2023, Peg no 107

उपरोक्त आंकड़ों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर बिहार के विकास मॉडल और क्षेत्रीय विषमताओं के संबंध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण निष्कर्ष उभर कर सामने आते हैं:

अभूतपूर्व सुधार और 'पूर्वी चंपारण' मॉडल : डेटा का सबसे प्रभावशाली पहलू पूर्वी चंपारण का प्रदर्शन है। यहाँ गरीबी की दर में 29% की भारी गिरावट दर्ज की गई है (NITI Aayog, 2023)। यह दर्शाता है कि लक्षित सरकारी योजनाओं (जैसे सामाजिक सुरक्षा और बुनियादी ढांचा) ने उन क्षेत्रों में सबसे अधिक प्रभाव डाला है जहाँ पहले अभाव की सघनता अधिक थी। यह विकास अर्थशास्त्र के 'कैच-अप इफेक्ट' (Catch-up Effect) का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ पिछड़े क्षेत्र तीव्र गति से सुधार करते हैं।

विकास के केंद्र : पटना, सिवान और भोजपुर : पटना (13.71%) और सिवान (17.41%) जैसे जिले बिहार के नए समृद्ध केंद्र बनकर उभरे हैं (NFHS-5, 2021)। पटना की सफलता का आधार शहरीकरण और सेवाओं का विस्तार है, जबकि सिवान और भोजपुर (आरा) जैसे क्षेत्रों में 'रेमिटेंस इकोनॉमी' (Remittance Economy) और बेहतर साक्षरता दर ने गरीबी को कम करने में उत्प्रेरक का काम किया है। इन जिलों में सुधार की दर स्थिर और ठोस है।

गरीबी की तीव्रता और अररिया की स्थिति : आंकड़ों से स्पष्ट है कि अररिया न केवल सबसे अधिक गरीबों वाला जिला है (H = 52.07%), बल्कि वहाँ गरीबी की तीव्रता भी सबसे अधिक है (A = 50.12%) (NITI Aayog, 2023)। इसका अर्थ यह है कि अररिया का एक औसत गरीब परिवार निर्धारित 12 मानकों में से आधे से अधिक (6 से ज्यादा) अभावों का सामना एक साथ कर रहा है।

पटना और सिवान का 'लो-इंटेंसिटी' मॉडल : पटना और सिवान जैसे जिलों में न केवल गरीबों की संख्या कम हुई है, बल्कि वहाँ गरीबी की तीव्रता (A) भी 42-43% के आसपास है। यह दर्शाता है कि इन जिलों के गरीब लोग अब 'बहु-अभाव' (Multiple Deprivations) से बाहर निकल रहे हैं और उनके पास शिक्षा या स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ पहुँच रही हैं (UNDP - OPHI, 2023; NITI Aayog, 2023)।

सीमांचल और कोसी क्षेत्र की चुनौतियाँ : विश्लेषण का एक चिंताजनक पक्ष अररिया (52.07%), पूर्णिया (50.70%) और किशनगंज (48.31%) जैसे जिलों में दिखता है (NITI Aayog, 2023)। यद्यपि इन जिलों में भी 12% से 16% के बीच सुधार हुआ है, लेकिन यहाँ अब भी आधी आबादी बहुआयामी गरीबी की चपेट में है। इसका मुख्य कारण इन क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति (बार-बार आने वाली बाढ़), कृषि विस्थापन और शिक्षा के बुनियादी ढांचे का अभाव है। यहाँ गरीबी का 'सांद्रता प्रभाव'



(Concentration Effect) अधिक है, जिसे दूर करने के लिए अधिक गहन हस्तक्षेप की आवश्यकता है।

व्यापारिक केंद्रों में सुधार : मुजफ्फरपुर (-24.13%) और बेगूसराय (-21.02%) के आंकड़ों में सुधार यह इंगित करता है कि उत्तर और मध्य बिहार के व्यापारिक केंद्रों में आर्थिक गतिविधियों में तेजी आई है। इन जिलों ने बहुआयामी गरीबी के 'जीवन स्तर' (Standard of Living) वाले संकेतकों पर बहुत अच्छा स्कोर किया है (Bihar Economic Survey, 2024)।

- यद्यपि इन जिलों में भी 12% से 16% के बीच सुधार हुआ है, लेकिन यहाँ अब भी आधी आबादी बहुआयामी गरीबी की चपेट में है।
- इसका मुख्य कारण इन क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति (बार-बार आने वाली बाढ़), कृषि विस्थापन और शिक्षा के बुनियादी ढांचे का अभाव है। यहाँ गरीबी का 'सांद्रता प्रभाव' (Concentration Effect) अधिक है, जिसे दूर करने के लिए अधिक गहन हस्तक्षेप की आवश्यकता है।

सुधार की गुणवत्ता (Intensity of Poverty)

आंकड़ों से स्पष्ट है कि बिहार के अधिकांश जिलों ने 20% से अधिक का सुधार दर्ज किया है (NITI Aayog, 2023)। यह केवल आय में वृद्धि नहीं, बल्कि 'असेट क्रिएशन' (Asset Creation) का परिणाम है। नल का जल, बिजली की उपलब्धता और पक्के मकानों के निर्माण ने इन जिलों के 'डिप्रिवेशन स्कोर' (Deprivation Score) को काफी कम किया है, जिससे गरीबी की तीव्रता (Intensity) में उल्लेखनीय कमी आई है (Alkire - Foster, 2011)।

निष्कर्ष: यह डेटा प्रमाणित करता है कि बिहार में गरीबी अब एक समान नहीं रही। राज्य का पश्चिमी और मध्य भाग तेजी से गरीबी रेखा के ऊपर उठ रहा है, जबकि उत्तर-पूर्वी भाग अभी भी संक्रमण काल में है। आर्थिक दृष्टि से, बिहार अब 'सर्वाइवल' (Survival) से 'डेवलपमेंट' (Development) की ओर बढ़ रहा है (Bihar Economic Survey, 2024)।

नीतिगत हस्तक्षेपरू केंद्र और राज्य सरकारों का संयुक्त प्रभाव :

बिहार में बहुआयामी गरीबी (MPI) के आंकड़ों में जो ऐतिहासिक कमी आई है, वह केंद्र और राज्य सरकारों की रणनीतिक योजनाओं का एक संयुक्त परिणाम है (NITI Aayog, 2023)।

राज्य सरकार के प्रभावी कदम : 'सात निश्चय' और सामाजिक सुरक्षा

- **हर घर नल का जल :** इस योजना ने डच-के श्पेयजलश संकेतक को सकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। जहाँ पहले शुद्ध पानी की उपलब्धता न्यूनतम थी, अब यह 95% से अधिक घरों तक पहुँच चुकी है (NFHS-5, 2021)।
- **जीविका (महिला सशक्तिकरण) :** बिहार की 'जीविका' (NRLM) के तहत 1.2 करोड़ से अधिक महिलाओं को स्वयं सहायता समूहों से जोड़ा गया, जिससे अति-गरीब परिवारों की औसत आय में 30-40% की वृद्धि हुई (World Bank, 2022, Bihar RLPS, 2023)।
- **बिजली और सड़क :** 'हर घर बिजली' योजना के सफल क्रियान्वयन से बिजली के अभाव वाले परिवारों की संख्या में 90% से अधिक की गिरावट दर्ज की गई (NITI Aayog, 2021)।

केंद्र सरकार के प्रमुख कदम : बुनियादी ढांचा और जीवन स्तर

- **प्रधानमंत्री आवास योजना (PMAY) :** MPI के 'आवास' इंडिकेटर में सुधार का मुख्य श्रेय इसी योजना को जाता है, जिससे कच्चे मकानों में रहने वाली आबादी में 15-20% की कमी आई (Ministry of Housing - Urban Affairs, 2023)।
- **स्वच्छ भारत मिशन (SBM) :** स्वच्छता संकेतकों में ऐतिहासिक सुधार हुआ, 2015-16 के 25% की तुलना में 2019-21 तक शौचालय की पहुँच 60-70% के पार पहुँच गई (NFHS-5, 2021)।
- **प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY) :** खाना पकाने के ईंधन के मोर्चे पर बिहार ने 30% से अधिक का सकारात्मक बदलाव दर्ज किया है, जिसने स्वास्थ्य और जीवन स्तर दोनों को बेहतर बनाया (NITI Aayog, 2023)।



संयुक्त प्रयासरू स्वास्थ्य और पोषण

- **आयुष्मान भारत** : स्वास्थ्य पर होने वाले 'आउट ऑफ पॉकेट' खर्च को कम करने में इस योजना की बड़ी भूमिका रही है, जिससे परिवारों को चिकित्सा ऋण के जाल से सुरक्षा मिली (PM-JAY Report, 2023)।
- **पोषण अभियान** : आंगनवाड़ी केंद्रों के सुदृढीकरण से 'बाल पोषण' और 'स्कूल उपस्थिति' के संकेतकों में 10-12% का सुधार देखा गया है (NFHS-5, 2021)।

9. नीतिगत हस्तक्षेप : केंद्र और राज्य सरकारों का संयुक्त प्रभाव

बिहार में बहुआयामी गरीबी (MPI) के आंकड़ों में जो ऐतिहासिक कमी आई है, वह केंद्र और राज्य सरकारों की रणनीतिक योजनाओं का एक संयुक्त परिणाम है (NITI Aayog, 2023)।

राज्य सरकार के प्रभावी कदमरू 'सात निश्चय' और सामाजिक सुरक्षा

- **हर घर नल का जल** : इस योजना ने MPI के 'पेयजल' संकेतक को सकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। जहाँ पहले शुद्ध पानी की उपलब्धता न्यूनतम थी, अब यह 95% से अधिक घरों तक पहुँच चुकी है (NFHS-5, 2021)।
- **जीविका (महिला सशक्तिकरण)** : बिहार की 'जीविका' (NRLM) के तहत 1.2 करोड़ से अधिक महिलाओं को स्वयं सहायता समूहों से जोड़ा गया, जिससे अति-गरीब परिवारों की औसत आय में 30-40% की वृद्धि हुई (World Bank, 2022, Bihar RLPS, 2023)।
- **बिजली और सड़क** : 'हर घर बिजली' योजना के सफल क्रियान्वयन से बिजली के अभाव वाले परिवारों की संख्या में 90% से अधिक की गिरावट दर्ज की गई (NITI Aayog, 2021)।

केंद्र सरकार के प्रमुख कदम : बुनियादी ढांचा और जीवन स्तर

- **प्रधानमंत्री आवास योजना (PMAY)** : MPI के 'आवास' इंडिकेटर में सुधार का मुख्य श्रेय इसी योजना को जाता है, जिससे कच्चे मकानों में रहने वाली आबादी में 15-20% की कमी आई (Ministry of Housing & Urban Affairs, 2023)।
- **स्वच्छ भारत मिशन (SBM)** : स्वच्छता संकेतकों में ऐतिहासिक सुधार हुआय 2015-16 के 25% की तुलना में 2019-21 तक शौचालय की पहुँच 60-70% के पार पहुँच गई (NFHS-5, 2021)।
- **प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY)** : खाना पकाने के ईंधन के मोर्चे पर बिहार ने 30% से अधिक का सकारात्मक बदलाव दर्ज किया है, जिसने स्वास्थ्य और जीवन स्तर दोनों को बेहतर बनाया (NITI Aayog, 2023)।

संयुक्त प्रयासरू स्वास्थ्य और पोषण

- **आयुष्मान भारत** : स्वास्थ्य पर होने वाले 'आउट ऑफ पॉकेट' खर्च को कम करने में इस योजना की बड़ी भूमिका रही है, जिससे परिवारों को चिकित्सा ऋण के जाल से सुरक्षा मिली (PM-JAY Report, 2023)।
- **पोषण अभियान** : आंगनवाड़ी केंद्रों के सुदृढीकरण से 'बाल पोषण' और 'स्कूल उपस्थिति' के संकेतकों में 10-12% का सुधार देखा गया है (NFHS-5, 2021)।

केंद्र सरकार के प्रमुख कदम : बुनियादी ढांचा और जीवन स्तर

प्रमुख सुधार संकेतक : एक तुलनात्मक तालिका

संकेतक (Indicator)	NFHS-4 (2015-16) में अभाव	NFHS-5 (2019-21) में अभाव	सुधार की स्थिति
खाना पकाने का ईंधन	93.6%	61.1%	बहुत बड़ा सुधार
स्वच्छता (Sanitation)	78.4%	50.6%	ऐतिहासिक सुधार
बिजली (Electricity)	39.4%	3.7%	लगभग पूर्ण सुधार
आवास (Housing)	85.3%	75.1%	मध्यम सुधार



पेयजल (Drinking Water) 12.1% 6.1% अच्छा सुधार

Source;NFHS-4 (2015-16) and NFHS-5(2019-21)

आंकड़ों का यह विश्लेषण स्पष्ट करता है कि बिहार में गरीबी केवल आय बढ़ने से कम नहीं हुई, बल्कि उन बुनियादी अभावों को दूर करने से कम हुई है जो पीढ़ियों से एक गरीब परिवार की पहचान थे। राज्य की 'जमीनी पहुंच' और केंद्र की 'बड़ी योजनाओं' के समन्वय ने बिहार को 2.25 करोड़ लोगों को गरीबी से बाहर निकालने में मदद की है (NITI Aayog, 2023)।

बिहार ने बुनियादी सुविधाओं (सड़क, बिजली, पानी) के मोर्चे पर शानदार सफलता पाई है, लेकिन MPI के आंकड़ों का सूक्ष्म विश्लेषण यह भी बताता है कि अभी भी 'पोषण' (Nutrition), 'शिक्षा' और 'प्रति व्यक्ति आय' जैसे क्षेत्रों में काफी काम बाकी है (NFHS-5, 2021, Bihar Economic Survey, 2024)। अगले चरण में बिहार को 'सुविधा संपन्न गरीब' से 'आर्थिक रूप से समृद्ध' राज्य बनाने के लिए निम्नलिखित रणनीतिक कदम उठाने चाहिए।

पोषण और स्वास्थ्य सुरक्षा पर 'मिशन मोड' में कार्य

डेटा के अनुसार, बिहार में अभी भी कुपोषण एक बड़ी बाधा है। नीति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, राज्य में पोषण संबंधी अभाव गरीबी के प्रमुख कारकों में से एक है (NITI Aayog, 2023)।

- **सुझाव** : आंगनवाड़ी केंद्रों को आधुनिक 'प्री-स्कूल' में बदलना होगा। 'मिल्क पाउडर' या 'पंजीरी' वितरण के बजाय, स्थानीय स्तर पर उत्पादित पोषक आहार (जैसे मखाना, मोटा अनाज) को मध्याह्न भोजन (Mid-day Meal) का हिस्सा बनाना चाहिए।
- **प्रजनन स्वास्थ्य** : मातृ मृत्यु दर (MMR) और बाल मृत्यु दर को कम करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में Tertiary Care (विशेषज्ञ चिकित्सा) केंद्रों की संख्या बढ़ानी होगी (MoHFW, 2021)।

कृषि-आधारित औद्योगिकीकरण (Agro-Industries)

बिहार एक कृषि प्रधान राज्य है, लेकिन गरीबी तब तक खत्म नहीं होगी जब तक किसान 'मजदूर' के बजाय 'उद्यमी' न बने (World Bank, 2022)।

- **सुझाव** : राज्य को 'फूड प्रोसेसिंग हब' के रूप में विकसित करना चाहिए। मुजफ्फरपुर की लीची, पूर्णिया-कटिहार का मखाना और भागलपुर के आम के लिए स्थानीय स्तर पर प्रोसेसिंग यूनिट्स लगानी चाहिए ताकि किसानों को उनकी फसल का उचित मूल्य मिले और स्थानीय रोजगार पैदा हो (Bihar Economic Survey, 2024)।

शिक्षा की गुणवत्ता और तकनीकी कौशल (Skill Development)

MPI आंकड़ों में 'स्कूल उपस्थिति' (School Attendance) तो सुधरी है, लेकिन 'लर्निंग आउटकम' (सीखने की गुणवत्ता) अभी भी राष्ट्रीय औसत से कम है (ASER Report, 2023, NITI Aayog, 2023)।

- **सुझाव** : स्कूलों में 'डिजिटल लर्निंग' को अनिवार्य करना और उच्च शिक्षा को बाजार की मांग (Market Demand) से जोड़ना। बिहार के हर अनुमंडल (Sub-division) में एक Skill Center होना चाहिए जो एआई (AI), डेटा एनालिटिक्स और कोडिंग जैसे आधुनिक कौशल सिखाए।

सीमांचल और कोसी क्षेत्र के लिए 'बाढ़-मुक्त विकास मॉडल'

आंकड़ों ने स्पष्ट किया है कि अररिया, पूर्णिया और किशनगंज जैसे जिले विकास की दौड़ में पीछे हैं क्योंकि यहाँ गरीबी की तीव्रता (Intensity) 48% से अधिक है (NITI Aayog, 2023)।

- **सुझाव** : इन क्षेत्रों के लिए 'Special Economic Zone' (SEZ) का निर्माण करना चाहिए। बाढ़ नियंत्रण के लिए नदियों को जोड़ने (River Interlinking) के प्रोजेक्ट्स में तेजी लानी होगी ताकि हर साल होने वाले अरबों के आर्थिक नुकसान को रोका



जा सके।

सूक्ष्म एवं लघु उद्योगों (MSME) का क्लस्टर निर्माण

बिहार से होने वाले पलायन (Migration) को रोकने के लिए स्थानीय स्तर पर रोजगार सृजन अनिवार्य है।

- **सुझाव** : तमिलनाडु और गुजरात की तर्ज पर 'औद्योगिक क्लस्टर' विकसित करने चाहिए। जैसे गया में टेक्सटाइल हब, पटना के आसपास आईटी पार्क और मुंगेर-भागलपुर में सिल्क एवं हस्तशिल्प क्लस्टर (Ministry of MSME, 2023)।

भावी निवेश और लक्ष्य तालिका (Strategic Vision 2030)

फोकस क्षेत्र	आवश्यक कदम	अपेक्षित परिणाम
प्रति व्यक्ति आय	सूक्ष्म एवं लघु उद्योग (MSME) क्लस्टर की स्थापना	पलायन में 50% तक की कमी (World Bank, 2022)
पोषण	फोर्टिफाइड अनाज और स्थानीय पोषक आहार का वितरण	कुपोषण मुक्त बचपन और बेहतर मानव पूंजी
डिजिटल पहुंच	ग्रामीण ब्रॉडबैंड और 'भारत नेट' विस्तार	डिजिटल साक्षरता और ई-गवर्नेंस में वृद्धि
पूंजीगत व्यय	निजी निवेश को प्रोत्साहन और 'लैंड बैंक' का निर्माण	'ईज ऑफ डूइंग बिजनेस' के साथ नए रोजगार सृजन

बिहार सरकार को अब 'कल्याणकारी योजनाओं' (Welfare Schemes) से आगे बढ़कर 'पूंजी निर्माण' (Wealth Creation) वाली नीतियों पर ध्यान देना होगा। जब तक राज्य में निजी निवेश के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बनेगा, तब तक बहुआयामी गरीबी के अंतिम स्तर को समाप्त करना चुनौतीपूर्ण होगा (Bihar Economic Survey, 2024)।

निष्कर्ष : बिहार में बहुआयामी गरीबी के विरुद्ध संघर्ष और भविष्य की संभावनाएँ

उपरोक्त आंकड़ों और विश्लेषणों का समाहार यह स्पष्ट करता है कि बिहार अब उस 'ऐतिहासिक जड़ता' के दौर से बाहर आ चुका है, जिसने इसे दशकों तक गरीबी के चक्र में बांधे रखा था। 1973-74 में 61.9% की भयावह गरीबी (Planning Commission, 1973) से लेकर 2019-21 में 33.76% तक का सफर केवल सांख्यिकीय सुधार नहीं, बल्कि बिहार के सामाजिक-आर्थिक ढांचे में आए गहरे संरचनात्मक बदलाव का प्रमाण है।

डेटा-आधारित मुख्य निष्कर्ष :

- **सामूहिक रूपांतरण** : पिछले कुछ वर्षों में 2.25 करोड़ लोगों का गरीबी से बाहर निकलना यह सिद्ध करता है कि बुनियादी ढांचे (सड़क, बिजली, पानी) पर किए गए 'पूंजीगत व्यय' का लाभ अब समाज के अंतिम पायदान तक पहुँचने लगा है (NITI Aayog, 2023)।
- **क्षेत्रीय विविधता और विषमता** : विश्लेषण से यह उजागर होता है कि बिहार के विकास में एक स्पष्ट भौगोलिक अंतर है। जहाँ पटना (13.71%), सिवान (17.41%) और भोजपुर (19.31%) जैसे जिले राष्ट्रीय मानकों के करीब पहुँच रहे हैं, वहीं सीमांचल के जिले (अररिया, पूर्णिया, किशनगंज) में गरीबी की 'तीव्रता' (A) अभी भी 48-50% के बीच एक गंभीर चुनौती बनी हुई है (NFHS-5, 2021)।
- **सुधार की गुणवत्ता** : पूर्वी चंपारण (-29%) और मुजफ्फरपुर (-24%) जैसे जिलों में आई तीव्र गिरावट यह दर्शाती है कि जब सरकारी योजनाओं (सात निश्चय, जीविका, उज्ज्वला) का प्रभावी क्रियान्वयन होता है, तो 'कैच-अप प्रभाव' (Catch-up Effect) के माध्यम से पिछड़े क्षेत्र भी राष्ट्रीय औसत की ओर तीव्र प्रगति कर सकते हैं।

भावी दृष्टिकोण :

यद्यपि 'सुविधाओं के अभाव' (Living Standards) में सुधार हुआ है, लेकिन बिहार के लिए अगली बड़ी चुनौती 'पोषण'



(Nutrition) और 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा' (Quality Education) के मोर्चे पर है। लेख में प्रस्तुत MPI सूत्र ($MPI = H \times A$) यह संकेत देता है कि अब हमें केवल गरीबों की संख्या (Headcount) कम करने पर ही नहीं, बल्कि गरीबी की गंभीरता (Intensity) को समाप्त करने के लिए 'कृषि-आधारित औद्योगिकीकरण' और 'स्थानीय मूल्य श्रृंखला' (Local Value Chain) के निर्माण पर ध्यान केंद्रित करना होगा (Alkire - Foster, 2011)।

अंतिम टिप्पणी :

निष्कर्षतः, बिहार 'अभाव से अवसर' की ओर संक्रमण कर रहा है। यदि सीमांचल जैसे पिछड़े क्षेत्रों के लिए 'क्षेत्र-विशिष्ट विकास मॉडल' अपनाया जाए और पलायन को रोकने के लिए MSME क्लस्टर्स विकसित किए जाएं, तो वह दिन दूर नहीं जब बिहार राष्ट्रीय विकास के इंजन के रूप में उभरेगा। यह सांख्यिकीय सुधार बिहार के आर्थिक पुनर्जागरण की केवल पहली सीढ़ी है।

References

- 1 Alkire, S., & Foster, J. (2011). Counting and multidimensional poverty measurement. *Journal of Public Economics*, 95(7-8), 476-487. (Original source for the AF-Methodology used by NITI Aayog).
- 2 Finance Department, Government of Bihar. (2024). Bihar Economic Survey 2023-24. Patna: Government of Bihar. (Source for State GSDP, Per Capita Income, and Seven Resolves impacts).
- 3 Finance Department, Government of Bihar. (2025). Bihar Economic Survey 2024-25. Patna: Government of Bihar. (Source for updated structural changes and capital expenditure).
- 4 JEEViKA - BRLPS. (2023). Impact Assessment Report on Women Empowerment and Rural Livelihoods. Bihar Rural Livelihoods Promotion Society, Government of Bihar.
- 5 Ministry of Health & Family Welfare (MoHFW). (2017). National Family Health Survey (NFHS-4), 2015-16: India/Bihar Report. Mumbai: International Institute for Population Sciences (IIPS).
- 6 Ministry of Health & Family Welfare (MoHFW). (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019-21: State Fact Sheet - Bihar. Mumbai: IIPS. (Primary data source for 12 MPI indicators).
- 7 NITI Aayog. (2021). National Multidimensional Poverty Index: Baseline Report based on NFHS-4. New Delhi: Government of India.
- 8 NITI Aayog. (2023). National Multidimensional Poverty Index: A Progress Review 2023. New Delhi: Government of India. (Primary source for District-wise Headcount Ratio, Intensity, and MPI scores).
- 9 Planning Commission of India. (1973). Report of the Task Force on Projections of Minimum Needs and Effective Consumption Demand. New Delhi: Government of India. (Reference for historical 61.9% poverty rate).
- 10 Planning Commission of India. (2009). Report of the Expert Group to Review the Methodology for Estimation of Poverty (Tendulkar Committee Report). New Delhi: Government of India.
- 11 Planning Commission of India. (2014). Report of the Expert Group to Review the Methodology for Measurement of Poverty (Rangarajan Committee Report). New Delhi: Government of India.
- 12 Sarkar, S. (1983). *Modern India 1885-1947*. Delhi: Macmillan. (Reference for the historical impact of the Permanent Settlement and Zamindari system).
- 13 UNDP & OPHI. (2023). *Global Multidimensional Poverty Index: Unstacking comparative patterns*. New York/Oxford: United Nations Development Programme and Oxford Poverty and Human Development Initiative.
- 14 World Bank. (2022). *Bihar: Poverty, Growth, and Inequality Report*. Washington, DC: World Bank Group. (Reference for historical economic stagnation and structural constraints).

Technical Methodology Notes

1. Headcount Ratio (H): Percentage of the population in a district identified as multidimensionally poor based on the 33.33% deprivation cut-off.
2. Intensity of Poverty (A): The average share of weighted deprivations (out of 12 indicators) experienced by the poor. Higher 'A' indicates deeper poverty.
3. MPI Score ($H \times A$): The final index value (ranging from 0 to 1), where 0 represents no poverty and 1 represents universal absolute deprivation.
4. Indicators: Calculation assigns equal weight (1/3 each) to Health, Education, and Standard of Living, further subdivided into 12 indicators (Nutrition, ANC, Schooling, Housing, Bank Account, etc.).
1. Intensity of Poverty (A): Measures the average share of weighted deprivations (out of the 12 indicators) that poor people experience. A higher A indicates more severe poverty.
2. MPI Score ($H \times A$): The final index value ranging from 0 to 1. An MPI score of 0 represents no poverty, while 1 represents universal absolute deprivation.
3. Absolute Improvement: The reduction values shown in the tables are calculated as the absolute difference between NFHS-4 (%) and NFHS-5 (%) data points.
4. Weighted Indicators: The MPI calculation assigns equal weight (1/3 each) to Health, Education, and Standard of Living, further subdivided into 12 specific indicators including nutrition, schooling, housing, and bank accounts.



पर्यावरण संरक्षण में फणीश्वरनाथ रेणु के साहित्य की भूमिका एवं वर्तमान प्रासंगिकता



डॉ मनीषा प्रियम्बदा

सहायक प्राध्यापक

भूगोल विभाग

बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

सारांश : फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी साहित्य के प्रमुख आंचलिक कथाकार हैं, जिनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन, लोक-संस्कृति और प्रकृति का अत्यंत सजीव चित्रण मिलता है। उनके साहित्य में पर्यावरण चेतना अत्यंत प्रखर है, जो प्रकृति, नदियों, वनों और जनजीवन के बीच अटूट संबंध को रेखांकित करती है। फणीश्वरनाथ रेणु के साहित्य में 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में वे जल-जीवन-हरियाली, जैव विविधता, पारिस्थितिक संतुलन और स्थानीय प्रकृति के दोहन के खिलाफ सचेत करते हैं। यह शोध-पत्र रेणु के साहित्य में निहित पर्यावरणीय चेतना, सतत विकास की अवधारणा और लोक-पर्यावरण संबंध की व्याख्या करता है।

मुख्य शब्द : पर्यावरण चेतना, आंचलिकता, पारिस्थितिकी संतुलन, फणीश्वरनाथ रेणु, वृक्षारोपण, मृदा संरक्षण, जल प्रबंधन, जैव विविधता, बाढ़ संकट, कोसी अंचल, परती भूमि, लोक संस्कृति, जलवायु परिवर्तन, सतत विकास।

प्रस्तावना : फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) ने आंचलिक उपन्यास और कहानी के माध्यम से ग्रामीण भारत के जीवन-संघर्ष, संस्कृति और प्राकृतिक परिवेश को केंद्र में रखा। उनका साहित्य प्रकृति और मनुष्य के सहजीवी संबंध को रेखांकित करता है। उनकी दृष्टि में पर्यावरण केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य भी है। आज के पर्यावरणीय संकट/जलवायु परिवर्तन, बाढ़-सूखा, जल-संकट, भूमि-अवनयन और अनियोजित शहरीकरण के दौर में फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होता है। उनकी रचनाओं में निहित पारिस्थितिक संवेदना आज की चुनौतियों के समाधान की दिशा सुझाती है।

1. 'मैला आंचल' : बाढ़ और ग्रामीण पारिस्थितिकी :

'मैला आंचल' (1954) में कोसी अंचल का विस्तृत चित्रण है। बाढ़ और महामारी का वर्णन पर्यावरणीय संकट की ओर संकेत करता है-

"कोसी की धारा कभी जीवन देती है, तो कभी उसी जीवन को

लील भी जाती है।"

यह कथन नदी के द्वैत स्वरूप को दर्शाता है, वह पोषक भी है और विनाशक भी।

"यह धरती सोना उगलती है, पर उसके आंचल में कीचड़ भी कम नहीं।"

यहाँ 'आंचल' शब्द प्रकृति-माता का बिंब है। भूमि की उर्वरता और दलदलीपन दोनों साथ-साथ उपस्थित हैं, जो पारिस्थितिक जटिलता को दर्शाते हैं। जल-जमाव, दलदली भूमि और स्वास्थ्य समस्याएँ प्रकृति और मानव जीवन के संबंध को स्पष्ट करती हैं। ग्रामीण समाज का कृषि-आधारित जीवन प्राकृतिक चक्रों पर निर्भर है। रेणु ने दिखाया है कि प्राकृतिक असंतुलन सामाजिक और आर्थिक असंतुलन को जन्म देता है।

2. 'परती परिकथा' : भूमि संकट :

'परती परिकथा' में बंजर होती भूमि और कृषक जीवन की त्रासदी का चित्रण है। 'परती' केवल कृषि भूमि का प्रतीक नहीं, बल्कि सामाजिक जड़ता और पारिस्थितिक संकट का बिंब है-

"परती पड़ी जमीन जैसे किसी ने उसकी साँसें रोक दी हों।"

यहाँ भूमि के मानवीकरण का उदाहरण है। बंजर भूमि पर्यावरणीय उपेक्षा का परिणाम है।

"धरती की कोख सूख जाए तो गाँव की हँसी भी सूख जाती है।"

यह कथन स्पष्ट करता है कि भूमि-संकट सामाजिक और सांस्कृतिक संकट में परिवर्तित हो जाता है।

3. 'जितन परती' : सामुदायिक श्रम और भूमि संरक्षण :

'जितन परती' में भी परती पड़ी भूमि के माध्यम से ग्रामीण



अर्थव्यवस्था और पर्यावरणीय अवनति का चित्रण मिलता है। इस कथा में परती जमीन को उपजाऊ बनाने का प्रयास सामूहिक चेतना का प्रतीक है।

भूमि-सुधार, जल-प्रबंधन और सामुदायिक प्रयासों की आवश्यकता को 'जितन परती' के भीतर उभारा गया है,

"मिट्टी को फिर से जगाना होगा, नहीं तो यह गाँव भी परती हो जाएगा।"

यहाँ पर्यावरण संरक्षण सामुदायिक जिम्मेदारी के रूप में सामने आता है।

यहाँ रेणु सतत कृषि और भूमि संरक्षण की अप्रत्यक्ष वकालत करते हैं।

4. ऋणजल-धनजल : जल-संकट और संसाधन विमर्श :

'ऋणजल-धनजल' में जल को आर्थिक और नैतिक दोनों संदर्भों में देखा गया है। इस रचना में जल को 'ऋण' और 'धन' दोनों कहा गया है।

"जल ही जीवन का असली धन है, इसका ऋण चुकाना हर पीढ़ी का धर्म है।"

यह कथन आधुनिक 'जल-संरक्षण' अवधारणा से मेल खाता है। जल का दुरुपयोग भविष्य की पीढ़ियों पर ऋण के समान है। जल की कमी और असमान वितरण सामाजिक विषमता को जन्म देता है। वर्षा, नदी और जल-स्रोत ग्रामीण जीवन की धुरी हैं। जल प्रबंधन की विफलता पर्यावरणीय संकट को गहरा करती है। रेणु जी यहाँ जल-संरक्षण और सामुदायिक जिम्मेदारी की चेतना उत्पन्न करते हैं।

5. 'पटना जलप्रलय' : मानव निर्मित आपदा :

'पटना जलप्रलय' में बाढ़ की त्रासदी का चित्रण केवल प्राकृतिक आपदा नहीं, बल्कि मानवीय लापरवाही का परिणाम भी है-

"नदियाँ अपना रास्ता नहीं भूलतीं, हम ही उनका रास्ता रोक देते हैं।"

यह कथन पर्यावरणीय असंतुलन के मानवीय कारणों की ओर संकेत करता है। शहरीकरण और अव्यवस्थित विकास को रेणु ने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा- अनियोजित शहरीकरण, जल-निकासी व्यवस्था की विफलता, नदी-तंत्र के साथ छेड़छाड़।

रेणु संकेत करते हैं कि विकास यदि प्रकृति-विरोधी होगा तो विनाश अवश्यंभावी है।

6. 'वटबाबा' : वृक्ष और सांस्कृतिक पर्यावरण-

'वटबाबा' में वटवृक्ष केवल पेड़ नहीं, बल्कि सामुदायिक आस्था और सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है-

"वटबाबा के नीचे गाँव की साँस बसती है।"

वृक्ष को 'बाबा' कहकर संबोधित करना प्रकृति के प्रति श्रद्धा का द्योतक है तथा पेड़ सामुदायिक जीवन का केंद्र है।

"जिस दिन यह पेड़ गिरेगा, समझो गाँव का एक युग चला जाएगा।"

यह पंक्ति वृक्षों के संरक्षण के महत्व को रेखांकित करता है।

वृक्षों का संरक्षण सांस्कृतिक संरक्षण से जुड़ा है। रेणु जी की यह रचना पर्यावरणीय नैतिकता को स्थापित करती है।

7. 'जुलूस' : विकास और पर्यावरणीय क्षरण :

'जुलूस' में आधुनिकता और राजनीतिक हलचलों के बीच प्राकृतिक परिवेश का परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है।

"नई राहें बनती हैं तो पुरानी पगडडियाँ खो जाती हैं।"

यह कथन विकास और परंपरा के द्वंद्व को दर्शाता है, जिसमें पर्यावरणीय क्षरण की आशंका निहित है- लोक-संस्कृति का क्षरण, पारंपरिक संसाधनों का ह्रास, बाहरी प्रभावों से पारिस्थितिकी पर प्रभाव। रेणु विकास और पर्यावरण के संतुलन की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं।

रेणु के साहित्य में निहित पर्यावरण संरक्षण का संदेश

विषय	रेणु का दृष्टिकोण
मृदा संरक्षण	बंजर जमीन को उपजाऊ बनाना और रासायनिक प्रयोगों से बचना।
जल प्रबंधन	नदियों के स्वाभाविक बहाव का सम्मान और जलाशयों का रख-रखाव।
वृक्षारोपण	पेड़ों को परिवार के सदस्य की तरह मानना।
जैव विविधता	लोक गीतों और कहानियों के द्वारा पशु-पक्षियों के प्रति संवेदनशीलता।

रेणु जी के साहित्य की वर्तमान प्रासंगिकता :

फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य आज के पर्यावरणीय संकट/जलवायु परिवर्तन, बाढ़-सूखा, जल-संकट, भूमि-अवनयन और अनियोजित शहरीकरण के दौर में अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होता है। यद्यपि उन्होंने औपचारिक 'पर्यावरण-विमर्श' के समय से पहले लेखन किया, फिर भी



उनकी रचनाओं में निहित पारिस्थितिक संवेदना आज की चुनौतियों के समाधान की दिशा सुझाती है।

1. जलवायु परिवर्तन और बाढ़-संकट : उत्तर बिहार में हर वर्ष आने वाली बाढ़ आज भी लाखों लोगों को प्रभावित करती है। 'मैला आँचल' और 'पटना जलप्रलय' में बाढ़ का चित्रण सिर्फ प्राकृतिक घटना नहीं, बल्कि मानवीय हस्तक्षेप का परिणाम भी है।

"नदियाँ अपना रास्ता नहीं भूलतीं, हम ही उनका रास्ता रोक देते हैं।"

आज के संदर्भ में यह और अधिक अर्थपूर्ण है, क्योंकि तटबंध-नीति, अतिक्रमण और अव्यवस्थित निर्माण बाढ़ को और विकराल बना देते हैं। रेणु जी ने संकेत दिया है कि प्रकृति के साथ छेड़छाड़ मानव-समाज के लिए विनाशकारी है।

2. मृदा-अवनयन और कृषि संकट : 'परती परिकथा' और 'जितन परती' में बंजर होती भूमि आज के संदर्भ में मिट्टी की उर्वरता में गिरावट, रासायनिक कृषि, भू-जल दोहन और भूमि-अधिग्रहण जैसी समस्याओं से सम्बंधित है।

"धरती की कोख सूख जाए तो गाँव की हँसी भी सूख जाती है।"

आज ग्रामीण पलायन और कृषि संकट बढ़ रहा है, तो यह कथन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ का सटीक चित्रण करता है। रेणु का साहित्य सतत कृषि और सामुदायिक भूमि-प्रबंधन की आवश्यकता पर बल देता है।

3. जल-संकट और संसाधन-संरक्षण : 'ऋणजल - धनजल' में जल को नैतिक जिम्मेदारी के रूप में देखा गया है। वर्तमान समय में भू-जल स्तर में गिरावट, नदियों का प्रदूषण और जल-निजीकरण जैसे मुद्दे इस रचना को और भी प्रासंगिक बनाते हैं। रेणु का संदेश है कि जल केवल संसाधन नहीं, बल्कि सामुदायिक संपत्ति है जिसका संरक्षण पीढ़ियों की साझा जिम्मेदारी है।

4. वृक्ष और सांस्कृतिक पर्यावरण : 'वटबाबा' में वटवृक्ष सांस्कृतिक आस्था का प्रतीक है। आज जब वनों की कटाई और शहरी विस्तार के कारण हरित क्षेत्र घट रहे हैं, तब यह रचना वृक्षों के सांस्कृतिक और पारिस्थितिक महत्व को पुनर्समरण कराती है। वर्तमान पर्यावरण आंदोलन, जैसे 'चिपको आंदोलन' या 'सेव द ट्री' अभियान रेणु की संवेदना से मेल खाते हैं, जहाँ पेड़ केवल जैविक इकाई नहीं, बल्कि

जीवन-संरक्षक हैं।

5. अनियोजित विकास की आलोचना : 'जुलूस' में आधुनिकता के प्रभाव से बदलते ग्रामीण जीवन का चित्रण आज के 'डेवलपमेंट मॉडल' की आलोचना के रूप में पढ़ा जा सकता है।

"नई राहें बनती हैं तो पुरानी पगडिडियाँ खो जाती हैं।"

यह कथन आज के राजमार्गों, औद्योगिक परियोजनाओं और नगरीय विस्तार के संदर्भ में विचारणीय है, जहाँ विकास के साथ पर्यावरणीय संतुलन की उपेक्षा की जाती है।

6. लोक-ज्ञान और सतत विकास : रेणु के साहित्य में लोक-ज्ञान, परंपरागत कृषि-पद्धति और सामुदायिक जीवन-पद्धति का चित्रण मिलता है। वर्तमान में 'सस्टेनेबल डेवलपमेंट' की अवधारणा भी इसी सह-अस्तित्व पर आधारित है।

रेणु अप्रत्यक्ष रूप से यह बताते हैं कि

- स्थानीय ज्ञान प्रणाली पर्यावरण संरक्षण का आधार है।
- सामुदायिक सहभागिता से संसाधनों का संतुलित उपयोग संभव है।
- प्रकृति के साथ नैतिक संबंध स्थापित करना आवश्यक है।

समग्र मूल्यांकन :

आज सम्पूर्ण विश्व पर्यावरणीय संकट के दौर से गुजर रहा है। रेणु का साहित्य हमें निम्नलिखित संदेश देता है :

- प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व ही स्थायी विकास का मार्ग है।
- अनियंत्रित विकास पर्यावरणीय आपदा को जन्म देता है।
- जल, भूमि और वन-संपदा का संरक्षण सामूहिक जिम्मेदारी है।
- लोक-संस्कृति और पारिस्थितिकी परस्पर जुड़े हुए हैं।

निष्कर्ष : फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य आज के संदर्भ में केवल साहित्यिक धरोहर नहीं, बल्कि पर्यावरणीय मार्गदर्शक भी है। फणीश्वरनाथ रेणु का उनकी रचनाओं में निहित पारिस्थितिक संवेदना आज की चुनौतियों के समाधान की दिशा सुझाती है। उनकी रचनाएँ हमें यह सिखाती हैं कि पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या तकनीकी प्रश्न नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक प्रश्न भी है। रेणु का साहित्य केवल कहानी नहीं कहता, बल्कि ग्रामीण अंचल की परती जमीनों और बदलते पारिस्थितिकी तंत्र के प्रति जागरूक भी करता है। इस प्रकार आज के पर्यावरणीय संकटकालवायु



परिवर्तन, बाढ़-सूखा, जल-संकट, भूमि-अवनयन और अनियोजित शहरीकरण के दौर में उनका साहित्य अत्यंत प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची :

1. रेणु, फणीश्वरनाथ. मैला आँचल. राजकमल प्रकाशन, 1954, 368 पृष्ठ.
2. रेणु, फणीश्वरनाथ. परती परिकथा. राजकमल प्रकाशन, 1957, 256 पृष्ठ.
3. रेणु, फणीश्वरनाथ. जुलूस. राजकमल प्रकाशन, 1948, 192 पृष्ठ.
4. रेणु, फणीश्वरनाथ. ऋणजल-धनजल. राजकमल प्रकाशन, 1980, 220 पृष्ठ.
5. जायसवाल, संजय. 'फणीश्वरनाथ रेणु का महत्व' वागर्थ, विद्यासागर विश्वविद्यालय, 2021, पृष्ठ 45-52.
6. शुक्ला, संकर्षण. 'फणीश्वरनाथ रेणु' एक दूरदर्शी रचनाकार. 'दृष्टि आईएस ब्लॉग', 25 जुलाई 2022.
7. पटेल, बिनय कुमार. 'स्वातंत्र्योत्तर लोक-कलाएँ और रेणु' अपनी माटी, अप्रैल-जून 2022, पृष्ठ 112-125.
8. दानिश, मो. 'मिहनतकशों के साहित्यकार रेणु' फॉरवर्ड प्रेस, 2 मार्च 2023.
9. कुमार, मोहन. 'राष्ट्र निर्माण और रेणु साहित्य' हस्ताक्षर, सितंबर 2022, पृष्ठ 78-89.
10. कुमार, राकेश. 'रेणु उपन्यासों में आंचलिकता' शोध संकल्प, राजकीय महाविद्यालय पुष्कर, 2022, पृष्ठ 67-75.
11. सिंह, दीपक कुमार. 'प्रकृति में सृजन 'रेणु' नवभारत टाइम्स ब्लॉग, 6 जून 2021.
12. यादव, माणिक-जितेन्द्र. 'आंचलिकता के युगप्रणेता' फणीश्वरनाथ रेणु और मैला आँचल. अपनी माटी, 16 जुलाई 2022.
13. साहू, डायमंड. 'रेणु के कथा साहित्य में युगीन सामाजिक चेतना' अपनी माटी, 17 जुलाई 2022, पृष्ठ 1-15.
14. राय, बसंत कुमार. 'पर्यावरण संरक्षण का संदेश' रेणु की कृतियाँ हिंदुस्तान, 25 जुलाई 2023.
15. त्रिपाठी, गौरी. 'भारतीय गाँव की मुकम्मल तस्वीर' फणीश्वरनाथ रेणु. गुरुग राम मनोहर लोहिया विश्वविद्यालय जर्नल, 2022, पृष्ठ 20-35.
16. सिंह, दीपक कुमार. 'रेणु की वैचारिक चेतना' भूमि एवं पारिस्थितिकी पश्यंती, 24 फरवरी 2025.
17. साहू, डायमंड. 'रेणु के कहानी साहित्य में ग्रामीण चेतना' एडुजोन जर्नल, 2023, पृष्ठ 50-65.



“निर्गुण काव्यधारा के सिरमौर कवि कबीरदास और रविदास की विचारों की प्रासंगिकता”

सारांश : निर्गुण काव्यधारा ने संसार में आध्यात्मिकता, मानवता, सामाजिक समानता और भक्ति-भावना को स्थापित करने में अहम भूमिका निभाया। निर्गुण काव्यधारा के कवियों में कबीरदास और रविदास (रैदास) जी जैसे भविष्य की बात को पहले से ही जानने वाले संत थे। दोनों संतों ने ईश्वर की मूर्तिमान रूपों से परे, एक निराकार सत्ता के रूप में स्वीकार किया। क्योंकि उस समय का समाज उच्च-नीच, जाति-पति, वाह्यडंबर में लिप्त था। उसी समय से दोनों संत कवियों ने सामाजिक अनुभवों के आधार पर मानवीय मूल्य, समानता, नैतिकता तथा समतावादी समाज बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिए। वर्तमान समय का समाज जाति, धर्म, वर्ग, आर्थिक-असमानता और सांप्रदायिकता के संकटों से जूझ रहा है। कबीर और रविदास के विचारों ने इस समस्या का निदान पहले ही बता दिए थे। जो आज भी प्रासंगिक हैं। इस शोध आलेख में प्रासंगिकता पर गहन अध्ययन करेंगे।

बीज शब्द : निर्गुण काव्यधारा, धर्म, रीति-रिवाज, वर्णव्यवस्था, कबीर, रविदास, प्रासंगिकता, सामाजिक समानता, जातिवाद, धार्मिक असहिष्णुता, समकालीन समाज।

शोध आलेख : निर्गुण भक्ति धारा ईश्वर के निराकार, निरंजन, अव्यक्त स्वरूप को मानने वाली भक्ति परंपरा है। यह धारा दो वर्गों में विभक्त है : 1. “ज्ञानाश्रयी या संत काव्यधारा” इसके प्रमुख कवि कबीर, रविदास, दादूदयाल, मलूकदास, धर्मदास आदि हैं। 2. “प्रेमाश्रयी या सूफी काव्यधारा” जिसके प्रमुख कवि मालिक मुहम्मद जायसी, उस्मान, शेखनबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद और मुल्ला दाऊद हैं, जिन्होंने प्रेम-कहानियों के माध्यम से ईश्वर-प्रेम की व्याख्या कीय जायसी का ‘पद्मावत’ इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है। इनके अतिरिक्त भी इस धारा के कवियों ने प्रेम-कथाएँ प्रतीकात्मक रूप में लिखे हैं।

निर्गुण संतों की वाणी में ईश्वर की सर्वव्यापकता, जाति और पाखंड का विरोध गुरु की महिमा, आंतरिक साधना, मनुष्य की आत्मिक गरिमा जैसे मूल विषय मिलते हैं। संत रविदास (15वीं-16वीं शताब्दी) वाराणसी के चर्मकार समाज



डॉ रवि कुमार

सहायक प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

में जन्मे थे। जातिगत दमन को उन्होंने बचपन से ही भोगा। यही अनुभव उनके चिंतन का मूल बना। उन्होंने भक्ति के माध्यम से सामाजिक समानता और मानवीय सम्मान की धारा को स्थापित किया। उनकी वाणी ‘सबके राम’, ‘सबका मालिक एक’, ‘मन चंगा तो कठौती में गंगा’ जैसी सार्वभौमिक भावनाओं का गीत है। रविदास के अनुसार ईश्वर की निगाह में सभी समान हैं।

“एक बूंद एकै मल मूत्र, एक चाम एक गूदा।

एक जोति थैं सब उतपनों, कौन ब्राह्मण कौन सूझा।।”¹

इस तरह का संदेश समाज को दे कर संत कवि ने समाज में एकता और समानता स्थापित करने का आह्वान किया जो आज भी प्रासंगिक है। रविदास जी की बेगमपुरा का स्वप्न मानव समाज में बिना भय, शोषण और कर-वसूली के ‘बेगमपुरा’² जैसा आदर्श समाज बनाने का संदेश समाज को दिया जो अभी तक नहीं हो पाया है। इस परिकल्पना को पूरा करना वर्तमान समाज का कर्तव्य है। रविदास जी ने अंतरात्मा की पवित्रता, बाह्य पूजा, तीर्थ, व्रत-उपवास से अधिक हृदय की निर्मलता को महत्त्व देते हैं। करुणा और दया का संदेश मानवता का आधार प्रेम और दया है। ये विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

कबीरदास न केवल निर्गुण संत थे, बल्कि एक क्रांतिकारी सामाजिक विचारक भी थे। उन्होंने हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों के रूढ़ियों, पाखंड, कर्मकांड और साम्प्रदायिक विभेद का तीव्र



प्रतिरोध किया। इन्होंने पाखंड का विरोध इस वाणी में कहा है।

“पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।”2

ये विचार आज भी समाज में जागरूकता फैलाने वाले संदेश हैं। इसी तरह जाति-विरोधी विचार -

“जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान

मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।3

इस विचार ने समाज में जाती-पाती के बंधन को तोड़ने का संदेश है। इसी तरह गुरु की महिमा का बखान कर अपने बड़ों को सम्मान देने का संदेश -

“गुरु गोविंद दोऊ खड़े ,काको लागू पाएं

बलिहारी गुरु आपने, जो गोबिंद दियो बताए।”4

इस तरह के विचारों से संतों ने समाज में समानता लाने का प्रयास किया है। जो आज भी इन संत के वचनों का अपने जीवन में उतरेंगे तो सबका कल्याण होगा। इस लिए इनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

निर्गुण भक्ति परंपरा के दो महान संत कवियों-कबीरदास और गुरु रविदास के विचारों की समकालीन प्रासंगिकता। आधुनिक समाज वैज्ञानिक प्रगति और तकनीकी विकास के बावजूद सामाजिक असमानता, जातिवाद, धार्मिक असहिष्णुता, नैतिक मूल्यों के क्षरण तथा मानवीय संवेदना के संकट से जूझ रहा है। इन परिस्थितियों में कबीर जी का विद्रोही, प्रश्नाकुल और आत्मबोधपरक दृष्टिकोण तथा रविदास जी का समतामूलक, करुणा-आधारित और सामाजिक न्यायपरक चिंतन आज भी अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। कबीर की प्रासंगिकता वैचारिक चेतना, आत्मालोचना और धार्मिक आडंबर-विरोध में निहित है, जबकि गुरु रविदास की प्रासंगिकता सामाजिक समरसता, गरिमा और समावेशी समाज की संकल्पना में दिखाई देती है। दोनों संतों के विचार मिलकर समकालीन समाज को नैतिक और सामाजिक दिशा प्रदान करते हैं।

भक्ति आंदोलन ने मध्यकालीन समाज की जड़ रूढ़ियों एवं सामाजिक विषमता को चुनौती दी। यह आंदोलन केवल ईश्वर-भक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक समानता, मानवीय गरिमा और नैतिक चेतना का व्यापक अभियान था। कबीरदास और गुरु रविदास इस आंदोलन के ऐसे प्रतिनिधि संत कवि हैं, जिन्होंने निर्भीक वाणी में समाज की विसंगतियों को उजागर किया। समकालीन समाज, यद्यपि आधुनिकता और वैश्वीकरण के दौर में प्रवेश कर चुका है,

फिर भी जातिगत भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक असमानता और नैतिक संकट जैसी समस्याएँ आज भी विद्यमान हैं। ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि कबीर और रविदास के विचारों की वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिकता का गहन अध्ययन किया जाए तो इस वर्तमान समस्या से निजात पाया जा सकता है।

आधुनिक लोकतांत्रिक समाज समानता को मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार करता है, किंतु व्यवहार में सामाजिक और जातिगत असमानता आज भी गहराई से विद्यमान है। इस संदर्भ में कबीर की प्रासंगिकता उनके तीखे सामाजिक प्रतिरोध में दिखाई देती है। वे जन्म-आधारित श्रेष्ठता को नकारते हुए मनुष्य की पहचान उसके ज्ञान और आचरण से जोड़ते हैं। आज जब सामाजिक पहचान अभी भी जाति और वर्ग से प्रभावित होती है, कबीर की यह दृष्टि सामाजिक चेतना को भीतर से झकझोरती है।

इसके विपरीत, गुरु रविदास सामाजिक समानता को संघर्ष के बजाय समरसता और सह-अस्तित्व के माध्यम से स्थापित करते हैं। उनका आदर्श समाज वह है जहाँ किसी को हीनता या भय का अनुभव न हो। समकालीन सामाजिक न्याय, आरक्षण और समावेशी विकास की अवधारणाएँ रविदास जी के चिंतन से सीधा संवाद स्थापित करती हैं। तुलनात्मक रूप में, कबीर समानता के प्रश्न को वैचारिक विद्रोह के रूप में उठाते हैं, जबकि रविदास उसे सामाजिक पुनर्चना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

वर्तमान समाज में धर्म विभाजन, संघर्ष और राजनीति का माध्यम बन रहा है। धार्मिक असहिष्णुता आज वैश्विक समस्या का रूप ले चुकी है। इस संदर्भ में कबीर की प्रासंगिकता अत्यंत तीव्र और प्रत्यक्ष है। वे मंदिर, मस्जिद, पूजा और कर्मकांड जैसे बाह्य आडंबरों पर प्रश्न उठाकर धर्म की आंतरिक शुद्धता पर बल देते हैं। कबीर का यह दृष्टिकोण आज के समय में धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध प्रस्तुत करता है। मुसलमान और हिन्दू दोनों धर्म वालों को बताने का काम करते हैं-

‘कंकड़ पत्थर जोड़कर मस्जिद लियो बनाए,

ता चढ़ मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।”5

“पाहन पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजू पहार।

ताते ये चाकी भली, पीस खाय संसार।।”6

गुरु रविदास, इसके विपरीत, धर्म को मानवीय करुणा, समानता और सामाजिक नैतिकता से जोड़ते हैं। वे धर्म को



विभाजन का नहीं, बल्कि समाज को जोड़ने का माध्यम मानते हैं। आज के बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज में रविदास की यह दृष्टि अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है।

“जात जात में जात है, जो केलन के पात।

रैदास मानुष न जुड़ सके, जब लै जात न जात।”7

वर्तमान भारत में दलित और वंचित वर्ग संवैधानिक अधिकारों के बावजूद सामाजिक भेदभाव का सामना कर रहे हैं। इस संदर्भ में गुरु रविदास की प्रासंगिकता विशेष महत्व रखती है। उनका जीवन और दर्शन स्वयं सामाजिक उत्पीड़न के अनुभव से उपजा है। उनका “बेगमपुरा” एक ऐसे समाज की कल्पना है जहाँ न कोई ऊँचा हो, न नीचा, और न किसी को भय हो। यह अवधारणा आधुनिक लोकतांत्रिक और कल्याणकारी राज्य की संकल्पना से मेल खाती है।

‘ऐसा चाहूँ राज मैं, जहाँ मिले सबन को अन्न।

छोट-बड़ो सब सम बसै, रविदास रहे प्रसन्न।।”8

कबीर भी जातिव्यवस्था का विरोध करते हैं, किंतु उनका दृष्टिकोण अधिक दार्शनिक और सार्वभौमिक है। वे जाति को मानसिक बंधन मानते हैं और व्यक्ति को आंतरिक मुक्ति की ओर प्रेरित करते हैं।

“जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जल ही समाया, यह तथ कथ्यो ज्ञानी।।”9

आज का मनुष्य भौतिक समृद्धि के बावजूद मानसिक तनाव, अकेलेपन और मूल्य-संकट से जूझ रहा है। इस संदर्भ में कबीर की प्रासंगिकता आत्मबोध, आत्मालोचना और नैतिक साहस के रूप में सामने आती है। वे व्यक्ति को बाहरी दिखावे से मुक्त होकर भीतर झाँकने की प्रेरणा देते हैं। रविदास की प्रासंगिकता सामाजिक सम्मान, सुरक्षा और सामूहिक गरिमा की भावना में निहित है। वे व्यक्ति की मुक्ति को सामाजिक गरिमा से अलग नहीं मानते। इस प्रकार, कबीर आधुनिक व्यक्ति के आंतरिक संकट का समाधान प्रस्तुत करते हैं, जबकि रविदास सामाजिक असंतुलन को बनाए रखें इसके लिए इन दोनों संत कवियों ने सामाजिक समानता पर बल देने का काम किया। वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद ने आधुनिक समाज को सुविधाएँ दी हैं, किंतु साथ ही असमानता और नैतिक रिक्तता भी बढ़ाई है।

निष्कर्ष : कबीर और गुरु रविदास दोनों ही संत कवि समकालीन समाज के लिए अत्यंत प्रासंगिक हैं। कबीर हमें प्रश्न करने, आडंबर को अस्वीकार करने और आत्मबोध विकसित करने की प्रेरणा देते हैं, जबकि गुरु रविदास हमें

समरस, न्यायपूर्ण और मानवीय समाज की दिशा दिखाते हैं। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज की जटिल समस्याओं का समग्र समाधान इन दोनों संतों के विचारों के समन्वय में निहित है।

आज जब सामाजिक विभाजन, धार्मिक कट्टरता, जातीय वैमनस्य, आर्थिक असमानता और नैतिक पतन गहराता जा रहा है, तब इन संतों के विचार और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार दोनों संतों की वाणी न केवल हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर है, बल्कि आधुनिक युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का समाधान भी प्रदान करती है। इनकी प्रासंगिकता कालातीत है जो आज भी उतनी ही, जितनी उनके समय में थी।

संदर्भ सूची :

1. रविदास ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 52
 2. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2005, पृ. 112
 3. कबीर के दोहे, संपा. रामचंद्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 67
 4. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2005, री पृ. 98
 5. बीजक, संपा. वासुदेव शरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010 पृ. 143
 6. बीजक, वासुदेव शरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ. 139
 7. रविदास ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 47
 8. गुरु रविदास वाणी, धर्मपाल सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011, पृ. 89
 9. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 2005, पृ. 121
- सहायक संदर्भ सूची :
1. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 85-94
 2. निर्गुण काव्यधारा, परशुराम चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृ. 154-170
 3. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2016, पृ. 212-219





स्वामी सहजानन्द सरस्वती के संदर्भ में किसान और बिहार की राजनीति (1903-47)



डॉ. बिनोद कुमार

सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
इतिहास विभाग
बी. डी कॉलेज
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

स्वतंत्रता आंदोलन में बिहार के किसानों की अहम भूमिका रही है। देश की आजादी की लड़ाई में इन्होंने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। बिहार में न केवल चम्पारण सत्याग्रह वरन् असहयोग, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आंदोलन में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 'जब कभी भी महात्मा गाँधी ने इन्हें आवाज दी, ये आंदोलन में कूद पड़े और देश की आजादी की लड़ाई को मजबूत किया। परन्तु इन किसानों को क्या मिला? इनका शोषण कांग्रेसी राजनीति के तहत होता रहा.' अन्य दलों ने भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का नाम लेकर उनका शोषण ही किया। 'किसानों के एक छोटे वर्ग-छोटे जमींदार और सम्पन्न किसानों को ही इस किसान आंदोलन से फायदा हुआ, गरीब और मध्य किसान तथा कृषक मजदूर पीछे छोड़ दिये गये.' इस परिप्रेक्ष्य में हम आज के किसानों की राजनीति को समझ सकते हैं। वे अपनी हालत सुधारने अर्थात् जमीन प्राप्त करने की लड़ाई लड़ रहे हैं। हम इसी संदर्भ में बिहार प्रदेश किसान सभा और उसके शीर्ष नेता स्वामी सहजानन्द की राजनीति को भी समझना चाहेंगे।

बिहार प्रदेश किसान सभा की स्थापना 18 नवम्बर, 1929 को एक जमींदार समर्थक विधेयक का विरोध करने के लिए कांग्रेस और स्वराज दल के इशारे पर हुई थी और कांग्रेस के भविष्य के मुख्यमंत्रि श्री कृष्ण सिंह उसके सचिव भी थे, किन्तु सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-34) की लड़ाई और वर्गीय एकता को देखते हुए इस आंदोलन को स्थगित कर देना पड़ा। सरकार और जमींदार वर्ग ने इस आंदोलन के दरम्यान ही कुछ किसान नेताओं को मिलाकर कांग्रेसी नेताओं की अनुपस्थिति का फायदा उठाया और जमींदारों की तरफदारी करते हुए इस विधेयक को पारित करना चाहा। उन्होंने घोषणा की कि इस विधेयक को किसानों का समर्थन प्राप्त है। किसानों और स्वयं किसान नेताओं की ऐसी ही सभा में स्वामी सहजानन्द जो तबतक जेल से निकल चुके थे, प्रकट हुए और उसी मंच से विधेयक का विरोध शुरू किया। बाद में विधेयक के विरोध में स्वामी जी ने बिहार-व्यापी विरोध तक शुरू कर दिया। विरोध की उग्रता का आभास हमें किसानों की उन सभाओं से होता है जिनमें स्वामी जी खुद उपस्थित हुए। ऐसी

कुल सभायें 1933-1935 के बीच बिहार में 117 हुईं। बिहार में किसान सभा की बढ़ती हुई लोकप्रियता और जनाधार का कारण केवल विधेयक का विरोध नहीं था, वरन् एक ओर तो समाजवादियों का किसान सभा था। असल में कांग्रेस ने यद्यपि किसानों की बातें की तो भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के मध्य जमींदारों के खिलाफ किसानों की बातें की तो भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के मध्य जमींदारों के खिलाफ किसी श्लगान नहीं का नारा नहीं दिया गया। इससे स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस एक सीमा तक ही बिहार में जा सकती है। दूसरी ओर समाजवादियों के प्रभाव में किसान सभा वर्ग संघर्ष को अपना चुकी थी। कोई आश्चर्य नहीं कि 1935 के अपने तृतीय बिहार प्रान्तीय किसान सभा सम्मेलन में किसान सभा ने जमींदारी समाप्त करने की बात की।

बिहार प्रदेश किसान सभा में इस आमूल परिवर्तन के मुख्यतया दो कारण दिखाई पड़ते हैं। एक तो बिहार की विधान परिषद् ने किसानों के प्रचण्ड विरोध के बावजूद जमींदारों के पक्ष में विधेयक पारित कर दिया और किसान सभा के नेताओं को प्रतीत हुआ है कि जब तक जमींदार और जमींदारी रहेगी, ब्रिटिश सरकार उनके पक्ष में रहेगी। दूसरे, किसान सभा कांग्रेस के संशोधनवाद से ऊब चुकी थी। बिहार में सविनय अवज्ञा आंदोलन के दरम्यान ऐसा लगा कि 1931 में करांची में अपने किए गए वादे को कांग्रेस भूल चुकी है। 1934 में बिहार में आये प्रलयकारी भूकम्प, जमींदारों द्वारा किसानों के प्रति दिखाई हृदयहीनता ने भी किसान सभा को जमींदारी उन्मूलन के पक्ष में ला खड़ा किया। जमींदारी उन्मूलन के इस प्रस्ताव को लाने वाले खुद स्वामी सहजानन्द ही थे।

सभा के इस बढ़ते हुए जनाधार के कांग्रेस की स्वतंत्रता की लड़ाई को खूब मजबूत किया। अनुग्रह नारायण सिन्हा, जो



बिहार कांग्रेस के एक अग्रणी नेता थे, ने अपनी आत्मकथा में यह स्वीकार किया है कि जब कांग्रेस के अधिकांश नेता सविनय अवज्ञा आंदोलन के बाद नैराश्य की स्थिति से गुजर रहे थे तो किसान सभा ने ही कांग्रेस का झंडा ऊँचा रखा। घ किसान सभा ने कभी भी अपने को कांग्रेस से अलग नहीं समझा। बल्कि वह अपने को कांग्रेस के अंदर एक संगठन ही मानती रही।'

किन्तु, हाजीपुर के तृतीय अधिवेशन से ही कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं और किसान सभा के बीच की दूरियाँ बढ़ने लगीं। चूँकि बिहार कांग्रेस में दक्षिणपंथ का बोलबाला था इसलिए वे इसे शंका और अविश्वास की नजर से देखने लगे। किसान-सभा भी, जो समाजवादी दर्शन से अणुप्राणित हो चुकी थी, अपने को एक वर्ग संगठन मान रही थी और कांग्रेस का पुछल्ला बनकर रहना नहीं चाहती थी। स्वामी सहजानंद ने मुजफ्फरपुर जिले के किसान सम्मेलन में बोलते हुए कहा- जबकि हमें पूर्ण विश्वास है कि किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन को पूरी तरह मजबूत करेगा और आने वाले चुनाव में कांग्रेस को विजय दिलायेगा, लेकिन हम यह भी मानते हैं कि कांग्रेस और किसान सभा का हित इसी में है कि दोनों की पहचान अलग होय

किसान सभा की बढ़ती हुई उग्रता और जनाधार को देखते हुए कांग्रेस के पास कोई विकल्प नहीं था। कांग्रेस किसानों का समर्थन खोना भी नहीं चाह रही थी। इसलिए कांग्रेस ने एक ऐसी जाँच समिति बनायी जिसकी रिपोर्ट कभी प्रकाशित नहीं हुई।' बल्कि कांग्रेस नेताओं ने अपनी सभा के दौरान किसान सभा विरोधी बातें कहीं और जमींदारों को भरोसा दिलाया कि वे जमींदारों के विरोध में किसान सभा वालों के साथ नहीं हैं घ इतना ही नहीं इन नेताओं ने अपनी रिपोर्ट, जो कभी प्रकाशित नहीं हुई, में किसान सभा और उनके नेताओं के विरोध में कुछ लिखा भी तथा उनके कार्यक्रमों की निन्दा भी कीघ

इन सबों के बावजूद किसान सभा ने 1937 के चुनावों में कांग्रेस की खूब मदद की। यहाँ तक कि उसने उन जमींदारों को भी वोट दिया और उनके लिए प्रचार भी किया जिन्हें कांग्रेस ने टिकट दिया था। किसानों के समर्थन से बिहार विधान सभा के चुनावों में कांग्रेस को प्रचंड बहुमत मिला और उसका मंत्रिमंडल बना। यद्यपि सभा को कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडल का निर्माण पसंद नहीं थाघ तथापि इसने मंत्रिमंडल निर्माण का समर्थन इस विश्वास के साथ किया कि कांग्रेस अपने फैजपुर कार्यक्रम को अवश्य लागू करेगाघ यहाँ हम यह बता देना चाहेंगे कि कांग्रेस ने अपने फैजपुर अधिवेशन में किसानों

से संबंधित 13 कार्यक्रमों को लागू करने का वादा किया था, जो यद्यपि किसान सभा और समाजवादियों के किसान संबंधी कार्यक्रमों से बहुत पीछे थे, फिर भी किसानों की समस्याओं को बहुत हद तक छूते थे। फैजपुर का यह कार्यक्रम कांग्रेस को किसानों द्वारा दिये गये समर्थन के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार था। लेकिन सत्ता में आने के बाद कांग्रेस अपने वादों से मुकर रही थी। यद्यपि इसने किसानों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयास किया। इसने कुछ जमीन संबंधी और ऋण संबंधी कानून भी बनाये लेकिन उनमें कुछ ऐसी कमियाँ थीं कि वे किसान का हित साधना नहीं कर सकीघ कारण जमींदार उन कमियों को फायदा उठा लेते थे। इतना ही नहीं, कांग्रेस ने जमींदारों से एक समझौता भी कर लिया। कांग्रेस सरकार की इस नीति ने किसान सभा को नये सिरे से सोचने के लिए मजबूर किया। अब उसके पास अपनी ही सरकार से संघर्ष के अलावे कोई चारा नहीं था। उन्होंने सीधे संघर्ष का रास्ता अपनाया। बकाशत की लम्बी लड़ाई शुरू हुई। बड़हिया और मोकामा टाल से शुरू हुआ यह संघर्ष पटना, गया, शाहाबाद, दरभंगा और मुंगेर के कई क्षेत्रों में फैल गया। बकाशत, वह जमीन थी जो पहले किसानों की थी परन्तु विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के समय लगान न देने के कारण नीलामी द्वारा जमींदारों की हो गयी थी। किसान उसी जमीन को नये कानून के तहत अपना मानकर उसकी उपज मालिक के खलिहान में न देकर अपने घर पर ले जा रहे थे। सरकार ने भी जमींदारों का पक्ष लिया और किसानों के संघर्ष को दबाने के लिए गुरखा सैन्य पुलिस का सहारा लिया। इतना ही नहीं किसानों और आवाम से कांग्रेसी नेताओं ने अपील की कि स्वामी सहजानंद और किसान सभा के नेताओं की सभा में न जायें। किसान नेताओं जैसे पंडित कार्यानन्द शर्मा, यदुनन्दन शर्मा, महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि को जेलों में डाल दिया गया। बहुत सारे किसानों को भी जेल की सजा मिली और कुछ तो मारे भी गये घ

किसान नेताओं ने भी प्रान्त भर में सभाएँ करके कांग्रेस की असफलता का पर्दाफाश किया। इन नेताओं के कहने का मूल अर्थ यही था कि कांग्रेस के विभिन्न संघर्ष किसानों द्वारा जीते गये हैं न कि जमींदारों और पूँजीपतियों द्वारा। इसलिए कांग्रेस को खुलकर किसानों के पक्ष में आना चाहिए घ कांग्रेस और किसान सभा की दूरियाँ बढ़ गयीं। किसान सभा में दीप नारायण सिंह ऐसे कांग्रेसी नेता की जमींदारी में हो रहे अत्याार पर भी आक्रमण करना शुरू किया घ

स्वामी जी और किसान नेताओं पर कांग्रेसी की पाबन्दी का



कोई असर नहीं हुआ। स्वामी सहजानंद ने बिहार के विभिन्न जिलों का दौरा कर किसानों को जगाया। किसान सभा का जनाधार इतना विशाल हो गया था कि कांग्रेस की पाबन्दी के बावजूद इसका 6ठा और 7वाँ अधिवेशन खूब सफलतापूर्वक मनाया गया। 7वाँ अधिवेशन जो मुंगेर जिले के बछवाड़ा में मनाया गया उसमें कुल पचास हजार किसानों ने भाग लिया। जब मैदान यानि सभास्थल बहुत छोटा लगा तो सभा को दो भागों में बाँट कर सभा करनी पड़ी। एक स्वामी सहजानंद ने और दूसरे को जयप्रकाश नारायण ने संबोधित किया गया अधिवेशन में तो लगभग एक लाख किसानों ने भाग लिया।

कांग्रेस से किसान सभा की दूरियाँ बढ़ती ही गयी। एक समय ऐसा भी आया जब स्वामी सहजानंद ने कांग्रेस को छोड़ना भी चाहा किन्तु जयप्रकाश नारायण और समाजवादियों के आग्रह के कारण किसान सभा वाले कांग्रेस में रूक गये। लेकिन जहाँ समाजवादी राष्ट्रवादी आंदोलन को प्राथमिकता दे रहे थे, वही किसान सभा वाले कांग्रेस की संरचना को वर्ग चरित्र से तौल रहे थे। वे वर्ग संघर्ष की कीमत पर राष्ट्रीय संग्राम को प्राथमिकता देने को तैयार न थे। इसलिए 1940 के अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में दोनों दलों में हो गयी। रामगढ़ कांग्रेस में समझौता विरोधी सम्मेलन की स्वागत समिति के अध्यक्ष स्वामी सहजानंद ही थे। यहीं सुभाष चन्द्र बोस के फॉरवर्ड ब्लाक ने किसान सभा वालों से हाथ मिलाया। समाजवादी अलग हो गये और 1941 के डुमराँव में उन्होंने किसान सभा का अलग अधिवेशन किया। धीरे-धीरे किसान सभा साम्यवादियों के प्रभाव में आती गयी और समाजवादी कांग्रेस के नजदीक आते गये। स्वामी सहजानंद का महायुद्ध के खिलाफ भाषण के कारण वर्षों के लिए हजारीबाग जेल में ठूस दिया गया जहाँ से वे लोकयुद्ध के लाइन पर बोलने लगे। किसानों को उन्होंने किसी भी संघर्ष से मना किया। राष्ट्रीय संग्राम का नेतृत्व करनेवाले दल का विरोध का परिणाम सामने था। जहाँ समाजवादियों की बदौलत किसान सभा के सम्मेलन में करीब एक लाख किसान थे वहीं 1942 के किसान सभा के शेरघाटी सम्मेलन में कुल नौ हजार किसान थे। असल में बिहार के किसान भी अन्य प्रांतों के किसानों की तरह राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम यानि कांग्रेस के साथ थे।

धीरे-धीरे किसान सभा का प्रभाव घटता ही गया। कम्युनिस्टों ने अपनी ही सभा से स्वामी जी को निकाल दिया। 1946 में एक बार पुनरु विधान सभा के चुनाव हुए और फिर कांग्रेसी मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। वकाशत की लड़ाई पुनरु शुरू हुई। परन्तु इसके पास 1939 का बल नहीं था। यद्यपि वकाशत की

लड़ाई सम्पूर्ण बिहार में छा गई थी, स्वामी जी भी बिहार के किसानों को उत्साहित कर रहे थे। परन्तु एक बार फिर कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इसे दबा दिया। लेकिन अब जमींदारों और जमींदारी का खात्मा तय था। किसान भी जमींदारी उन्मूलन की प्रतीक्षा में थे केवल कृषक मजदूर ही ऐसा वर्ग था, जिसने लड़ाई तो लड़ी परन्तु उसे जमींदारी उन्मूलन से कुछ फायदा नहीं हुआ क्योंकि उसके पास न जमीन थी और न जमींदारों को कर देना था। अभी असल किसान यानि खेत में काम करने वाले किसान-मजदूरों की लड़ाई बाकी थी और यह लड़ाई स्वतंत्रता के दो दशक बाद 1967 में शुरू हुई। किसानों की यह लड़ाई किसी न किसी रूप में चाहे आई० पी० एफ० या सी० पी० आई० (एम० एल०) या माओइस्ट कम्युनिस्ट सेन्टर या पीपुल्स वार ग्रुप- अभी भी चल रही है और बिहार कं विभिन्न भाग इसमें जल रहे हैं।

संदर्भ :

अरविन्द एन दास, अग्रेरियन अनरेस्ट एण्ड सोशियो एकनोमिक चेंज, 1900-1980, नई दिल्ली, कौशल किशोर शर्मा, अग्रेरियन मूवमेंट्स एंड कांग्रेस पालिटिक्स, नई दिल्ली, 1989, वाल्टर हाउजर द बिहार प्राविसियल किसान सभा रू द स्टडी ऑफ ए पेजन्ट आर्गेनाइजेशन, अप्रकाशित थीसिस, स्टीफेन हर्निथम, पेजेन्ट स्ट्रगल्स इन नार्थ बिहार, कैनबरा, 1982 आदि।

1. हमजा अलबी पेजेन्ट्स एण्ड रिवोल्यूशन, द सोशलिस्ट रजिस्टर, 1972
2. सुमित सरकार, मॉडर्न इंडिया, दिल्ली, 1983, पृ० 340
3. अवधेश्वर प्रसाद सिंह, सवि की रिपोर्ट, पटना, 1935, प्रा० 24
4. विनय भूषण चौधरी, अग्रेरियन मूवमेंट्स इन बंगाल एण्ड बिहार (1919-39), ए० आर० देसाई (सं०), पेजेन्ट स्ट्रगल्स इन इंडिया, कौशल किशोर शर्मा, नेशनलिस्ट स्ट्रगल एंड पेजेन्ट मूवमेंट, कौशल किशोर
5. शर्मा (आदि)। सम्पादित पेजेन्ट स्ट्रगल्स इन बिहार, पटना, 1994
6. स्वामी सहजानंद सरस्वती, मेरा जीवन संघर्ष
7. अनुग्रह नारायण सिन्हा, मेरे संस्मरण, पृ० 171
8. कौशल किशोर शर्मा, वही, पृ० 114
9. वही, पृ० 115
10. अवधेश्वर प्रसाद सिंह, वही, पृ० 546
11. कौशल किशोर शर्मा, वही, पृ० 116
12. हिस्ट्री ऑव फ्रीडम मूवमेंट, बिहार, संचिका सं० 6 (1936)
13. बी० आर० टोमलिंशन, द कांग्रेस एंड द राज, लंदन, 1976, पृ० 77-78
14. विनय भूषण चौधरी, वही, पृ० 363
15. कौशल किशोर शर्मा, वही, पृ० 117
16. कांग्रेस सोशलिस्ट, द टेनेस्टी एक्ट, गुमनाम अंक 3, नं० 4,



- जनवरी, 1938 रू वीरेशदत्त सिंह, एम० एल० ए०, बिहार टेनेंसी एक्ट सेक्शन 12 ए०, जनता 20 जनवरी रू 1938 स्वामी सहजानंद सरस्वती, द अदर साईड
17. ऑव द शिल्ड, पटना, 1938, पृ० 14
18. कौशल किशोर शर्मा, वही, पृ० 118
19. कं० के० शर्मा, वही, पाद टिप्पणी, 127
20. स्वामी सहजानंद सरस्वती, दि अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता, 12 जनवरी, 1938
21. के० के० शर्मा, वही, पृ० 117
22. वही, पृ० 119
23. के० के० शर्मा, अग्रेरियन मूवमेंट एण्ड कांग्रेस, पालिटिकल, दिल्ली, 1989, पृ० 139
24. नजी रंगा, रिपोर्ट आव ए जेनरल सेक्रेटरी, 1939
25. कौशल किशोर शर्मा, पूर्वोक्त, पृ० 120
26. कौशल किशोर शर्मा, पूर्वोक्त, पृ० 78
27. स्वामी सहजानंद सरस्वती, अध्यक्षीय भाषण, नवम बिहार प्रदेश किसान सभा सम्मेलन, शेरघाटी, गया, 1942, पृ० 28-29
28. कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के निर्माण और वकाशत संघर्ष के लिए देखिए रू राधाकांत बारीक, कांग्रेस पालिटिक्स एण्ड पेजेन्ट अनरेस्ट, डी० एन० पाणिग्रही, सं० मिथ एण्ड दिल्ली, 1983, पृ० 390



बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था में आचार्य-शिष्य संबंध



डॉ बिरेन्द्र मंडल

सहायक प्राध्यापक
दर्शनशास्त्र विभाग
बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

आचार्य शिष्य संबंध प्रारंभिक काल से ही गहरे विमर्श का विषय रहा है। ब्राह्मण शिक्षा-व्यवस्था¹ की तरह बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था में भी आचार्य शिष्य के रिश्ते पर एक आचार संहिता थी। बौद्ध शिक्षा व्यवस्था मूलरूप से आपसी सहयोग, समता, ममता प्रेम एवं सेवा पर मूलरूप से आधारित था, जहाँ शिष्य का कर्तव्य गुरु सेवा है वहाँ शिक्षक का कर्तव्य शिष्य के चतुर्दिक विकास पर ध्यान देना। बुद्ध के अनुसार शिक्षकों को ओर से छात्रों की शिक्षा, निदेशन, उपदेश, प्रोत्साहन सादि देना चाहिए। इतना ही नहीं छात्रों के बीमार होने पर उसकी उचित सेवा की व्यवस्था भी करनी चाहिए²।

बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था के अनुसार भिक्षु भिक्षुणियों को आचार्य एवं उपाध्याय के निदेशन में रहना था³, आचार्य और उपाध्याय के शिष्य अलग-अलग थे। इस संबंध को निस्साय कहा जाता है⁴। संकालिया ने आचार्य-शिष्य संबंध का आधार मालिक तथा नौकर का, श्रेष्ठ एवं निम्न का माना है, जिसका भिक्षुओं के जीवन में काफी महत्वपूर्ण था⁵। इस संबंध में संकालिया का कथन तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है। जहाँ उदण्ड छात्रों के लिए दंड की व्यवस्था थी वहाँ शिक्षकों के संघादर्थ के विरुद्ध कार्य करने पर दण्ड की व्यवस्था थी। संघ की मर्यादा सर्वोपरि थी। महावग्ग में विवरण है कि यदि आचार्य का कोई कार्य संघ की मर्यादा के विरुद्ध होता तो शिष्य का यह कर्तव्य था कि गुरु की त्रुटियों को संघ के सम्मुख पेश करे, उचित दंड देने की प्रार्थना करें और उचित प्रायश्चित के बाद अपने शिक्षक की पुनर्स्थापना के लिए अनुरोध करे, साथ ही साथ शिक्षक के आत्मसुधार के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ता था, ताकि संघ उनके अपराध को क्षमा कर सके⁶। वस्तुतः उनके बीच का संबंध पिता एवं पुत्र का था। महावग्ग में आचार्य एवं शिष्य को पिता एवं पुत्र की भाँति रहने की सलाह दी गई है⁷।

आचार्य को किसी प्रकार के धार्मिक संशय होने पर उसके निदान के लिए प्रयास करने का दायित्व छात्रों पर था और इस कार्य में संघ के अन्य व्यक्तियों से सहायता लेने की व्यवस्था थी⁸। गुरु शिष्य को निष्कासन का दण्ड भी दे सकता था यदि

वह संघ के अनुशासन को भंग करे। आचार्यों की धारणा थी कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान है जो क्रय किए जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है उसी से उसकी जड़ काटता है⁹। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी आज की तरह उदण्ड छात्र भी थे, जिनके लिए ऐसी बातें कही गयी हैं। ऐसी स्थिति में संघीय अनुशासन को बनाए रखने के लिए निष्कासन की व्यवस्था की गई थी।

इस व्यवस्था में शिष्य पूर्णरूपेण आचार्य के आदेश पर अवलंबित होते थे और बिना अनुमति के कोई भी कार्य नहीं कर सकता था। बिना अनुमति के वह कोई वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता था, बिना शिक्षक के अनुमति के न तो ग्राम और न समाधि क्षेत्र में प्रवेश पा सकता था, तथा न ही विदेश यात्रा कर सकता था। विदेश यात्रा की अनुमति तभी दी जाती थी जब कोई विद्वान भिक्षु साथ होते थे जो उस पर नियंत्रण रखे¹⁰। यदि आचार्य अस्वस्थ हों तो छात्र आजीवन उनकी सेवा करें¹¹। इसी तरह चरक संहिता में उल्लेख है कि गुरु को सेवा पिता मानकर शिष्य को करना चाहिए¹²।

सामान्यतः बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था का आदर्श ब्राह्मण शिक्षा-व्यवस्था होने के कारण सेवा और आत्मीयता के गुण की प्रमुखता थी। आचार्य एवं शिष्य दोनों इस बंधन में आबद्ध थे तथा चरम आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर थे। आचार्य एवं शिष्य दोनों के कर्तव्य संघ व्यवस्था के अनुरूप निर्धारित थे और सभी कालों में समान रूप से लागू थे।

आचार्य एवं उपाध्याय के संपूर्ण क्रियाकलाप शिष्य के आध्यात्मिक विकास एवं सुख-सुविधाओं के प्रति निवेदित थे, जिस निष्ठा के साथ शिष्य गुरु की सेवा करते थे, उसी निष्ठा के साथ गुरु भी शिष्य की देखभाल करते थे। यदि शिक्षार्थी भिक्षु के कर्तव्य गुरु के प्रति बड़े कठोर हैं तो गुरु के भी शिष्य



के प्रति कर्तव्य सुनियोजित हैं। उनके पारस्परिक संबंध आत्मीयता के कारण प्रेम और सद्भाव के धरातल पर पनपता मालूम पड़ता है न कि मात्र यंत्रवत अनुशासन की कठोर धरातल पर। वस्तुतः बौद्ध-शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत विहारों में तो आचार्य शिष्य-संबंध पिता-पुत्रवत परिलक्षित होता है, शिक्षक अपने छात्र के बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षमता के विकास में रुचि लेते थे। शिक्षक शिष्य के प्रतिभा को जागृत करने हेतु उससे प्रश्न पूछते और पढ़ाते थे। साथ ही शिष्य को यदि भिक्षापात्र या मेखला आदि का अभाव हो तो शिक्षक उसकी पूर्ति करते थे। वस्त्र की कमी को संघ से पूर्ति करवाते थे। यदि शिष्य रोगग्रस्त हो जाए तो उसकी सेवा तबतक करते थे जबतक वह रोगमुक्त न हो जाए। रोगावस्था में शिक्षक के लिए अपने शिष्य की आपूर्ति सेवा तथा सुबह के दत्तवन, जल आदि की विधिवत करने का स्पष्ट विधान है¹³। इस तरह आचार्य शिक्षार्थी भिक्षु को शिष्टाचार, अनुशासन, ब्रह्मचर्य सादगी से जीने की कला और लौकिक सुख भोगों से दूर रहने की अंतर्दृष्टि पैदा करते थे।

सामान्यतः शिक्षक और छात्र का लक्ष्य संघ के माध्यम से धम्म को संरक्षित करना था। इस उद्देश्य से भी विहारों में एक संस्कार दिया जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुरु और शिष्य के कर्तव्यों की लंबी सूची परिगणित की गई है। उनके गुरु पर डाले गये दायित्वों की अपेक्षा शिष्य के दायित्वों की संख्या बहुत बड़ी है। यदि शिक्षक कभी भ्रमपूर्ण सिद्धांतों के प्रति आसक्त हो जाते थे तो शिष्य शास्त्रार्थ कर विरोध भी कर सकता था। इस व्यवस्था में शिक्षक-छात्र-संबंध आत्मीयतापूर्ण था¹⁴। शिष्य की पहली निष्ठा संघ के प्रति थी। यदि शिक्षक संघ के प्रति घोर अपराध करता तो शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह संघ द्वारा शिक्षक को दण्ड दिला दे¹⁵। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में यह एक नया क्रांतिकारी कदम था। इसने शिष्य को यथाशक्ति नई पहचान और ताकत दी। कालांतर में जब सामान्यजन के लिए सामान्य शिक्षा का द्वार बौद्ध शिक्षा व्यवस्था में खुल गया तो शिक्षकों के दायित्वों में वृद्धि हुई¹⁶।

इस तरह गुरु के दैनिक क्रियाकलाप संघ के प्रति उनके दायित्वों के अनुरूप निर्धारित थे। उनके दैनिक कार्य शिक्षा प्रदान करने से आरंभ होता था तथा शिष्य का चहुँमुखी विकास मुख्य लक्ष्य होता था। शिक्षकों के कार्य अनुकरणीय होते थे। शिक्षक का मूल कर्तव्य धर्म की शिक्षा देना तथा उनको धर्म के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करना था। चौथी सदी में जब सामन्ती व्यवस्था सुदृढ़ हुई तो उसके प्रभाव से भी

शिक्षकों के क्रियाकलाप पर कोई खास असर नहीं पड़ा। इस काल में भी शिक्षकों एवं छात्रों के बीच का पारस्परिक संबंध स्नेह, प्रेम, श्रद्धा एवं सेवा पर आधारित थे जिसका स्पष्टीकरण इत्सिंग के विवरणों से होता है।

बौद्ध भिक्षुओं के दायित्वों एवं क्रियाकलापों के संबंध में बौद्ध ग्रंथों तथा बुद्ध वचनों पर बुद्धघोष की टीकाओं में विवरण उपलब्ध है। सामान्यतः गौतम बुद्ध की दिनचर्या ही मुख्य रूप से उनके जीवन का आदर्श था। तदनुसार वे प्रातः पाँच बजे नित्यक्रिया से निवृत्त हो ध्यान के लिए एकांत स्थान में चले जाते थे। प्रातः ध्यान के पश्चात् वे अपने दाँत साफ करते थे और अपने गुरु संबंधी कर्तव्यों का निर्वाह करते थे¹⁷। इत्सिंग के अनुसार इसके पश्चात् शिक्षार्थी अपने वरीय शिक्षार्थी के कमरे में जाकर प्रणाम करते थे और तत्पश्चात् वे धर्मग्रंथों का अध्ययन तथा मनन करके प्रतिदिन ज्ञान-प्राप्ति करते थे¹⁸, अपने शिक्षक के सहयोग से¹⁹ अध्यापक भोजन के पश्चात् त्रिचीवर धारण कर हाथ में भिक्षापात्र लेकर अपने अनुयायियों के साथ निकटवर्ती ग्राम या नगर में भिक्षाटन करते हुए वहाँ से लौटकर वे एकांत कक्ष में ध्यान करते थे और पेड़ों की शीतल छाया में विश्राम करते थे। शाम वे गाँव या नगर से आए श्रोतागण को धम्म के सिद्धांतों पर प्रवचन देते थे और उनको प्रश्नों के समुचित उत्तर देकर संतुष्ट करते थे। बुद्ध की दिनचर्या में उपदेश, दान, शास्त्रार्थ और ध्यान की प्रमुखता थी, लेकिन शिक्षार्थी भिक्षुओं के लिए उपदेश श्रवण, पतिमोक्ष की आवृत्ति के अतिरिक्त कई अन्य कार्य भी थे जिनमें उपाध्याय एवं आचार्य की सेवा, संघ के कक्ष, स्नानागार, शौचालय आदि की सफाई प्रमुख थे। भिक्षाटन के पूर्व आचार्य एवं उपाध्याय से शिक्षा ग्रहण करते थे तथा शास्त्रार्थ के द्वारा धर्म के पक्ष एवं विपक्ष चिंतन करते थे। त्रिपिटक का अध्ययन तथा उनकी व्याख्या, शास्त्रों का चिन्तन, मनन, ध्यान, शिक्षार्थी भिक्षु के महत्वपूर्ण कार्य थे। पतिमोक्ष की आवृत्ति मास में दो बार थी। उपोसथ का विधान बौद्ध-शिक्षा व्यवस्था का अभिन्न अंग था जिसमें प्रत्येक भिक्षु का उपस्थित होकर दोष को सभा के सम्मुख स्वीकार करना पड़ता था ताकि दोष को दूर किया जा सके²⁰।

शिष्य के दैनिक क्रियाकलाप आचार्य की सेवा से आरंभ होता था। यदि गुरु ग्राम में जाना चाहे तो उनको वस्त्र और भिक्षापात्र प्रस्तुत करने के पश्चात् स्वयं समुचित वस्त्र धारण कर गुरु का अनुगमन करना चाहिए। यदि गुरु किसी व्यक्ति से वार्तालाप कर रहे हो तो उसे बोलना नहीं चाहिए। गुरु के ग्राम से लौटने पर उन्हें चरण धोने के लिए जल देना चाहिए और



उनका वस्त्र एवं भिक्षापात्र लेकर उचित स्थान पर रख देना चाहिए। यदि गुरु स्नान करना चाहे तो उन्हें आवश्यकतानुरूप उष्ण या शीतल जल देना और स्नान के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हो उसे स्नानगृह में प्रस्तुत करना चाहिए²¹। शिक्षार्थियों के भिक्षा मांगने तथा भोजन का निमंत्रण स्वीकार करने के संबंध में नियम था कि वे अपने तीनों वस्त्र सही रूप से पहन कर हाथ में भिक्षापात्र लेकर दृष्टि नीचे किए हुए धीमी गति से जाए तथा आसन पर शांतिपूर्वक बैठे। नियंत्रित भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं को साथ नहीं ले जाना चाहिए। जलपात्र को दोनों हाथों से पकड़कर ले जाना चाहिए, साथ ही भोजनपात्र को भी सावधानी से पकड़ना चाहिए। जबतक सभी निमंत्रित भिक्षुओं को भोजन न परोसा जाए तबतक भोजन आरंभ नहीं करना चाहिए और जबतक सबलोग भोजन न कर लें तबतक नहीं उठना चाहिए। भोजन के पश्चात् उनमें जो सबसे ज्येष्ठ भिक्षु हो उसे धन्यवाद के रूप में कुछ धार्मिक प्रवचन करना चाहिए²²।

सामान्यतः भिक्षाटन एक जीवन-दर्शन था और संभवतः भिक्षाटन, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। भिक्षाटन के द्वारा शिक्षार्थियों को विनम्रता की शिक्षा मिलती थी और इस क्रम में समाज के योगदानों को समझने का अवसर मिलता था। इस तरह शिक्षण अवधि में जीवन निर्वाह का माध्यम भिक्षाटन होता था जिसमें अमीर-गरीब का भेदभाव नहीं था। इस संबंध में विनयपिटक²³ में विस्तार के साथ निर्देश है। भिक्षाटन के लिए गृह भी सीमित थे। सामान्यतः वैसे उपासकों के पास भिक्षा के लिए जाना चाहिए, जिनका धर्म और संघ में आस्था हो। बौद्धधर्म और संघ की लोकप्रियता के लिए भोजन के निमंत्रण को भी स्वीकार किया जाता था²⁴। इस तरह भिक्षाटन से छात्रों में शलीनता, विनम्रता और शिष्टाचार का ज्ञान मिलता था और साथ ही भोजन और वस्त्र की समस्या का भी समाधान होता था।

वस्तुतः शिक्षार्थियों को व्यवहारिक एवं विनम्रता की सीख देना आचार्य का परम लक्ष्य होता था, इसलिए उन पर उत्तरदायित्वों का भार लाद दिया गया था। छात्र आमतौर पर बिना शिक्षक से अनुमति के कोई कार्य नहीं कर सकता था। उसे निम्नांकित कार्य बिना शिक्षक से अनुमति प्राप्त करने की मनाही थी -

(क) शिष्य को अपना भिक्षा पात्र चीवर और अन्य चीज न किसी को देनी चाहिए और न किसी से लेनी चाहिए।

(ख) बिना अनुमति के न किसी का सिर मुड़ना चाहिए और न

मुड़वाना चाहिए।

(ग) न किसी की प्रतीक्षा करना चाहिए और न किसी से इन्तजार करवाना चाहिए।

(घ) कहीं जाने के क्रम में न किसी को बिना अनुमति के साथ ले जाना चाहिए और न किसी के साथ जाना चाहिए।

(ङ) बिना अनुमति के किसी का भिक्षापात्र बिहार में नहीं लाना चाहिए और न अपना भिक्षापात्र किसी से दुलवाना चाहिए।

(च) बिना अनुमति के न गाँव में, न नगर में और न विदेश यात्रा पर जाना चाहिए।

निष्कर्षतः शिष्य, आचार्य के पूर्ण नियंत्रण में रहते हुए सेवा के द्वारा अध्ययन, सत्य का अनुसंधान, शास्त्रचर्चा, चिन्तन-मनन और ध्यान करते थे। इसके अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक विकास के लिए खेलों और अन्य आयोजनों का प्रावधान था। उपलब्ध स्रोतों के विश्लेषण से पता चलता है कि गुरु-शिष्य-संबंध पिता एवं पुत्र के संबंधों पर आधारित था और आपसी सहयोग-स्नेह के द्वारा धर्म के चरम लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति की ओर अग्रसारित करना था। इस तरह बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था में आचार्य शिष्य संबंध में गुरु के भटकाव पर मूल्याधारित विवाद करने तथा शुद्धि के पश्चात् उनपर से आरोप हटा लेने का प्रस्ताव करने की जो सुविधा थी वैसी बात ब्राह्मण शिक्षा-व्यवस्था में नहीं थी। क्योंकि बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था महाविहार की सार्वजनिक व्यवस्था पर आधारित थी और ब्राह्मण शिक्षा-व्यवस्था गुरुओं की निजी संस्थाओं पर निर्भर थी। बौद्ध-व्यवस्था अधिक गणतांत्रिक थी। यह वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी कदम था।

संदर्भ :

1. मानुस्मृति, हिन्दी अनुवाद हरिगोविंद शास्त्री, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1952
2. माहवग्ग, नालंदा देवनागरी पालिग्रंथमाला, 1958, 1.26 देखे संकालिया, दू यूनिवर्सिटी ऑफ नालंदा, पृ० 154
3. वही, 1.18.64, 65
4. वही, 1.26.82, पृ० 67
5. संकालिया, ऊपर, पृ० 154
6. माहवग्ग, 1.2.1, पृ० 102
7. वही, 1.18.65, पृ० 43
8. माहवग्ग, 1.21, पृ० 102
9. जातक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भदंत आनंद कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भाग -2, 291.231
10. विनयपिटक, राहुल सांकृत्यायन (अनु०) महोबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1936, 1.2.1, पृ० 101-103



11. मानुस्मृति, 2.200
12. चरक संहिता, जे० विधासागर, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1896, 8.4
13. माहवग्ग, 1.21
14. विनयपिटक, 1.21, पृ० 102
15. माहवग्ग, 1.21
16. मिलिंदपञ्चों, जगदीश कश्यप (अनु०), धर्मोदय सभा, कलकत्ता, 1.22, पृ० 7
17. देखें विनयपिटक
18. इत्सिंग, टाकाकुसु, जे० ए० रेकार्ड ऑव द बुद्धिस्टिक रेलीजन, पृ० 117
19. वही, प० 120
20. रीस डेविड्स, बुद्धिज्म, लंदन, 1951, पृ० 108-112
21. नलिनाक्ष दत्त तथा के० डी० वाजपेयी, उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ, पृ० 185
22. वही, पृ० 82-83
23. चुल्लुवग्ग, नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथमाला, 1958, 8.5.2
24. वही, 8.5.5
25. महावग्ग, 1.18.66 पृ० 47, तुलनीय बौद्ध शिक्षा के इतिहास के लिए देखें राधाकुमुद मुकर्जी, एंशट इंडियन एडुकेशन, लंदन, 1947, नरेन्द्र देव, बौद्ध धर्म और दर्शन, पटना, 1950





जनजातीय विद्रोहों के इतिहास के हाशिये पर महिलाएँ : एक दृष्टि



डॉ मनीता कुमारी यादव

सहायक प्राध्यापक

इतिहास विभाग

बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

इतिहास के हाशिये में गुमनाम महिलाएँ उन साहसी महिलाओं की अनकही कहानी है जिन्हें भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, लेकिन उन्हें इतिहास लेखन में पहचान नहीं मिली। इसी तरह मुंडा 'उलगुलान' विद्रोह में शामिल महिलाओं को इस पेपर के माध्यम से आगे लाने की कोशिश की गई है।

झारखंड के समाज में महिलाओं की स्थिति हमेशा हर स्तर पर बराबर की भागीदारी वाली रही है। बहुत पुराने समय में भी जब समाज पूर्ण रूप से खेती पर निर्भर नहीं हुआ था। महिलाएँ शिकार करने और पेड़ों से फल-फूल व मधु उतारने जैसा जोखिम भरा काम किया करती थीं। वे लोग बाहरी हमलों के खिलाफ होने वाली लड़ाईयों में पुरुषों के समान ही भूमिका निभाया करती थीं। उलगुलान विद्रोह के पूर्व 1832 ई० में वीर बंधु भगत के नेतृत्व में हुआ, सिंहभूम के 'हो' का विद्रोह, 1855 ई० का संथाल विद्रोह में महिलाओं की वीरतापूर्ण हिस्सेदारी रही है। संथाल विद्रोह में सिद्धू-कान्हों की बहनें फूलों तथा ज्ञानो का नाम भी उल्लेखनीय है। इसी तरह से अंग्रेजी राज के विरुद्ध 1895 से 1900 ई० में हुए बिरसा उलगुलान में भी महिलाओं की जबरदस्त भूमिका थीं। औपनिवेशिक शासन के इतिहास में अधिकांश आदिवासी महिलाओं ने ऐतिहासिक संघर्ष किया। इस स्वतंत्रता संघर्ष में समाज के दोनों मुख्य घटकों— स्त्री और पुरुष ने साथ-साथ कार्य किया। इसलिए दोनों ने साथ-साथ संघर्ष किया और साथ-साथ ही मातृ भूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दीं। लेकिन यह चिंतनीय है कि समाज के निर्माण, सृजन और संघर्ष में बराबर की हिस्सेदारी करने वाली महिलाओं को लिखित इतिहास में उचित सम्मान नहीं मिला। बिरसा उलगुलान में शामिल और लड़ाई के दौरान शहीद हुई अधिकांश महिलाओं के नाम आज भी गुमनाम हैं।

उलगुलान विद्रोह की दौर में दो तरह की महिलाएँ हैं। एक वैसी महिलाएँ जो निजी तौर पर बिरसा के जीवन में आई और दूसरी वैसी महिलाएँ हैं जिन्होंने अपने-अपने परिवार और समाज के साथ उलगुलान युद्ध में भाग लिया। बिरसा के साथ निजी तौर पर जुड़ने वाली महिलाएँ भी आई

लेकिन उन्होंने हर क्षण उलगुलान की गतिविधियों में पूरी तरह से भागीदार रहीं। इस प्रस्तुत लेख में हम उलगुलान में शामिल दोनों की तरह स्त्रियों में जानने का प्रयास करेंगे।

बिरसा ने जब दिसुम (मातृभूमि) की रक्षा करने के लिए स्वयं को धरती 'आबा' घोषित करते हुए मुंडा लोगों को आजादी के लिए संगठित होने का आह्वान किया उसे समय उनकी आयु मात्र 20 वर्ष की थी। सुरेश कुमार सिंह ने अपनी पुस्तक बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन में लिखा है— "1894 में बिरसा बढ़कर एक बलिष्ठ और सुंदर युवक बन चुका था। वह पाँच फुट और चार इंच लंबा था। वह देखने-सुनने में बहुत ज्यादा आकर्षक और अच्छे नाक-नकश वाला था। उसकी आँखों में अजीब चमक थी। वह बुद्धिमान था। डॉक्टर सिंह ने उस उम्र में बिरसा के साथ निजी तौर पर जुड़ने वाली अनेक स्त्रियों की चर्चा की है। इनमें एक स्त्री उनकी मंगेतर थी। यह रिश्ता परिवार ने तय किया था लेकिन जब वह जेल से लौटे तो उसे अपने प्रति वफादार नहीं पाकर उन्होंने उसके साथ संबंध आगे नहीं बढ़ाया। वह सिंहभूम संकरा गाँव की रहने वाली थी। दूसरी स्त्री मतियस मुंडा की बहन थी। जेल से छूटने पर जिन दो औरतों ने उसके साथ रहने की इच्छा जाहिर की थी। उसमें एक दो कोएंसर के मथुरा मुंडा की बेटा और दूसरी जिउरी के जग्गा मुंडा की स्त्री थीं।

एक अन्य महिला बुरुडीह की थी जिसे बिरसा ने अपना और आश्रय दिया था। गिरफ्तारी के समय में जो दो औरतें बिरसा के साथ थी उनमें से एक थी उनकी साली। साली बुरुडीह की थी। दूसरी स्त्री सुंगी मुंडा की बेटा थी। एक अन्य नाम तिनगी मुंडा, बंकन मुंडा की पत्नी थी। वह अपने पति के साथ बिरसा आंदोलन में जुड़ी थी। इनका जन्म खूँटी के मुरहू प्रखंड स्थित जिउरी गाँव में हुआ था। वे



वर्ष 1895 में आंदोलन से तिनगी मुंडा जुड़ीं। वह लगातार विद्रोह में सक्रिय रहीं। जब आदिवासियों और अंग्रेजों के बीच संघर्ष हुआ, तो वह अंग्रेजों की गोलियों का शिकार हुईं। डोंबरी पहाड़ के नीचे जिन 06 शहीदों के नाम शिलालेख पर अंकित हैं, उनमें तिनगी का नाम नहीं है। शीलापट पर लिखा है— बंकन मुंडा की पत्नी।

जीउरी के माझिया मुंडा की पत्नी लोकोम्बा मुंडा भी डोंबरी में शहीद हुई थीं। शिलालेख पर उनका नाम उल्लेख नहीं है। सिर्फ माझिया मुंडा की पत्नी लिखा है। लोकोम्बा का जन्म चाईबासा जिले के बाड़ कुबे गाँव में वर्ष 1884 की लोकोम्बा मुंडा का जन्म हुआ था। शादी के बाद वह जिउरी गाँव स्थित अपने ससुराल आ गयीं। लोकोम्बा मुंडा भी बिरसा मुंडा की सभा में शामिल होती थी और विद्रोह की रणनीति में भाग लेती थीं। वे महिलाओं को संबोधित करती थी। उनके जुड़वाँ बच्चे थे। वह डोंबरी पर संघर्ष के दिन पहाड़ पर अपने बच्चों के साथ थी। लोकोम्बा अपने बच्चों को बचाने की कोशिश में पहाड़ पर ही शहीद हो गयीं। तस्वीर मुंडा जिउरी गाँव की निवासी थी। वह डुन्दुंग मुंडा की पत्नी थीं। सन् 1900 ई० में बिरसा मुंडा के आंदोलन के दौरान वह भी डोंबरी पहाड़ पर थी। वह भी अंग्रेजों की गोलियों का शिकार हुई थी। शिलालेख पर अंकित है— डुन्दुंग मुंडा की पत्नी। इसके अलावा गया मुंडा की पत्नी माकी मुंडा और उसकी तीन बेटियाँ और 02 बहुओं ने भी बहादुरी से अंग्रेजों का सामना किया। इन लोगों ने लाठी, कुल्हाड़ी, और दौली से गया मुंडा को पकड़ने गये अंग्रेज सिपाहियों का सामना किया था। कुमार सुरेश सिंह लिखते हैं— इनमें से 02 महिलाओं ने अपने बायें हाथों में छोटे बच्चों को पकड़ रखा था और दाहिने हाथ से कुल्हाड़ी चला रही थीं।

इसके साथ ही 1900 में डोम्बारी और साईल रकब पर हुए संघर्ष के बाद एक और स्त्री को अंग्रेजी पुलिस ढूँढ़ रही थीं। इसके बारे में कहा जाता है कि वह बुधु मुंडा की बेटि थी। जिससे लड़ाई शुरू होने से तीन महीने पहले ही बिरसा का विवाह हुआ था।

उपरोक्त विवरणों से पता चलता है कि बिरसा के निजी जीवन से कम-से-कम 8 महिलाएँ सीधे तौर पर जुड़ी थीं। उसके सुंदर व्यक्तित्व और बुद्धिमत्ता के कारण सहज ही लोग उसके आकर्षण में बंध जाते थे। कुमार सुरेश ने अपनी शोधपरक पुस्तक में बताया है कि बिरसा बाँसुरी बजाने में बहुत प्रवीण थे। कई लड़कियाँ तो शुरूआती दिनों में सिर्फ उनकी बाँसुरी सुनकर उससे प्रेम

निवेदन करने लगती थीं। इसलिए बाद में बिरसा ने बाँसुरी बजाना ही छोड़ दिया। डॉ० सिंह के अनुसार उपरोक्त सात महिलाओं के अतिरिक्त कुछ और औरतों से भी बिरसा के संबंधों की चर्चा मिलती है। इस संबंध में एक दिलचस्प प्रसंग का उल्लेख डॉ० सिंह ने किया है। वे लिखते हैं, चलकद की एक औरत तो उससे बुरी तरह से प्रेम करने लगी। एक दिन वह अपने बच्चे को अपनी पीठ से बाँधे एक पेड़ पर चढ़ गई और लगी गाना गाने। दूसरे दिन सुबह वह पेड़ से उतरी। बिरसा के करीब आई और उससे बोली कि उसके दुश्मन आस-पास छिपे हुए थे। बिरसा ने उसे झिड़क दिया। वह इस उपेक्षा से पागल हो गई। उसे नोच-नोचकर घास खाने लगी। उसकी निर्दयता की कहानी जोर-जोर से सुनाने लगी।

बिरसा के निर्देशानुसार महिलाओं ने हर स्तर पर अनेक जिम्मेदारियों को दक्षतापूर्वक सँभाल लिया था। जब बिरसा की गिरफ्तारी हो गई उस समय उलगुलान का नया ठिकाना रसद-पानी, भोजन, सुरक्षा, पड़ाव की देख-रेख सैन्य अभ्यास आदि सभी कार्यों का व्यवस्थापन डोम्बारी पहाड़ी पर करने में संलग्न थी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण था बिरसा की सुरक्षा का भार। बिरसा को बहुत ही छलपूर्वक तरीके से गिरफ्तार किया गया था इसलिए उनके अनुयायी अब पहले की अपेक्षा ज्यादा सजग थे। इसलिए बिरसा की सुरक्षा का भार महिलाओं को सौंपा गया। इस बारे में अनेक इतिहासकारों ने लिखा है कि बिरसा की अंगरक्षक दो महिलाएँ थी जो बराबर तीर-धनुष और तलवार लिए उनके अगल-बगल रहती थी। अतः हम अनुमान लगा सकते हैं कि उलगुलान में महिलाओं की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका थीं। स्त्री अंगरक्षकों की यह परंपरा हम झारखंड आंदोलन के आधुनिक दौर में भी पाते हैं। जयपाल सिंह मुंडा की अंगरक्षक भी दो महिलाएँ ही थी। इस बात का उल्लेख 1939 की 'आदिवासी' पत्रिका और उस समय के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में हुआ है।

इस बात का भी उल्लेख मिला है कि उलगुलान में शामिल होने के लिए महिलाएँ स्वयं तो आती थी, परिवार के लोग भी आगे बढ़कर घर की औरतों को खुशी-खुशी भेजते थे। इसमें अविवाहित लड़कियाँ ही नहीं बल्कि विवाहित औरतें भी शामिल होती थीं। पुरुष स्वयं अपनी शादी-शुदा औरतों को उलगुलान के लिए समर्पित करने में थोड़ा-सा भी नहीं हिचकिचाते थे। बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन में स्पष्ट उल्लेख है कि उलगुलान के लिए लोग न केवल खेती-बाड़ी छोड़ते जा रहे थे और अपने मवेशी बेच रहे थे



बल्कि अपनी पत्नियों को भी अपने धरती आबा बिरसा के सुपुर्द कर रहे थे। हमें आदिवासी समाज की यह जानकारी मिलती है कि उनकी सोच काफी आगे थी। उनका मानना है कि महिलाओं का कर्तव्य सिर्फ घर तक सीमित नहीं है उन्हें समाज के प्रत्येक क्षेत्र में भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिए।

6 जनवरी, 1900 को जब रांची के डिप्टी कमिश्नर बिरसा को गिरफ्तार करने और उलगुलान का दमन करने ऐटकेंडीह पहुँचे तो उनकी पहली भिड़ंत औरतों के साथ ही हुई। उलगुलान के प्रायः सभी इतिहासकारों ने प्रमुखता से इस घटना का वर्णन किया है। इस वर्णन के अनुसार 11 बजे दिन को पुलिस पार्टी गया मुंडा के घर ऐटकेंडीह गाँव पहुँची थी। जब डिप्टी कमिश्नर ने घर के सभी लोगों को आत्मसमर्पण करने के लिए आवाज लगायी। बहुत देर बाद भी घर के भीतर से कोई बाहर नहीं आया। तब तक कांस्टेबल को घर में भेजा गया। वह तुरंत ही बचाओ-बचाओ चिल्लाता बाहर निकल आया। फिर भीतर से गया मुंडा की आवाज आयी- यह घर उसका है और डिप्टी कमिश्नर को उसके भीतर घुसने का कोई अधिकार नहीं है। इस पर डिप्टी कमिश्नर ने गोली चलायी और माचिस दिखाकर आग लगाने की धमकी दी। तब भी आत्मसमर्पण करने कोई भी बाहर नहीं निकला। अंत में, डिप्टी कमिश्नर ने घर को आग लगा दी। तब गया मुंडा को मजबूरन घर से बाहर आना पड़ा। डिप्टी कमिश्नर ने गया मुंडा और उसके घर की औरतों के साथ संघर्ष का जीवन वर्णन किया है। उसके वर्णन के अनुसार- गया मुंडा नंगी तलवार लिए हुए थे। उसकी और बाकी के हाथ में लंबी लाठी थी। छोटा लड़का कुल्हाड़ी लिए हुए था। उसका 14 साल का पोता रामू धनुष दो तीर लिए हुए था। दो पुत्र-बधुओं में से एक दौली और दूसरी टांगी के साथ थी। तीन पुत्रियों थिगी नागी और लेम्बू के हाथों में क्रमशः लाठी, तलवार और टांगी थी। उसकी पत्नी मुझे लाठी से मार रही थी इस तरह इन औरतों का आदम्य तथा साहस की चर्चा गौण है। इसके अतिरिक्त गया मुंडा ने जिस हिम्मत और आदम्य में निर्भीकता से संघर्ष किया। इस घटना में उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण औरतों की भूमिका थी।

9 जनवरी को सर्जल रकब पहाड़ी को फोरबेस, रोसे और स्ट्रीटफील्ड के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने घेर लिया। उलगुलान के लड़ाके औरतों के साथ डटे रहे। सेना ने गोलियाँ बरसाई और उलगुलानियों ने इसका जवाब तीर, गुल्लक और पत्थरों से दिया। ब्रिटिश सैनिकों ने पीछे हटते

हुए स्त्री-पुरुषों को अपना निशाना बनाया। सरकारी अभिलेखों के अनुसार इसमें तीन औरतें मारी गईं। कैप्टन रॉसे ने लिखा है- दरअसल विद्रोहियों में औरतों और मर्दों के बीच फर्क कर सकना ही मुश्किल था। जब गोलीबारी के बाद हुई तलाशी में दो मर्द, एक युवक, बीस औरतें, आठ बच्चे गुफाओं में छिपे मिले। इन मारी गई औरतों के साथ एक गंभीर रूप से घायल बच्चा भी मिला था। इस बर्बर गोलीकांड की हर तरफ आलोचना हुई लेकिन ब्रिटिश सरकार के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इस हत्याकांड और महिलाओं की दुखद मृत्यु के लिए सेना को सभी प्रकार के आरोपों से मुक्त कर दिया। पादरी आयर चैटरटन ने 'स्टोरी ऑफ फिफ्टली इयर्स ऑफ मिशन वर्क्स इन छोटा नागपुर में बताया है कि 1900 में सर्जल रकब पर हुए गोलीकांड के बाद बिरसा के करीब 100 अन्यायियों को मौत के घाट उतार दिया। जिनमें अधिकांश महिलाएँ थी।

उस समय के तत्कालीन दस्तावेजों के अनुसार इस बर्बर गोलीकांड और व्यापक स्तर पर चले धड़-पकड़ अभियान के बाद कुछ समय तक चुप्पी रही। जिससे ब्रिटिश अधिकारियों को लगा कि आंदोलनकारी डर गए। पर फादर हॉफमैन ने सरकार को आग्रह करते हुए अपनी रिपोर्ट में कहा- इस भ्रम में रहना बहुत बड़ी गलती होगी कि इस घटना से बिरसा के आदमियों के दृढ़ संकल्प में कुछ कमी आई होगी। डॉक्टर सिंह भी मानते हैं कि बरसा के आदमी और उनकी पत्नियाँ अजीब किस्म के जिद्दी और दृढ़ संकल्प वाले लोग थे। सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री शरत चंद्र राय ने भी 1912 की 'मुंडाज एंड देय कंट्री' में लिखा है कि अन्य आदिवासी समुदायों की अपेक्षा हो- मुंडा लोग बहुत जिद्दी, आड़ियल और लड़ाकू प्रवृत्ति के होते हैं।

इस तरह से मुझे उलगुलान विद्रोह में गुमनाम स्त्रियों के नाम प्राप्त हुए। इस विषय पर शोध करने में मैंने प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का प्रयोग किया है। बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना से कुछ सरकारी दस्तावेज तथा रिकॉर्ड्स प्राप्त हुए हैं जो बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' विद्रोह पर आधारित हैं। जबकि द्वितीयक सामग्री के अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण पुस्तक मिली हैं जिसमें A.R.N. Srivastava की पुस्तक Tribal Freedom Fighters of India, दूसरी पुस्तक शाहिद आमीन तथा ज्ञानेन्द्र पांडे की पुस्तक निम्नवर्गीय प्रसंग, सुरेश कुमार सिंह की पुस्तक सुजाता सिंह, Tribal Women and Anti colonial Movements in Santhal



Pargana: 1855-87.

इस तरह से इस पेपर के माध्यम से मैंने उलगुलान में शामिल महिलाओं को इतिहास के पन्ने में आगे लाने की कोशिश की है और आगे भी कोशिश जारी रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ— सूची —

1. मिश्रा, डॉ० सुरेश, ट्राइबल रिवाल्ड्स इन 19th सेन्चुरी इंडिया, राधा पब्लिकेशन, First Edition: 2019
2. श्रीवास्तव, ए०आर०एन० ट्राइबल फ्रीडम फाइटर्स ऑफ इंडिया, पब्लिकेशन डिवीजन, 2017
3. एस०पी० सिन्हा, संथाल हूल (इनसरेक्शन ऑफ संथाल 1855-56), (राँची, 1991)
4. बासवी, 'उलगुलान की ओर' इन झारखण्ड: दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने एडिट बॉच हरिवंश, राजकमल प्रकाशन (दिल्ली, 2002): 143
5. बासवी, झारखण्ड: दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने हरिवंश रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ० 145.
6. सुजाता सिंह, ट्राइबल वीमेन एण्ड एन्टी कोलोनियल मूवमेन्ट्स इन संथान परगना: 1855-57, खुदा बख्श लाइब्रेरी जनरल न. 151 जनवरी-मार्च, 2008, पृ० 61.
7. बट्टी नारायण, रश्मि चौधरी, संजय नाथ, 1857 का महासंग्राम वैकल्पिक इतिहास की ओर, आधार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.



एक राष्ट्र एक चुनाव : वर्तमान समय में आवश्यकता एवं चुनौतियाँ



डॉ विजय शंकर विक्रम

सहायक प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
बी. डी कॉलेज, पटना।
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

संक्षिप्त सार : प्रस्तुत शोध-आलेख भारतीय संघ व्यवस्था में एक राष्ट्र एक चुनाव की आवश्यकता एवं प्रासंगिकता पर केन्द्रित है। इस आलेख में लोकसभा एवं राज्य के विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराये जाने के फायदे, संभावनाओं एवं चुनौतियों का समग्र विश्लेषण किया गया है। यह बिल्कुल नई अवधारणा अथवा नया मुद्दा नहीं है। वैसे आज भी अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, आंध्र प्रदेश, तथा ओडिशा राज्य में विधानसभा चुनाव एवं लोकसभा चुनाव के साथ आयोजित किये जा रहे हैं। आजादी के बाद वर्ष 1967 तक देश में लोकसभा एवं राज्य की विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होता था। लेकिन दल-बदल अथवा 'डिफेक्शन', बर्खास्तगी अथवा 'डिस्मिसल' एवं सरकार के विघटन अथवा 'डिजॉल्यूशन' आदि कारणों से यह व्यवस्था बाधित होती चली गई। भारत एक ऐसा लोकतांत्रिक ढांचा है, जो अपनी जीवंत चुनाव प्रक्रिया के आधार पर फल-फूल रहा है। केन्द्र सरकार द्वारा लोकसभा में दो संविधान संशोधन विधेयकों "एक राष्ट्र, एक चुनाव" - 129 वॉ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 तथा 'केन्द्रशासित प्रदेश कानून संशोधन विधेयक, 2024' को पेश करके "एक राष्ट्र, एक चुनाव" को लागू करने की दिशा में बड़ा कदम उठाया है।

इस शोध-आलेख में विश्लेषणात्मक शोध-विधि का प्रयोग किया गया है। यह द्वितीयक तथ्यों पर आधारित है। वर्तमान समय में भारत में एक देश एक चुनाव को लागू करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं और चुनौतियों का भी विश्लेषण किया गया है। चुनाव व्यवस्था किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्राण होता है। भारतीय निर्वाचन आयोग एक देश एक चुनाव का स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण संचालन कराने में सक्षम है। एक देश एक चुनाव के बहुत सारे फायदे हैं। लेकिन, इसके लिए भारतीय संविधान में संशोधन की आवश्यकता होगी। वर्तमान केन्द्र की सरकार की प्राथमिकता में 'एक देश एक चुनाव' का मुद्दा है। वैसे एक साथ चुनाव कराने का समर्थन बी0पी0 जीवन रेड्डी की अध्यक्षता वाले विधि आयोग ने वर्ष 1999 में ही किया था। लेकिन, भारतीय संघीय व्यवस्था में आज 'एक देश एक चुनाव' की अवधारणा अथवा मुद्दा पर कई प्रश्न उठाए जा रहे हैं। यह शोध-आलेख उन प्रश्नों एवं संबंधित चुनौतियों का समाधान ढूँढने की दिशा में एक सकारात्मक, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रयास है।

शब्द-कुंजी: चुनाव, दल-बदल, संविधान संशोधन, चुनाव

सुधार एवं संघीय व्यवस्था।

प्रस्तावना

प्राकृतिक सौन्दर्य, असीम समरसता, सौहार्द, सहिष्णुता, त्याग एवं विविधता से परिपूर्ण तपोभूमि भारत विश्व का सबसे विशाल लोकतांत्रिक व्यवस्था वाला देश है। लोकतान्त्रिक देश की महत्वपूर्ण विशेषता स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन प्रणाली है। चुनाव के माध्यम से ही मतदाता अपने जन-प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। हमारे देश के संविधान निर्मात्री सभा द्वारा संविधान में चुनावों का आयोजन हेतु एक निर्वाचन तन्त्र की स्थापना का प्रावधान किया गया, जिसे 'भारत निर्वाचन आयोग' के नाम से जाना जाता है। भारतीय संविधान के भाग-15 के अन्तर्गत अनुच्छेद-324 से अनुच्छेद-329 तक निर्वाचन आयोग संबंधी प्रावधानों का उल्लेख किया गया है। भारत निर्वाचन आयोग द्वारा वर्ष 1951 के प्रथम आम चुनाव से लेकर वर्ष 2024 के अठारहवीं लोकसभा निर्वाचन तक चुनावों का स्वतंत्र एवं निष्पक्ष रूप से सफलतापूर्वक क्रियान्वयन किया गया है। पहले आम चुनाव में भारत ने अपने सभी व्यस्क नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्रदान किया। भारत ने सदैव दृढ़ता एवं मजबूती से अपने कदम आगे बढ़ाए। लोकतंत्र की राह में भारत के कदम कभी डगमगाए अथवा विचलित नहीं हुए।¹

चुनाव व्यवस्था लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्राण है। वर्तमान समय में केन्द्र सरकार के द्वारा एक देश, एक चुनाव को लेकर एक आठ सदस्यीय उच्च स्तरीय समिति का गठन किया गया है। पूर्व राष्ट्रपति कोविंद को उस समिति का अध्यक्ष बनाया गया है, जो लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव



कराने की संभावना पर गौर करेंगी एवं अपनी सिफारिशों केन्द्र सरकार को देंगी। इसके समर्थकों का यह कहना है कि राष्ट्र हित में एक साथ चुनाव कराना जरूरी है। वर्तमान समय में हर साल और एक साल के भीतर भी अलग-अलग समय पर चुनाव होते हैं। इसके कारण सरकार एवं अन्य हितधारकों का काफी खर्च होता है। प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन एक अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह तथ्य स्वतः सिद्ध है कि "परिवर्तन ही प्रकृति का शाश्वत नियम है।" भारतीय चुनाव व्यवस्था एवं प्रक्रिया में कुछ सुधार की आवश्यकता है। इसके लिए चुनाव की प्रक्रिया में परिवर्तन आवश्यक है। भले ही देश के सभी राजनीतिक दल इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हों।²

एक राष्ट्र एक चुनाव की भारत में शुरुआत

भारत 15 अगस्त 1947 ई0 को आजाद हुआ। आजादी के बाद संविधान सभा ने 26 नवम्बर, 1949 को संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित एवं आत्मार्पित किया। नया संविधान 26 जनवरी 1950 ई0 को लागू किया गया। मार्च, 1950 में सुकुमार सेन देश के पहले मुख्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किए गए। सुकुमार सेन एक गणितज्ञ थे एवं नियुक्ति के समय वे पश्चिम बंगाल सरकार के मुख्य सचिव थे। उनके शब्दों में, "पहला आम चुनाव कराना एक ऐतिहासिक एवं चुनौती भरा काम था। प्रथम आम चुनाव के समय देश में 21 वर्ष या उससे ऊपर के आयु के मतदाताओं की संख्या 17 करोड़ 60 लाख थी, जिनमें से 85 प्रतिशत अशिक्षित थे। देश के मतदाता 10 लाख वर्गमील के क्षेत्र में फैले थे। इसमें से कुछ सर्दियों में बर्फ से ढके रहते थे, तो राजस्थान के रेगिस्तान में धूलभरी आंधी चलती थी। कुछ क्षेत्रों में ऊंचे-नीचे घने वन, घाटियां, नदियां, नाले और अनेक टापू थे। कुछ गांव ऐसे दुर्गम स्थानों में थे, जहां पहुंचना समस्या थी।"³

प्रथम आम चुनाव में भारत के निर्वाचन आयोग को 4,500 सीटों के लिए चुनाव कराना था। इसमें 500 सीटें लोकसभा की और शेष विधानसभा की थीं। देश भर में 2 लाख 24 हजार मतदान केन्द्र बनाए गए, इसमें 20 लाख स्टील के बक्सों का इस्तेमाल किया गया, 16 हजार 500 व्यक्तियों ने 6 महीनों तक मतदाता सूचियां टाइप की और फिर जांच के बाद वह प्रकाशित की गईं। 56 हजार प्रीजाइडिंग अधिकारियों, 2 लाख 80 हजार सहायकों एवं 2 लाख 24 हजार पुलिसकर्मियों ने चुनाव

सम्पन्न कराया। मतदान केन्द्र विविधता के अलावा विस्तृत एवं दुर्गम भू-भाग में फैले थे। निर्वाचन कर्मियों को उन स्थानों पर पहुंचन के लिए हाथी, बैल-गाड़ी, टमटम, जीप, नावों का इस्तेमाल करना पड़ा। वहीं मतदाता सूची में महिलाओं का नाम जोड़ना भी एक कठिन कार्य साबित हुआ था।⁴

रूढ़ियों एवं रीति-रिवाजों के चलते उत्तर भारत की अधिकांश महिलायें अपना नाम मोहन की मां एवं पवन की पत्नी लिखवाना चाहती थीं। चुनावकर्मियों के काफी समझाने के बाद भी वे अपना मूल नाम लिखवाने को तैयार नहीं थीं। मुख्य चुनाव आयुक्त ने इस मामले में कठोर रवैया अपनाया और चुनावकर्मियों को आदेश दिया कि केवल उन्हीं महिलाओं का नाम मतदाता सूची में दर्ज करें जो अपना नाम लिखवायें। उनके इस आदेश के कारण लगभग 28 लाख महिलाओं के नाम मतदाता सूची से दर्ज नहीं हो सके। इसका दूरगामी परिणाम यह हुआ कि अगले चुनाव में उन सभी औरतों अथवा महिलाओं ने बड़े उत्साह से अपना नाम मतदाता सूची में दर्ज कराया। पहले आम चुनाव के दौरान निर्वाचन आयोग और कार्यपालिका ने मिल-जुलकर काम किया तथा चौथे आम चुनावों तक लगभग यही स्थिति रही। इस बीच निर्वाचन आयोग को सत्ता के दुरुपयोग, जाली मतदान, मतदान केन्द्रों पर असामाजिक तत्वों के कब्जे और बाहुबलियों द्वारा समाज के गरीब वर्गों को रोकने की शिकायतें मिलने लगीं। इसलिए निर्वाचन आयोग ने धीरे-धीरे अपने अधिकारों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई। वह निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण चुनाव करवाने लगीं।⁵

1951ई0 के प्रथम आम चुनाव से लेकर 1967ई0 के चौथे आम चुनाव तक लोकसभा एवं राज्यों के अधिकांश विधानसभाओं का चुनाव साथ-साथ सम्पन्न होता था। लेकिन, प्रथम बार यह व्यवस्था वर्ष 1959 में टूटा था, जब केन्द्र ने तत्कालीन केरल सरकार को बर्खास्त करने के लिए अनुच्छेद-356 लगा दिया था। चतुर्थ आम चुनाव 1967 के बाद राजनीतिक दलों के बीच दल-बदल और प्रति-दलबदल के कारण कई विधानसभाओं में विघटन की स्थिति बनी, जिसके कारण अंततः लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग आयोजित किये जाने लगे। चौथे आम चुनाव के बाद स्थिति में बदलाव आया, जो निरंतर बदलता गया। इस चुनाव तक राज्यों एवं केन्द्र की सत्ता में लगभग कांग्रेस का एकाधिकार रहा।



पंडित जवाहरलाल नेहरू के निधन के बाद भारतीय राजनीति पर उनका प्रभाव लगभग समाप्त हो गया। जिससे चौथे आम चुनावों में कांग्रेस की स्थिति राज्यों में अपेक्षाकृत कमजोर हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्र एवं राज्यों में अलग-अलग दल की सरकारें बनने लगी। कभी दलबदल, कभी प्रति-दलबदल तथा कभी राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा कर, सरकार बनाई एवं गिराये जाने लगी। कुछ विधानसभाओं को 1968 और 1969 में भंग कर दिया गया। वहीं 1970 में लोकसभा को भी समय से पहले भंग कर दिया गया। दल-बदल अथवा डिफेक्शन, बर्खास्तगी अथवा डिस्मिसल एवं सरकार के विघटन अथवा डिजॉल्यूशन आदि कारणों से एक देश एक चुनाव रूपी व्यवस्था बाधित होती चली गई। इस तरह, एक देश एक चुनाव का सफर समाप्त हो गया।⁹ अब पुनः एक देश एक चुनाव पर चर्चा चल रही है।

भारतीय संघ व्यवस्था में एक राष्ट्र एक चुनाव की प्रासंगिकता

वर्तमान समय में भारतीय संघ के किसी न किसी राज्य में कम से कम हर छठे माह में कोई न कोई चुनाव आयोजित होता रहता है। इससे सरकार एवं प्रशासन का ध्यान चुनाव पर लग जाता है एवं जिससे विकास कार्यों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक अपंगता की स्थिति बन जाती है। निर्वाचन आयोग द्वारा चुनावों की घोषणा के साथ ही 'आदर्श आचार संहिता' लागू हो जाती है। इससे केन्द्र, राज्यों और स्थानीय निकायों – सभी स्तरों पर प्रमुख नीतिगत निर्णयों में विलम्ब की स्थिति बन जाती है। राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण बार-बार होने वाला चुनाव भी है। जब देश में 1951-52 में प्रथम आम चुनाव हुए थे, उस समय 53 राजनीतिक दलों ने चुनाव में भाग लिया था। कुल 1874 उम्मीदवारों ने चुनाव में अपनी किस्मत आजमाई थी। इस चुनाव में कुल 11 करोड़ रुपए खर्च हुए थे।⁷

जबकि ए0डी0आर0 की रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2019 के सत्रहवीं लोकसभा चुनाव में लगभग 60,000 करोड़ रुपये खर्च हुए। इस लोकसभा चुनाव में 610 राजनीतिक दलों ने भाग लिया। लगभग 9000 उम्मीदवारों ने चुनाव में अपनी किस्मत आजमाई।⁸ यदि चुनाव एक साथ कराये जायें तो चुनाव आयोग द्वारा किये जाने वाले भारी-भरकम खर्च में काफी कमी लाया जा सकता है। इसके साथ ही, विभिन्न चुनावों के लिए

एक ही मतदाता सूची का निर्माण एवं प्रयोग किया जा सकेगा। इससे समय एवं धन की भी बचत होगी। सुरक्षा बलों एवं पुलिस कर्मियों की तैनाती पर आने वाले लागत को भी कम किया जा सकेगा। चुनावों की संख्या कम होने से मतदाताओं को लुभाने के लिए नीतिगत निर्णयों एवं मुफ्त रेवडियों की घोषणा आदि में कमी आयेगी और राज्यों की वित्तीय स्थिति में भी सुधार होगा।

एक राष्ट्र एक चुनाव के लिए संविधान संशोधन की आवश्यकता

भारतीय संघीय व्यवस्था में एक देश एक चुनाव कराने के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता होगी। साथ ही भारतीय जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम-1951 एवं इससे संबंधित संसदीय प्रक्रियाओं में भी संशोधन की आवश्यकता होगी। भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। भारतीय संविधान में संशोधन के लिए तीन प्रकार की प्रक्रिया अपनाया गया है:— एक साधारण बहुमत के द्वारा, दूसरा विशेष बहुमत के द्वारा तथा तीसरा, विशेष बहुमत एवं कम से कम आधे राज्यों की विधानसभाओं से अनुमोदन के द्वारा। हालांकि, विभिन्न देशों के संविधान में संशोधन की अलग-अलग प्रक्रिया को अपनाया गया है। हमारे देश में संविधान संशोधन की प्रक्रिया को दक्षिण अफ्रिका के संविधान से लिया गया है। विश्व के आधुनिकतम संविधानों में संशोधन की विभिन्न प्रक्रिया में दो सिद्धांत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक सिद्धान्त 'विशेष बहुमत' का जिसे अमेरिका, दक्षिण अफ्रिका तथा रूस जैसे देशों में अपनाया गया है। दूसरा सिद्धान्त है संशोधन में जनता की भागीदारी का, जिसे स्विट्जरलैण्ड जैसे देश में अपनाया गया है। जहां जनता को संशोधन की प्रक्रिया शुरू करने तक का अधिकार है। रूस और इटली में भी जनता को संशोधन करने या संशोधन के अनुमोदन का अधिकार दिया गया है।⁹

वर्ष 1999 में विधि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में एक देश एक चुनाव का समर्थन किया था। अगस्त 2018 में एक देश एक चुनाव पर लॉ-कमीशन की रिपोर्ट आई थी। इस रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि देश में दो चरणों में चुनाव कराये जा सकते हैं। विधि आयोग ने कहा था कि एक साथ चुनाव कराने के लिए कम से कम पांच संवैधानिक संशोधनों की आवश्यकता होगी।¹⁰ इस तरह, भारत में नए सिरे से एक देश एक चुनाव कराने के लिए भारतीय संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदों में संशोधन की आवश्यकता होगी:—



(क) अनुच्छेद-83 के अनुसार, “लोकसभा का कार्यकाल इसके प्रथम बैठक से पाँच वर्षों का होगा।”

(ख) अनुच्छेद-85 के अनुसार, “भारत के राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने का अधिकार है।”

(ग) अनुच्छेद-172 के अनुसार, “राज्य की विधानसभा का कार्यकाल इसके प्रथम बैठक से पाँच वर्षों का होगा।”

(घ) अनुच्छेद-174 के अनुसार, “राज्य के राज्यपाल को राज्य की विधानसभा भंग करने का अधिकार है।”

(ङ) अनुच्छेद-356 के अनुसार, “राज्य के संवैधानिक तंत्र विफल होने पर अथवा राज्य का शासन संविधान के अनुरूप नहीं चलने की स्थिति में राज्यपाल की अनुशंसा पर केन्द्र सरकार को संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने का अधिकार है।

भारतीय संघ व्यवस्था में एक देश एक चुनाव के समक्ष चुनौतियाँ

भारतीय संघीय व्यवस्था में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाये जाने के कारण चुनाव के दिन निर्धारित नहीं हैं। लेकिन अमेरिका के संघीय व्यवस्था में चुनाव के दिन निश्चित होते हैं। अमेरिका में हरेक चौथे वर्ष नवम्बर माह के प्रथम मंगलवार को राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति पद का चुनाव निर्धारित होता है। इसी तरह, हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव एवं सीनेट के सदस्यों के चुनाव का दिन भी निर्धारित होता है। वहाँ के नियमानुसार, इन सदस्यों का चुनाव हर चौथे साल नवम्बर माह के 02 एवं 08 तारीख को निश्चित किया गया है।¹¹ सबसे पहला चुनौती एक चुनाव एक तिथि को लेकर होगा। भारत में मतदाताओं एवं मतदान केन्द्रों की संख्या काफी अधिक है। दूसरा कई मतदान केन्द्र दुर्गम क्षेत्रों में हैं। एक दिन चुनाव कराने में अधिक मतदान कर्मियों की आवश्यकता होगी। सामान्यतः सरकारी कर्मचारियों को मतदान कर्मी बनाया जाता है। हम देख रहे हैं कि दिनों-दिनों सरकारी नौकरियाँ एवं सरकारी कर्मचारी घटते जा रहे हैं। दूसरा अधिक संख्या में इलेक्ट्रानिक वोटिंग मशीनों (ई०वी०एम०) एवं वीवीपैट मशीनों की आवश्यकता होगी।

क्षेत्रीय दल एक देश एक चुनाव का विरोध करेंगे, क्योंकि क्षेत्रीय दलों को यह डर सदैव बना रहेगा कि यदि एक साथ लोकसभा एवं राज्य के विधानसभा के चुनाव हुए तो वे क्षेत्रीय मुद्दों को चुनाव में नहीं उठा

सकेंगे। दोनो चुनाव एक साथ कराये जाने पर राष्ट्रीय मुद्दे ही हावी रहेंगे। इससे चुनाव में स्थानीय या क्षेत्रीय मुद्दे लगभग गौण हो जायेंगे। साथ ही क्षेत्रीय दल चुनाव खर्च करने एवं चुनाव की रणनीति बनाने के मामले में भी राष्ट्रीय दलों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ रहेंगे। वर्ष 2015 में आई०डी०एफ०सी० संस्थान की तरफ से की गई अध्ययन में यह पाया गया कि यदि लोकसभा एवं राज्यों के विधानसभा के चुनाव एक साथ होते हैं तो 77 प्रतिशत संभावना है कि मतदाता एक ही राजनीतिक दल या गठबंधन को चुनेंगे। हालांकि, यदि चुनाव छह महीने के अंतराल पर होते हैं तो 61 प्रतिशत मतदाता केवल एक ही पार्टी को चुनेंगे।¹² इससे किसी एक राजनीतिक दल का एकाधिकार होने की भी संभावना बढ़ेगी। वैसे आज एक देश एक चुनाव समय की मांग है। हालांकि आज भी अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, आंध्र प्रदेश, तथा ओडिशा राज्य में विधानसभा चुनाव, लोकसभा चुनाव के साथ सफलतापूर्वक आयोजित किये जा रहे हैं।

भारत सरकार द्वारा नवीन पहल

भारत एक ऐसा लोकतांत्रिक ढांचा है, जो अपनी जीवंत चुनाव प्रक्रिया के आधार पर फल-फूल रहा है। पूर्व राष्ट्रपति राम नाथ कोविन्द की अध्यक्षता में “एक राष्ट्र, एक चुनाव” के संबंध में एक उच्च स्तरीय समिति का गठन केन्द्र सरकार द्वारा 02 सितंबर, 2023 में किया गया था।¹³ इस समिति को लोकसभा, राज्य विधानसभाओं एवं स्थानीय निकायों के लिये एक साथ चुनाव कराये जाने की व्यवहार्यता की जाँच एवं सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इस समिति ने 18,626 पन्नों की रिपोर्ट 191 दिनों के बाद 14 मार्च, 2024 को केन्द्र सरकार को समर्पित कर दिये।¹⁴ केन्द्र सरकार द्वारा लोकसभा में दो संविधान संशोधन विधेयकों “एक राष्ट्र, एक चुनाव”-129 वॉ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 तथा ‘केन्द्रशासित प्रदेश कानून संशोधन विधेयक, 2024’ को पेश करके “एक राष्ट्र, एक चुनाव” को लागू करने की दिशा में बड़ा कदम उठाया गया है। “एक राष्ट्र, एक चुनाव”-129 वॉ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के कार्यकाल को संरेखित करने के लिये पूर्व राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद की अध्यक्षता वाली समिति की सिफारिश पर संविधान में अनुच्छेद-82ए(1-6) को जोड़ने का निम्नलिखित प्रस्ताव रखा गया है¹⁵:-



अनुच्छेद-82ए(1) में राष्ट्रपति द्वारा आम चुनाव के बाद लोकसभा की प्रथम बैठक में प्रस्तावित परिवर्तनों को लागू करने के लिये समय-सीमा का प्रावधान किया गया है, जिसे 'नियत तिथि' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

अनुच्छेद-82ए(2) में कहा गया है कि नियत तिथि के बाद और लोकसभा का पूर्ण कार्यकाल समाप्त होने से पहले निर्वाचित राज्य विधानसभाओं का कार्यकाल लोकसभा के कार्यकाल के साथ समाप्त हो जायेगा।

अनुच्छेद-82ए(3) में कहा गया है कि भारत का निर्वाचन आयोग लोकसभा और सभी राज्यों की विधानसभाओं के लिये एक साथ आम चुनाव करायेगा।

अनुच्छेद-82ए(4) में कहा गया है कि एक साथ चुनावों को "लोकसभा एवं सभी विधानसभाओं के एक साथ गठन के लिये आयोजित आम चुनाव" के रूप में परिभाषित करता है।

अनुच्छेद-82ए(5) भारत का निर्वाचन आयोग को लोकसभा चुनाव के साथ किसी विशेष विधानसभा चुनाव न कराने का विकल्प प्रदान करता है।

भारत का निर्वाचन आयोग राष्ट्रपति को किसी विधानसभा के लिये बाद में चुनाव कराने की अनुमति देने हेतु आदेश जारी करने की सलाह दे सकता है।

अनुच्छेद-82ए(6) में कहा गया है कि यदि किसी विधानसभा का चुनाव स्थगित कर दिया जाता है तो उस विधानसभा का पूर्ण कार्यकाल भी आम चुनाव में निर्वाचित लोकसभा के पूर्ण कार्यकाल के साथ समाप्त हो जायेगा।

अनुच्छेद-83 में संशोधन :

129 वाँ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 के अनुसार, यदि लोकसभा अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले ही भंग हो जाती है, तो अगली लोकसभा केवल शेष अवधि तक ही कार्य करेगी, जिसे विघटन की तिथि और पहली बैठक की तिथि से पाँच वर्ष के बीच की अवधि के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि सदन के पूर्ण कार्यकाल तक चलने के बाद भी, जो विधेयक अभी भी लंबित हैं, उनकी समय-सीमा समाप्त हो जायेगी।

अनुच्छेद-172 में संशोधन :

129 वाँ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 के अनुसार, राज्य विधानसभाओं के लिये निर्धारित अनुच्छेद-172 में संशोधन प्रस्तावित है, जो राज्य विधानसभाओं की अविध को नियंत्रित करता है। यदि किसी राज्य विधानसभा को उसका कार्यकाल समाप्त होने से पहले भंग कर दिया जाता है, तो पिछली विधानसभा के शेष कार्यकाल के लिये चुनाव कराये जायेंगे।

अनुच्छेद-372 में संशोधन :

129 वाँ संविधान संशोधन विधेयक, 2024 के अनुसार, अनुच्छेद-372 में संशोधन प्रस्तावित है। जिसमें "निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन" के बाद एक साथ चुनाव कराने को शामिल किया जायेगा, जिससे राज्य विधान सभा चुनावों पर संसद की शक्ति का विस्तार होगा। इस विधेयक में स्थानीय निकायों एवं नगर पालिकाओं के चुनाव को शामिल नहीं किया गया है।

'केन्द्रशासित प्रदेश कानून संशोधन विधेयक, 2024':

इसका उद्देश्य संघ राज्य क्षेत्र शासन अधिनियम, 1962 की धारा-5, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली शासन अधिनियम, 1991 की धारा-5 तथा जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 की धारा 17 में संशोधन करना है, जिससे लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराये जा सकें।

चुनौतियाँ एवं समाधान

एक राष्ट्र, एक चुनाव के मार्ग में कुछ प्रमुख चुनौतियाँ निम्नलिखित हैं:-

- एक साथ लोकसभा एवं राज्यों के विधानसभा के चुनाव कराये जाने के मार्ग में तकनीकी बुनियादी ढाँचे की पर्याप्त उपलब्धता का अभाव एक प्रमुख चुनौती है। इसके लिये बुनियादी ढाँचे का समुचित विकास करना होगा।
- इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन एवं वोटर वेरिफाएबल पेपर ऑडिट ट्रायल्स का प्रभावी परिणियोजन एवं प्रबंधन भी एक चुनौती है। 2024 के लोकसभा चुनाव में 1.05 मिलियन मतदान केन्द्रों पर लगभग 1.7 मिलियन नियंत्रण एकक एवं 1.8 मिलियन वीवीपैट प्रणालियों का परिणियोजन किया



गया था। एक साथ चुनाव करने के लिये मतदान केन्द्रों एवं मशीनों की संख्या बढ़ानी होगी।

- हमारे देश में किसी भी संशोधन और एक साथ चुनाव क्रियान्वित करने की प्रक्रिया को न्यायिक चुनौतियों का भी सामना करना पड़ सकता है। संवैधानिक प्रावधानों के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिये न्यायिक जाँच की प्रक्रिया से भी गुजरना पड़ सकता है।
- हमारा देश क्षेत्रीय विविधताओं एवं असमानताओं से परिपूर्ण है। दोनों चुनाव एक साथ कराये जाने पर, चुनाव में एक तरफ सिर्फ राष्ट्रीय मुद्दे ही हावी रहेंगे एवं स्थानीय या क्षेत्रीय हितों तथा मुद्दों के गौण हो जाने की संभावना बनी रहेगी।
- विभिन्न राज्यों में एक साथ चुनाव आयोजित करने से विभिन्न चुनौतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें मतदाता सूचियों का प्रबंधन एवं सुरक्षा सुनिश्चित करना भी शामिल है।
- भारत के ग्रामीण, दुर्गम एवं सुदूर क्षेत्र के मतदाताओं को नई निर्वाचन प्रक्रिया और उसके प्रासंगिकता के बारे में जानकारी देना भी एक चुनौती होगा। इसके लिये व्यापक मतदाता शिक्षा अभियान चलाने की आवश्यकता होगी।
- मतदाता के सत्यापन एवं परिणामों के सारणीकरण एवं सरलीकरण समेत चुनावी प्रक्रिया की जटिलता बढ़ जायेगी। लेकिन, इस जटिलता को कुशल चुनाव प्रबंधन एवं प्रौद्योगिकी के उपयोग द्वारा आसान बनाया जा सकता है।
- एक साथ चुनाव कराने के लिये चुनाव अधिकारियों एवं कर्मचारियों के क्षमता निर्माण एवं प्रशिक्षण भी एक चुनौती होगा। सुचारु कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिये एक साथ चुनावों से जुड़ी नवीन प्रौद्योगिकियों और प्रक्रियाओं पर चुनाव अधिकारियों के लिये सुनियोजित रूप से प्रशिक्षण सत्र आयोजित करना होगा।

निष्कर्ष:—

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं वर्तमान समय में भारतीय संघ व्यवस्था में

किसी न किसी राज्य में हर छठे माह में कोई न कोई चुनाव आयोजित होता रहता है। इससे सरकार एवं प्रशासन का ध्यान चुनाव पर लग जाता है एवं जिससे विकास कार्यों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक अपंगता की स्थिति बन जाती है। निर्वाचन आयोग द्वारा चुनावों की घोषणा के साथ ही आदर्श आचार संहिता लागू हो जाती है। इससे केन्द्र, राज्यों और स्थानीय निकायों—सभी स्तरों पर प्रमुख नीतिगत निर्णयों में विलम्ब की स्थिति बन जाती है। राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण बार-बार होने वाला चुनाव भी है। इस तरह, एक देश एक चुनाव के बहुत सारे फायदे हैं। लेकिन, इसके राह इतने आसान नहीं हैं। इसके लिए भारतीय संविधान में संशोधन की आवश्यकता होगी। लेकिन, दोनों चुनाव एक साथ कराये जाने पर, चुनाव में एक तरफ सिर्फ राष्ट्रीय मुद्दे ही हावी रहेंगे एवं स्थानीय या क्षेत्रीय मुद्दे गौण हो जाने की संभावना बनी रहेगी। दूसरी तरफ, इससे चुनाव सुधार के अभियान को भी धक्का लगेगा।

पहले ऐसा लग रहा था कि यदि राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो जायेगा, तो क्या प्रावधान किया जायेगा? यदि किसी उम्मीदवार को न्यायालय द्वारा अयोग्य करार कर दिया जायेगा अथवा लोकसभा एवं राज्य विधानसभा के सदस्य की सदस्यता किसी कारण से समाप्त कर दी जायेगी तो, क्या प्रावधान किया जायेगा? इन सभी प्रश्नों का उत्तर खोजे बिना 'वन नेशन वन इलेक्शन' का प्रावधान लागू करना एक जल्दबाजी भरा कदम होगा। अब "एक राष्ट्र, एक चुनाव" संबंधी उच्च स्तरीय समिति ने अपनी सिफारिश सरकार को सौंप दी है एवं सरकार द्वारा संबंधित संविधान संशोधन विधेयक भी लोकसभा में पेश कर दिया गया है। अब संबंधित संविधान संशोधन विधेयक दोनों सदनों से पास होने का इंतजार है। अतः वह दिन दूर नहीं, जब हमारे देश में "एक राष्ट्र, एक चुनाव" का सपना साकार होगा। लेकिन, इसके साथ ही 'वन नेशन वन एड्रूकेशन', 'वन नेशन वन हेल्थ' आदि पर भी विचार किये जाने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदी, एस0एस0 (2006), "भारत का चुनाव : एक हंगामा", अनुपम प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 34
2. कुरैशी, एस0 वाई (2023), "इण्डियाज



- एक्सपेरिमेंट विद डेमोक्रेसी, हॉपल कॉलिंस पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ० 19
3. कुरैशी, एस० वाई (2014), "एन अनडॉक्यूमेन्ट वण्डर : द मेकिंग ऑफ ग्रेट इण्डियन इलेक्शन", रूपा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 11
 4. वहीं पर।
 5. मेंदीरत्ता, एस०एस० (2008), "राजनीति का अपराधीकरण", चुनाव आयोग, नई दिल्ली, पृ० 11
 6. कलिश, के० एच० (14 नवम्बर, 1989), 'कांग्रेस के सामने अस्तित्व संकट, राजस्थान पत्रिका, अंक-5, उदयपुर, पृ० 27
 7. चौधरी, एल० (2018), "भारत में चुनावी राजनीति एवं चुनाव सुधार के प्रयास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ० 35
 8. वहीं पर।
 9. सिंह, आर० एस० एवं करपटने, आर० के० (2008), "राजनीति शास्त्र: संविधान-एक जीवंत दस्तावेज", लूसेन्ट पब्लिकेशन, पटना, पृ० 280
 10. कुरैशी, एस० वाई (2023), "इण्डियाज एक्सपेरिमेंट विद डेमोक्रेसी, हॉपल कॉलिंस पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ० 21
 11. कुरैशी, एस० वाई (2023), "इण्डियाज एक्सपेरिमेंट विद डेमोक्रेसी, हॉपल कॉलिंस पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ० 22
 12. चौधरी, एल० (2018), "भारत में चुनावी राजनीति एवं चुनाव सुधार के प्रयास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ० 37
 13. हिन्दुस्तान (03 सितंबर, 2023), "एक राष्ट्र, एक चुनाव" के लिए उच्च स्तरीय समिति का गठन, समाचारपत्र, हिन्दुस्तान, पटना, , पृ० 01
 14. <https://www.pib.gov.in/PressReleaseIframePage.aspx?PRID=2014497®=3&lang=2> (accessed on 27 Dec, 2025)
 15. <https://www.drishtiias.com/hindi/daily-updates/daily-news-analysis/one-nation-one-election-the-constitution-129th-amendment-bill-2024> (accessed on 29 Dec, 2025)



मैत्रेयी पुष्पा और कही ईसुरीफाग एक अध्ययन



डॉ मीना कुमारी बरियार (अ.प्रा)

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

बी. डी कॉलेज

पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

डॉ० राजेन्द्र यादव ने मैत्रेयी पुष्पा के बारे में लिखा है मैत्रेयी ने सामाजिक और नैतिक रूप से उन हाशिए के लोगों की कहानियाँ कही हैं जिन्हें सम्य समाज किसी स्तर पर मान्यता नहीं देता। एक तरह से मैत्रेयी की सम्पूर्ण कथायात्रा स्त्री के सशक्तीकरण की कहानी है। जहाँ, वे अपने संबंधों और देह का चुनाव अपनी इच्छा से करती हैं। इसलिए प्रायः उसे ही स्त्री लेखन में, घुसपैटिए के रूप में देखा जाता है। जहाँ स्त्री लेखन की चर्चा होती है वहाँ आचार्य प्राचार्य लोग अगर-मगर लगाकर उसके लेखन पर बात करते हैं, पर उन लाखों पाठकों का वे क्या करें जो आकंद भाव से मैत्रेयी को पढ़ते ही नहीं हैं उसके लेखन में अपने आप को देखते हैं।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा एक ऐसी हस्ताक्षर हैं जो अपने उपन्यासों के द्वारा अस्मिता के लिए लड़ी जाने वाली स्त्रियों की सामूहिक लड़ाई को वैयक्तिक स्तर पर महसूस करते हुए निर्भीक एवं संकल्पबद्ध भाव से एक मंच प्रदान करती हैं। जिस मंच पर ग्रामीण और निम्नवर्गीय स्त्रियाँ अपने परिवार के दायरे में पिसती, टूटती, जूझती और उस दायरे को तोड़कर बाहर निकलती हैं। यह मैत्रेयी जी के उपन्यासों की सबसे बड़ी खासियत कहें या उपलब्धि है। इसी क्रम में उनका एक बहुचर्चित उपन्यास है – 'कही ईसुरीफाग' कहा जा सकता है कि यह उपन्यास ईसुरी और रजऊ (रज्जो) के प्रेम का संवेदनात्मक पुनर्पाठ है। एक अर्थ में है भी, पर यह जिस तरह अपने कथा काल में आता जाता, बार-बार अपने समय की खतरनाक चिन्ताओं से आ जुड़ता है, उससे यह अंदाज लगाना मुश्किल नहीं रह जाता कि लेखिका की आँखें चौतरफा खुली हुई हैं। भारत का पढ़ा-लिखा कथित साक्षर, सुशिक्षित, बुद्धिजीवी तबका विश्व बाजार के मुनाफाखोर दलाल, लोकतंत्र के लोकघाती पहलुओं, उनकी सामंत सड़ांत और उत्तर पूँजीवाद से उनके रहस्यपूर्ण रिश्तों की चर्चा भी यह उपन्यास करता है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास को उसकी कथा की जानी पहचानी सीमाओं से निकालकर लेखक और पाठक का संवाद मंच बना देने की उनकी यह कला

धर्म, राजनीति, विज्ञान और बाजार की भीतरी साँठ-गाँठ और अन्तःक्रियाओं को खोलती है। कहा जाता है कि उपन्यास और कुछ नहीं कई कहानियों का जोड़ होता है। कई कथावाचक भी हो सकते हैं। इस उपन्यास में इस शिल्प का भरपूर उपयोग किया गया है। ईसुरी और रजऊ की कहानी तो फागो (कविताओं) के मार्फत ही रची गयी है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही लेखिका ने स्पष्ट किया है—

“रामायण तुलसी कही, सूरदास ज्यों राग

ऐसे ही कलिकाल में कही ईसुरी फाग

उपन्यास का पहला फाग ईसुरी द्वारा सुनाया जाता है—

“मोरी खबर सारदा लड़े कंठ विराजी रड़े

मैं अपढ़ अच्छर नहीं जानूँ भूली कड़ी मिलइए’

अर्थात् हे सरस्वती मेरी खबर लेती रहना। मेरे कंठ में वास करना। मैं अनपढ़ हूँ अक्षर ज्ञान तक नहीं है। अगर भूल जाऊँ तो कड़ी मिला देना।

फाग (कविता) गाना तो बुंदेलखंड की परम्परा है अतरु लेखिका के इस उपन्यास में पूरी कथा जितनी फागों के द्वारा कही गई है उतनी ही दस्तावेजों और साक्ष्यों के द्वारा भी कही गई है। इस उपन्यास में इतिहास, लोकस्मृति और कल्पना ने मिलकर जो प्रवाहपूर्ण सहज शिल्प रचा है उससे पाठकों की चेतना अधिक समृद्ध हो सकी है और वे उस लोक की अपराजेयता और विराटता का अनुभव कर सके हैं जिसे नागर और अभिजन कहे जाने वालों के मिथ्या दंभों ने अपढ़ और गँवार समझ रखा था। यह उपन्यास इस लोक की छवि को लोक-कथाओं के ही जाने पहचाने अलंकृत किन्तु जीवंत सत्यों की भाषा में कहता है, जिससे न तो आँखें बचाई जा सकती हैं न ही मुकरा जा



सकता है।

“कही ईसुरीफाग” में स्त्रियों के समूह हैं जिनके अपने-अपने ईसुरी हैं। इनके स्त्री विरोधी परिवारों ने उन्हें घायल किया है। ईसुरी की फागों पर वे इसलिए रीझती हैं क्योंकि उनसे उनके हृदय की वे गाँठें खुलती हैं जिन्हें सामाजिक मर्यादा खोलने की अनुमति नहीं देता है। पति का प्रेम भी जिन्हें नहीं जगा पाता उन्हें “फागें” जगा देती हैं। विवाहिता गंगा बेड़िनी को फागों ने ही प्रेम में पागल किया और सबकुछ छोड़ने को मजबूर किया। उसने रजऊ में अपने को देखा। क्योंकि, रजऊ भी तो घर परिवार पति, सास सब कुछ त्याग कर भटक रही थी। रजऊ का ईसुरी प्रेम गंगा बेड़िनी का सहारा पाकर उदात्त बन गया। दोनों ही देशपत दीवान के साथ देश की आजादी के संघर्ष में गुरिल्ला लड़ाई में शामिल हो गयीं। यह वह दौर था जब रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध की तैयारी कर रहीं थीं। निःसंदेह मैत्रेयी जी की यह कृति इतिहास नहीं है यह तो एक आख्यान और वृत्तान्त है जिसकी जड़े बुंदेलखंड का जन संस्कार है। रजऊ इसी संस्कार का नवजागरण है। उपन्यास की दूसरी महिला पात्रों जैसे अनवरी बेगम, करिश्मा और बेड़िनियों की कहानियाँ रजऊ के ही तारतम्य हैं।

ईसुरी को प्रेम के अपराध में लोककवि नहीं वरन् लुकका – उचक्का नाम मिला था जो रजऊ के घरवालों ने उसके चरित्र को परिभाषित करते हुए दिया था। शास्त्रीय भाषा में ईसुरी शुद्ध लम्पट कवि हैं। अधिकांश फागें एक पुरुष के द्वारा स्त्री को दिए गए शारीरिक आमंत्रणों का उत्सवीकरण है। जिसमें शृंगार काव्य की कोई मर्यादा भी नहीं है। पूरे उपन्यास में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। लेकिन ईसुरी और रजऊ युवा प्रेम के बिम्ब बन जाते हैं—कम से कम बुंदेलखंड में। लेखिका ने तुलसीराम – मादुरी, ऋतु – माधव, गाईड सालिगराय, कटारे—सावित्री जैसे युगल चरित्रों के माध्यम से दिखाया है कि ईसुरी— रजऊ की कहानी आज भी जीवित है। उस कहानी के रूप बदल गये हैं, चरित्र बदल गये हैं, समय और परिस्थितियाँ बदल गई हैं पर उसका मूलरूप अब भी मौजूद।

लेखिका ने ईसुरी और रजऊ (रजऊ) तथा ऋतु और माधव के प्रेम—प्रसंग को चित्रित करते हुए स्वाधीनता से लेकर गुजरात कांड तक की घटना को समेटने की कोशिश की है। अतरु उपन्यास का फलक काफी विस्तृत हो गया है। माधव अपने पत्र में गुजरात

नरसंहार पर टिप्पणी करता है – “जो नवयुवक दरिंदों के रूप में हत्याएँ कर रहे थे, आग लगा रहे थे, बलात्कार कर रहे थे, पैसे के एवज में आए ये बिना जैसे पाए न कोई कार सेवक था न कोई धर्मान्धों का दुश्मन। धर्म पैसे का जरिया है और राजनीति पैसे का खजाना।” कोई कह सकता है कि प्रेम कहानी में यह राजनीति का प्रश्न कहाँ से आ गया? “दरअसल लेखिका ने रजऊ का 1857 ई० के संग्राम से और ऋतु का अपने समय की राजनीति से संबंध दिखाकर कथा को अर्थवत्ता प्रदान की है। रजऊ का पति प्रताप अंग्रेजी पलटन में है झाँसी की रानी के पलटन में नहीं— इस लांछन को धोने के लिए प्रताप कहता है—शबेवकूफ हैं यहाँ के लोग...झाँसी की रानी तो खुद ही घुटने टेकने वाली है। औरत जात की अकड़ कितनी देर की है? उसकी यही सोच रजऊ के संबंध में गाँव भर में फैली अफवाहों पर मुहर लगाती है और रिश्ते के बड़े भाई रामदास की नसीहत सच लगती है – अपने खूँटा की गाय और घर की जोरू पराए खेत में मुँह मारे तो मर्द की नाक – मूँछ का क्या मतलब’

मैत्रेयी जी ने इस उपन्यास में जिस प्रेमकथा को प्रस्तुत किया है उसका एक खास उद्देश्य है। वे स्त्री सशक्तीकरण की अपनी मुहिम पर ही कथानक को आगे बढ़ाती हैं। उनके पिछले उपन्यासों में भी लगातार स्त्री जाति को एक नये नजरिए से देखने का प्रयत्न रहा है। इस दृष्टि से भी यह उपन्यास स्त्री विमर्श का रूपक बन गया है।

कुछ कलावादियों को इस उपन्यास की साँस बीच-बीच में उखड़ती—सी प्रतीत होती है। फिर भी जीवन के यथार्थ की पकड़ कहीं भी ढीली नहीं पड़ती, न ही लोक कल्याणकारी सच धूमिल होता है। मैत्रेयी जैसी लेखिका तो इस लोककल्याण पर भी संदेह की ऊँगली रखती हुई यह कहे बगैर दम नहीं लेती कि मेरे मन में सत्य वह है जो मनुष्य के विकास में बदलाव के पक्षधर तत्व की भूमिका निभाती है। “कही ईसुरीफाग जैसा उपन्यास लेखिका के इस विचार की पुष्टि करता है कि इसे वे पुष्ट कर पायेंगे जिनके विचार शास्त्रीय चौहदियों में पंखहीन होकर नहीं रह गये हैं वरन् लोक की अनन्त संभावनाओं वाले आकाश में उड़ सकने का हौसला और दम रखते हैं।

निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि मैत्रेयी जी ने अपने इस उपन्यास में अपनी भाषा को परिवेश के



अनुसार रखते हुए भी जिस तल्लख, तेजाबी और बहस तलब गंभीर रूप में प्रयोग किया है उसने जीवन और समय की अभिजात संवेदनाओं की बेचौनियाँ बढ़ा दी थीं। लेकिन अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद पिछले दशक का एक महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ उपन्यास मैत्रेयी पुष्पा के नाम अंकित है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. मैत्रेयी पुष्पा, तथ्य और सत्य : संपादक दया दीक्षित, पृ. 54
2. मैत्रेयी पुष्पा, वही, पृ० 95
3. मैत्रेयी पुष्पा, कही ईसुरीफाग, पृ० 5
4. वही, पृ० 19
5. कही ईसुरीफाग, राजकमल प्रकाशन, पेपर बैक, पृ० – अंतिम
6. मैत्रेयी पुष्पा, कही ईसुरीफाग, पृ० 307
7. मैत्रेयी पुष्पा, तथ्य और सत्य, संपादक दया दीक्षित, पृ० 83
8. कही ईसुरीफाग—मैत्रेयी पुष्पा, पृ० 104
9. वही, पृ० 103
10. मैत्रेयी पुष्पा, तथ्य और सत्य, संपादक दया दीक्षित, पृ० 109





B.D. COLLEGE, PATNA

Mithapur, Patna- 80001

Phone : 06122209909, Email : principalbdcollegepatna@gmail.com